जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूँ- 341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

एम.ए. (उत्तरार्द्ध)

विषय : राजनीति विज्ञान

सप्तम पत्र :

आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन

Expert Committee

Sr.No.	Name	Designation	Organization
1.	**Prof. K.S. Saxena**	Retd. Professor	Rajasthan University, Jaipur
2.	**Prof. Kanta Katariya**	Professor	Jai Narayan Vyas University, Jodhpur
3.	**Dr. Rajesh Sharma**	Associate Professor	Rajasthan University, Jaipur
4.	**Prof. Anil Dhar**	Professor	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun
5.	**Dr. Jugal Kishore Dadhich**	Associate Professor	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun
6.	**Prof. A.P. Tripathi**	Professor,	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun

ISBN No. 978-93-83634-50-7

लेखक

डॉ. मुख्त्यार अली

सहायक क्षेत्रीय निदेशक

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (इग्नू)

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

नवीन संस्करण : 2019

मुद्रित प्रतियां : 140

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूं - 341306 (राजस्थान)

मुद्रक :

M/s ADITYA PRINTERS & STATIONERS, JAIPUR

इकाई–1

- भारत में पूर्व–आधुनिक सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक चिंतन : विभिन्न दृष्टिकोण
  (Pre-Modern Socio-Religious and Political Thought: Various vies Points)
- पाच्यविद् कथन (आरम्भिक चिंतन) और औपनिवेशिक आधुनिकता
  (Ancient Thought and Colonial Modernity)
- आधुनिक भारत में राजनीतिक विचारधारा की प्रमुख विशेषताएं : दयानन्द सरस्वती और ज्योतिबा फूले
  (Characteristics of Political Ideology in Modern India: Dayanand Saraswati Jyotiba Phule)

इकाई–2

- नरमपंथी और उग्रपंथी : दादाभाई नौरोजी, एम.जी. रानाडे और बाल गंगाधर तिलक
  (Liberals and Extremists: Dadabhai Nauroji, M.G.Ranadey and Bal Gangadhar Tilak)
- हिन्दू धर्म : स्वामी विवेकानन्द और श्री अरविन्द घोष
  (Hindu Religion: Swami Vivekananda and Shri Aurbindo Ghosh)
- हिन्दुत्व : बी.डी. सावरकर और एम.एस.गोलवलकर
  (Hinduism : V.D.Savarkar and M.S. Golvalkar

इकाई–3

- मुस्लिम चिंतन : सर सैयद अहमद खान, मौहम्मद इकबाल, मौलाना मौदुदी और मौहम्मद अली जिन्ना
  (Sir Sayyed Ahmad Khan, Mohammad Eqbal, Maulana Mauddi and Mahammad Ali Jinnah)
- राष्ट्र और पहचान सम्बन्धी मुददे : ई.वी. रामास्वामी नायकर, नायकर, नजरूल इस्लाम, पंडिता रामबाई, जयपाल सिंह, काहन सिंह
  (Nation and Identity Issues : E.V.Ramaswami Naiakar : Najrul Islam, Pandita Ramabai, Jaipal Singh, Kahan Singh)

इकाई–4

- मोहनदास करमचन्द गांधी (Mohandas Karamchand Gandhi)
- जवाहरलाल नेहरू (Jawaharlal Nehru)
- बी.आर.अम्बेडकर (B.R. Ambedkar)

इकाई–5

- रवीन्द्रनाथ टैगोर (Rabindranath Tagore)
- साम्यवादी विचारधारा : एम.एन.राय और ई.एम.एस. नम्बूदरिपाद
  (Bolshevic Ideology : M.N.Roy and E.M.S. Nambudripad)
- समाजवादी विचारधारा : राम मनोहर लोहिया और जयप्रकाश नारायण
  (Socioalistic Ideology : Ram Manohar Lohia and Jaiprakash Narain)

विषय सूची

अध्याय संख्या	शीर्षक	पृष्ठ संख्या
1.	भारत में पूर्व– आधुनिक सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक चिन्तनः विभिन्न दृष्टिकोण	1-41
2.	पाच्यविद कथन (आरम्भिक चिंतन) और औपनिवेशिक आधुनिकता	42-53
3.	आधुनिक भारत में राजनीतिक विचारधारा की प्रमुख विशेषताएं	54-59
4.	दयानन्द सरस्वती	60-68
5.	ज्योतिबा फूले	69-72
6.	नरमपंथी और उग्रपंथी विचारधारा का महत्व व योगदान	73-80
7.	दादा भाई नौरोजी	81-85
8.	एम जी रानाडे	86-91
9.	बालगंगाधर तिलक	92-99
10.	स्वामी विवेकानन्द	100-105
11.	अरविन्द घोष	106-111
12.	हिन्दूत्व–बी डी सावरकर और एम एस गोलवकर	112-122
13.	मुस्लिम चिन्तन–सर सैयद अहमद खान, मोहम्मद इकबाल, मौलाना मौदुदी और मोहम्मद अली जिन्ना	123-140
14.	राष्ट्र और पहचान संबंधी मुद्दे :– ई.वी. रामास्वामी नायकर, नजरूल इस्लाम, पंडित रमा बाई, जयपाल सिंह, काहन सिंह	141-150
15.	मोहन दास करमचंद गांधी	151-161
16.	जवाहर लाल नेहरू	162-171
17.	डॉ.भीमराव अम्बेडकर	172-179
18.	रविन्द्रनाथ टैगौर	180-188
19.	साम्यवादी विचारधारा एम एन राय और नम्बूदरिपाद	189-201
20.	डॉ. राम मनोहर लोहिया	202-208
21.	जय प्रकाश नारायण	209-218

अध्याय-01

भारत में पूर्व आधुनिक सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक चिन्तन: विभिन्न दृष्टिकोण

संरचना

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1. वर्ण व्यवस्था
2. आश्रम व्यवस्था
3. राज व्यवस्था

1.3 प्राचीन विचारक के रूप में मनु

1.4 जीवन परिचय

1.5 राज्य का सप्तांग सिद्धान्त

1.5.1 स्वामी (राजा)
1.5.2 अमात्य (मंत्री)
1.5.3 पुर
1.5.4 जनपद (राज्य)
1.5.5 कोष
1.5.6 दण्ड
1.5.7 मित्र

1.6 राज्य संबंधी विचार

1.6.1 राजा की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धान्त
1.6.2 राजा के आवश्यक गुण
1.6.3 राजा के कर्त्तव्य
1.6.4 क्या मनु का राजा निरंकुश है?
1.6.4.1 धर्म का नियंत्रण
1.6.4.2 संस्थागत नियंत्रण
1.6.4.3 राजा के लिए दण्डविधान
1.6.4.4 राजा के व्यक्तिगत गुण और दिनचर्या

1.7 मंत्रिपरिषद्

1.7.1 मंत्रियों की संख्या
1.7.2 मंत्रियों की योग्यताएँ
1.7.3 मंत्रिपरिषद् की कार्यप्रणाली

1.8 प्रशासनिक व्यवस्था

1.9 दण्ड व्यवस्था

1.10 कानून व न्याय व्यवस्था

1.10.1 न्यायालयों का गठन
1.10.2 न्यायाधीशों की योग्यताएँ

1.11 राजकोष और अर्थव्यवस्था संबंधी विचार

1.11.1 मनु का राजनीतिक अर्थशास्त्र
1.11.2 कर सिद्धान्त

1.11.2.1 प्रजा रक्षण का सिद्धान्त
1.11.2.2 लाभ पर कर का सिद्धान्त
1.11.2.3 राष्ट्रीय योजना का सिद्धान्त
1.11.2.4 व्यथा मुक्ति का सिद्धान्त
1.11.2.5 अधिक कर का निषेध सिद्धान्त

1.12 परराष्ट्र नीति

1.12.1 मण्डल सिद्धान्त
1.12.2 षाडगुण्य नीति
1.12.2.1 सन्धि
1.12.2.2 विग्रह (युद्ध)
1.12.2.3 दान
1.12.2.4 आसन
1.12.2.5 द्वेधी भाव
1.12.2.6 संश्रय

1.13 मनु का समाज दर्शन

1.13.1 वर्ण व्यवस्था
1.13.1.1 ब्राह्मण
1.13.1.2 क्षत्रिय
1.13.1.3 वैश्य
1.13.1.4 शुद्र
1.13.2 आश्रम व्यवस्था
1.13.2.1 ब्रह्मर्याश्रम
1.13.2.2 ग्रहस्थाश्रम
1.13.2.3 वानप्रस्थाश्रम
1.13.2.4 सन्यासश्रम

1.14 सारांश

राजनीतिक विचारों के इतिहास में कौटिल्य

1.15 प्रस्तावना

1.16 राज्य के सप्तांग सिद्धान्त

1.16.1 राजा
1.16.2 अमात्य
1.16.3 जनपद
1.16.4 दुर्ग
1.16.5 कोष
1.16.6 सेना या दण्ड
1.16.7 मित्र

1.17 राजा (स्वामी)

1.17.1 राजा की उत्पत्ति
1.17.2 राजा के गुण
1.17.3 राजा की शिक्षा
1.17.4 राजा की दिनचर्या
1.17.5 राजा के कार्य तथा शक्तियाँ
1.17.5.1 प्रजा का कल्याण
1.17.5.2 वर्णाश्रम धर्म को बनाए रखना
1.17.5.3 शांति और व्यवस्था बनाए रखना
1.17.5.4 नियुक्ति करना

1.17.5.5 विधि–निर्माण कार्य
1.17.5.6 न्यायिक कार्य
1.17.5.7 दण्ड की व्यवस्था
1.17.5.8 आर्थिक कार्य
1.17.5.9 आय–व्यय संबंधी कार्य
1.17.5.10 लोक कल्याण संबंधी कार्य
1.17.5.11 युद्ध करना
1.17.6 क्या कौटिल्य का राजा निरंकुश है?
1.17.6.1 शिक्षा
1.17.6.2 कठोर दिनचर्या
1.17.6.3 प्रजा का सुख ही राजा का सुख
1.17.6.4 प्रजा के हाथ में वित्तीय अधिकार
1.17.6.5 स्थानीय संस्थाएँ
1.17.6.6 धार्मिक नियम एवं रीति–रिवाज
1.17.6.7 ब्राह्मण और पुरोहित
1.17.6.8 मंत्रिपरिषद का नियन्त्रण
1.17.6.9 न्यायिक दण्ड
1.17.6.10 सत्य, न्याय और धर्म
1.17.6.11जनमत

1.18 मण्डल सिद्धान्त

1.18.1 बारह राज्यों का वृत
1.18.1.1 विजिगीषु
1.18.1.2 अरि
1.18.1.3 मित्र
1.18.1.4 अरिमित्र
1.18.1.5 मित्र–मित्र
1.18.1.6 अरिमित्र–मित्र
1.18.1.7 पार्ष्णिग्रह
1.18.1.8 आक्रांद
1.18.1.9 पार्ष्णिग्राहासर
1.18.1.10आक्रंदासार
1.18.1.11मध्यम
1.18.1.12उदासीन
1.18.2 **मण्डल सिद्धान्त का विश्लेषण**
1.18.3 मण्डल सिद्धान्त एवं वर्तमान अन्तरराष्ट्रीय राजनीति
1.18.4 मण्डल सिद्धान्त का मूल्यांकन
1.18.4.1 भौगोलिक दृष्टि से महत्व समाप्त
1.18.4.2 पड़ौसी देश, एक–दूसरे का शत्रु नहीं
1.18.4.3 केवल सीमा के आधार पर संबंधों का निर्धारण नहीं
1.18.4.4 विजिगुषी राज्य का कोई स्थान नहीं
1.18.4.5 स्थाई शत्रु या मित्र की धारणा गलत
1.18.5 मण्डल सिद्धान्त का महत्व
➢ निष्कर्ष

1.19 षाडगुण्य नीति

1.19.1 षाडगुण्य नीति की परिभाषा
1.19.2 षाडगुण्य नीति का प्रयोग

1.19.2.1 संधि
1.19.2.2 विग्रह या युद्ध
1.19.2.3 यान
1.19.2.4 आसन या तटस्थता
1.19.2.5 संश्रय
1.19.2.6 द्वैधीभाव

1.20 शांति–स्थापना की अन्तरराज्यीय नीति के उपाय

1.20.1 साम
1.20.2 दाम
1.20.3 दण्ड
1.20.4 भेद

1.21 गुप्तचर–व्यवस्था

1.21.1 गुप्तचरों का वर्गीकरण
1.21.1.1 स्थायी या संस्था गुप्तचर
1.21.1.2 भ्रमणशील गुप्तचर
1.21.2 गुप्तचरों के कार्य
➢ निष्कर्ष

1.22 कौटिल्य के धार्मिक विचार

1.22.1 धर्म का अर्थ
1.22.2 धर्म का प्रयोग
1.22.2.1 सामाजिक कर्त्तव्य के रूप में
1.22.2.2 नैतिक कानून के रूप में
1.22.2.3 नागरिक कानून के रूप में
1.22.3 धर्म तथा राजनीति
1.22.3.1 आन्तरिक नीति
1.22.3.2 विदेश नीति
1.22.3.3 देवताओं को राज्य संरक्षण
1.22.4 राजनीति धर्म से श्रेष्ठ
1.22.4.1 राजाज्ञा धर्म से श्रेष्ठ
1.22.4.2 उच्च पदाधिकारियों को राजा के प्रति भक्तिभाव, धर्म के प्रति नहीं
1.22.4.3 धार्मिक संस्था पर राज्य का नियंत्रण

1.23 कौटिल्य तथा मैकियावेली

1.23.1 कौटिल्य तथा मैकियावेली के विचारों में समानताएँ
1.23.1.1 राजतंत्र का समर्थन
1.23.1.2 राजा सम्प्रभु
1.23.1.3 राज्य की एकता पर बल
1.23.1.4 राज्य का विस्तार
1.23.1.5 युद्ध आवश्यक
1.23.1.6 ऐतिहासिक उदाहरण
1.23.1.7 राजनीतिक पद
1.23.1.8 दृढ़राष्ट्रवादी
1.23.1.9 व्यावहारिक राजनीति
1.23.1.10 पड़ौसी राज्य शत्रु होता है
1.23.1.11 मानव स्वभाव
1.23.1.12 शांति एवं सुरक्षा शक्ति द्वारा स्थापित

1.23.1.13 दूसरे राज्य की सहायता नहीं
1.23.1.14 खर्च
1.23.1.15 विदेशी राज्य पर आधिपत्य
1.23.1.16 गुप्तचर–व्यवस्था
1.23.1.17 धर्म का उपयोग
1.23.2 कौटिल्य तथा मैकियावेली के विचारों में असमानताएँ
1.23.2.1 कौटिल्य का व्यक्तित्व
1.23.2.2 ग्रन्थ की रचना
1.23.2.3 अर्थशास्त्र एवं प्रिंस
1.23.2.4 कौटिल्य का प्रभाव
1.23.2.5 धर्म का आदर
1.23.2.6 मानव स्वभाव
1.23.2.7 राजतंत्र
1.23.2.8 राजदर्शन का उद्देश्य
1.23.2.9 राजा
1.23.2.10 कौटिल्य पूर्ण अनैतिक नहीं
1.23.2.11 ऐतिहासिक उदाहरण नहीं
1.23.2.12 कौटिल्य परम्परावादी
1.23.2.13 न्याय, कानून और दण्ड
1.23.2.14 वित्त और शासन
1.23.2.15 युद्ध और कूटनीति
1.23.2.16 राजदूत
1.23.2.17 विदेश नीति

1.24 राजनीतिक विचारधारा के इतिहास में कौटिल्य का महत्व व देन

- पृष्ठभूमि

1.24.1 अर्थशास्त्र, सभी विचारों का सार
1.24.2 राजनीति का स्वतन्त्र अध्ययन
1.24.3 राजनीतिक विचारों का व्यावहारिक रूप
1.24.4 सप्तांग सिद्धान्त
1.24.5 राज्य के कार्य
1.24.6 राजा
1.24.7 मंत्रिपरिषद्
1.24.8 प्रशासनिक व्यवस्था
1.24.9 कानून
1.24.10 न्याय
1.24.11 दण्ड–व्यवस्था
1.24.12 गुप्तचर–व्यवस्था
1.24.13 राजदूत–व्यवस्था
1.24.14 मंडल–सिद्धान्त
1.24.15 षाडगुण्य नीति
1.24.16 सामाजिक विचार
1.24.17 आर्थिक विचार
1.24.18 धार्मिक विचार

1.25 सारांश

1.25 अभ्यास प्रश्नावली

1.1 उद्देश्यः–

इस अध्याय में आप यह पाएंगे कि प्राचीन भारतीय चिन्तन का कितना महत्व रहा है और वर्तमान में इस चिन्तन की कितनी प्रासंगिकता है। इसके निम्नलिखित उद्देश्य है–

- प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों के विचारों को जानना
- भारतीय राजनीतिक चिन्तन की विभिन्न आयामों व दृष्टिकोणों का अध्ययन करना
- भारतीय राजनीतिक चिन्तन के योगदान व उसके प्रभाव को समझना
- प्राचीन राजनीतिक विचारकों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन
- पूर्व आधुनिक विचारक किस प्रकार हमारी आधुनिक सामाजिक व राजनीतिक विचारधाराओं को प्रभावित कर रहे हैं, उसका विस्तृत अध्ययन करना।

1.2 प्रस्तावना :–

किसी भी समाज व राष्ट्र की पहचान उसके सामाजिक धार्मिक व राजनीतिक चिन्तन से की जाती है। यही कारण है कि प्रत्येक समाज व राष्ट्र में पर्याप्त चिन्तन देखने को मिलता है। मानव सभ्यता व संस्कृति के विकास के साथ इनका विकास हुआ है। ये विकास परिवर्तन का प्रतीक है जिसमें समय–समय पर बदलाव देखने को मिलता है और यह बदलाव समय की मांग होती है। सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक चिन्तन किसी भी सभ्य व सुसंस्कृत समाज की धरोहर होती है जिसके आधार पर उसके अतीत, वर्तमान व भविष्य का आंकलन किया जा सकता है। भारतीय सभ्यता को विश्व की प्राचीनतम व श्रेष्ठ सभ्यताओं में से एक माना जाता है। जिसकी देन आज की सम्पूर्ण विश्व का मार्गदर्शन कर रही है। इतिहास इसका साक्षी है कि विश्व में अपनी–अपनी सभ्यता व संस्कृति की श्रेष्ठा के लिए संघर्ष व टकराव हुआ और एक दूसरे की सभ्यता व संस्कृति को तहस नहस करने की भी कोशिशे हुई परन्तु इस संघर्ष में वही अपना अस्तित्व बनाये रख पायी जिसकी बुनियाद मजबूत थी तथा जिसके आधार मानवीय मूल्य, शांति, सहिष्णुता व सदाचार हो। भारतीय सभ्यता व संस्कृति पर भी बहुत हमले हुए और प्रत्येक आक्रमणकारी के पहले निशाने पर हमारी सभ्यता संस्कृति रही परन्तु जिसकी बुनियाद मजबूत हो तो उसका कोई कुछ नहीं कर सकता इसलिए महाकवि अल्लामा इकबाल ने लिखा हैः–

"यूनान मिस्त्र रोमा सब मीट गए जहाँ से"
बाकी अब तलक है नामो निशां हमारा
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी
सदियों रहा दुश्मन दौरो जहाँ हमारा।"

भारतीय समाज, धर्म चिन्तन व दर्शन सदैव ऐसा रहा है जिसने विश्व के प्रत्येक मानव को गले लगाया जो इस मूलमंत्र में विश्वास करता है। मानवता सबसे बड़ा धर्म है और सारा विश्व एक परिवार के समान है अर्थात "वसुदैव कुटुम्बकम" के सिद्धान्त में आस्था रखता है। इस प्रकार सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक चिन्तन समाज के मूल्यों, सामाजिक ढांचे, रिश्ते, नातेदारी तथा दायित्वों इत्यादि से अवगत करवाना है। धार्मिक चिन्तन हमें आध्यात्मिकता, जीवन दर्शन, आस्था, धार्मिक क्रियाकलापों व धारण करने योग्य उन मापदण्डो से जोड़ता है जो हमारे जीवन की सार्थकता को पूर्ण करती है। वहीं, राजनीति चिन्तन राज्य की गतिविधियां न्याय,सुरक्षा, दण्ड विधान व अन्य समस्त गतिविधियों का नियमन व सशक्त व सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण। ये वे धाराऐं है जिनमें से किसी एक के बिना समाज व राष्ट्र का निर्माण नहीं किया जा सकता। चिन्तन वह माध्यम है जो समय–समय पर व्यवस्थाओं में निहित कमियों को दूर करता है।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन को समझने के लिए उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की व्यापक जानकारी प्राप्त करना जरूरी है। जिसमें मध्यकालीन राजव्यवस्था से आधुनिक समाज व राज व्यवस्था का उदय हुआ। प्राचीन भारतीय चिन्तन व दर्शन की विश्व में अमिट छाप है। जिस तरह पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के प्रमुख चिन्तक के रूप में प्लेटो व अरस्तु माने जाते है। जिस में से अरस्तु को राजनीति विज्ञान का जनक व उनकी ग्रंथ "पोलिटिक्स" को राजव्यवस्था का बुनियादी सिद्धान्त देने वाला माना जाता है। उसी तरह हमारी प्राचीन व मध्यकालीन ग्रन्थों को राजव्यवस्था की नींव रखने वाला माना जाता है। राजतंत्र, गणतंत्र, मंत्रिपरिषद, लोक कल्याणकारी राज्य, कूटनीति, गुप्तचर व्यवस्था इत्यादि का उल्लेख इन ग्रंथों में स्पष्ट रूप से किया गया

है। इस तरह ये ग्रंथ इस बात को सिद्ध करते है कि राज्य, समाज व शासन परस्पर जुड़े हुए है। जहाँ समाज एक सामाजिक इकाई है जो हमें सामाजिक मूल्यों, व्यवस्थाओं, रिश्तों, परिवार, विवाह, रीति रिवाज इत्यादि से अवगत करवाता है। राज्य एक राजनीति इकाई है जो सर्वोच्च व सम्प्रभु है जो आन्तरिक व बाहरी सुरक्षा, न्याय, विधि प्रशासनिक ढांचा इत्यादि से संबंधित है वही शासन वो इकाई है। जो समाज व राज्य की गतिविधियों को व्यवहारिक रूप देने का कार्य करता है।

मानव अपने जीवन के प्रारम्भिक दौर में नातेदारी संबंधों के आधार पर छोटे–छोटे समूहों में रहता था और यह समूह उनकी तमाम आवश्यकताओं की पूर्ति कर देते थे परन्तु जनसंख्या विकास ने मानव के जीवन को जटिल बना दिया विभिन्न समुदायों में

वर्चस्व के लिए संघर्ष शुरू हो गया तब लोगों को एक ऐसे संरक्षक की आवश्यकता महसूस हुई जो उनको संरक्षण दे सके। इस तरह शासक का उदय हुआ। लोगों के समूहों के एक साथ आने से समाज अस्तित्व में आया। उसके पश्चात मनुष्य अपने सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक व आर्थिक जीवन को व्यवस्थित बनाने के लिए अथक प्रयास करने लगा और इसमें परिवार स्वरूप भारत में वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था व राज व्यवस्था का प्रार्दुभाव हुआ।

I. वर्ण व्यवस्था :–इसमें कर्म के आधार पर व्यक्ति के गुणों व कार्यो को ध्यान में रखते हुए चार वर्ण बनाए गए:–

1. ब्राह्मण– ये वे थे जिनके पास शिक्षा व धर्म का कार्य था।
2. क्षत्रिय– जिनके पास शासन व सुरक्षा का जिम्मा था।
3. वैश्य– जिनका संबंध व्यापार व उत्पादन से था।
4. शुद्र– जो इन सबकी सेवा के साथ जुड़े थे।

इस व्यवस्था पर मनु द्वारा "मनुस्मृति" व कौटिल्य के द्वारा अपनी "अर्थशास्त्र" में विस्तारपूर्वक उल्लेख करते हुए इसे भारतीय सामाजिक जीवन का आधार बताया है। जिनके ऊपर सम्पूर्ण समाज का विकास जुड़ा हुआ है। इस प्रकार प्राचीन या वैदिक काल से समाज को व्यवस्थित बनाने की मुहिम शुरू हो गई थी।

II. आश्रम व्यवस्था :–इसमे व्यक्ति केन्द्रित व्यवस्था पर बल दिया गया। जिसमें एक मनुष्य के जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया और प्रत्येक भाग के दायित्व व की जाने वाली गतिविधियों का उल्लेख किया गया।

1. ब्रह्मचार्य – शिक्षा प्राप्त करना।
2. गृहस्थ – विवाह व परिवार के साथ जीवन जीना।
3. वानप्रस्थ– परिवार के मोह माया से अपने को अलग रखना।
4. सन्यास– जन्म–मरण के बंधन से मुक्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के मार्ग पर प्रशस्त होना।

III राज व्यवस्था :–प्राचीन काल से ही भारतीय राज व्यवस्था राजतंत्र पर आधारित रही है जिसमें जन–कल्याण की भावना को सदैव तरजीह दी गई है अर्थात् राम राज्य की कल्पना की जाती थी जिसमें राजा व प्रजा के बीच सदैव पिता–पुत्र जैसा संबंध होता था और जनकल्याण को महत्व दिया जाता था। राजा हर सुख दुख की घड़ी में प्रजा के साथ रहता था। और प्रजा भी राजा के प्रत्येक आदेश को पूरी निष्ठा व समर्पण के साथ मानती थी। जिसे मानना वे अपना परम दायित्व समझती थी। इस तरह प्राचीन काल से ही भारतीय सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक दर्शन की नींव पड़ गई थी जिसका न केवल भारत तक प्रभाव रखा अपितु विश्व के अनेकों राष्ट्रों व विचारकों ने अपनाया।

मध्यकालीन दौर का भारत के लिए महत्वपूर्ण रहा जिसमें विदेशी आक्रमणकारियों से न केवल मुकाबला किया बल्कि अपनी प्राचीन विरासत को बचाने की एक बड़ी चुनौती भी। गौरी, गजनवी व मुगल शासन इस दौर में रहा परन्तु इस समय हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक व ऐतिहासिक धरोहर को मजबूती मिली। यह एक ऐसा दौर था जब हमारी प्राचीन व्यवस्थाओं में अनेक कुरीतियों हावी गई थी जैसे वर्णव्यवस्था कर्मप्रधान न रहकर जन्म प्रधान बन गई थी जिसके परिणामस्वरूप समाज में जाति बंधन हावी हो गए थे और समाज व राज्यों में विखण्डन का दौर शुरू हो गया था। जिसका फायदा विदेशी आक्रमणकारियों ने उठाया परन्तु इस दौर में शीर्ष स्तर पर अर्न्तर धार्मिक विवाह हुए जो इस बात का प्रतीक बने कि भारतीय संस्कृति कितनी महान है कि वह अन्य धर्मों को भी स्वीकार कर सकती है। सुफी संतों की बदौलत भारत में इस्लाम धर्म को फलने फूलने का अवसर मिला।

ख्वाजा गरीब नवाज, निजामुद्दीन औलिया, बाबा फरीद, अमीर खुसरो जिनसे भारत में एक ऐसे सामाजिक आभा मण्डल बना जो गंगा–जमनी तहजीब के रूप में जानी गई।

यूरोपियन जातियों के आक्रमण के पश्चात से ही भारत में आधुनिक सामाजिक व राजनीतिक चिन्तन की बुनियाद रख दी गई। अंग्रेजी आधिपत्य को केवल हमारे राजनीतिक रूप से ही प्रभावित नहीं किया अपितु धार्मिक व सामाजिक रूप से भी हम पर आक्रमण शुरू किए। राजनीतिक रूप से तो हम गुलाम बन गए । ये सामाजिक रूप से समाज को व्यवस्थित रखने वाली व्यवस्था समाज के लिए नासूर बन चुकी थी। समाज में जातिबंधन, भेदभाव, महिला शोषण, पर्दा प्रथा, बालिका वध, छुआछुत जैसी बुराईयां हावी हो गई। जिन्होनें हमारे समाज को झकझोर कर रख दिया था। धार्मिक रूप से सरकार के संरक्षण में इसाई धर्म अपने पाँव पसार रहा था। समस्त भारत में चिन्तक के रूप में राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, गोपाल कृष्ण गौखले, बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, नेहरू व अम्बेडकर जैसे चिन्तकों का उदय हुआ। जिन्होंने अपने विचारों के माध्यम से भारत में फैले अंधकार में प्रकाश की किरण को प्रज्जवलित किया।

आधुनिक भारतीय सामाजिक व राजनीतिक चिन्तन को जानने से पहले प्राचीन भारतीय चिन्तन को जानना जरूरी है जिसमें से मनु, कौटिल्य, भगवान महावीर जैसे विचारकों का चिन्तन आज भी हमारा मार्गदर्शन करता है और इनकी जो देन भारत व विश्व को है उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। इसलिए यह जरूरी है कि हम सर्वप्रथम इन चिन्तकों के विचारों को जाने। जिससे भारतीय राजनीतिक का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

1.3 प्राचीन विचारक के रूप में मनुः–

प्राचीन भारतीय राजनीतिक–चिन्तन पाश्चात्य राजनीतिक–चिन्तन से पहले का है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन ने जो विचार प्रस्तुत किये, वे राजनीति शास्त्र के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिनसे इस विषय को नवीन दिशा मिली। भारत में राजतंत्रीय और गणतंत्रीय शासन प्रणालियाँ प्राचीन यूनानी नगर–राज्यों की शासन–प्रणालियों से भी पहले विकसित थी और भारतीय राजनीतिक मनीषियों ने प्राचीन यूनान के महान राजनीतिक, दार्शनिकों–सुकरात, प्लेटो व अरस्तु से पहले राज्य शास्त्र और शासनकला पर विचार प्रस्तुत कर दिये थे। प्राचीन भारतीय राजनीतिक विद्वानों में मनु, कौटिल्य और भगवान महावीर शुक्र का नाम उल्लेखनीय है।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारक मनु को "मानव धर्मशास्त्र" अर्थात् मनु स्मृति से प्रसिद्धि मिली। सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक एवं धार्मिक विचारों को प्रकट कर एक संगठित समाज की स्थापना पर बल दिया । मित्र दुबे के शब्दों में –"मनु की राज्य–व्यवस्था की वास्तविक कसौटी धर्म ही है।"

मनु ने मानव के सम्पूर्ण जीवन की व्यवस्था की परिकल्पना की है। उन्होंने मानव के सामाजिक जीवन के उन सिद्धान्तों का विवेचन किया है, जिन्हें सभी कालों और देशों में लागू किया जा सकता है। इस दृष्टि से उनके विचारों का महत्व सर्वव्यापी है। मनुस्मृति हिन्दू शासन पद्धति के सिद्धान्तों के सबसे महत्वपूर्ण लोगों में एक थे। जिनका संबंध जीवन के सम्पूर्ण पहलुओं से है जिसमें प्रत्येक विषय के बारे में नियम का उल्लेख किया गया है। क्षत्रीयों के कर्तव्यों के वर्णन में मनु ने प्रशासनिक कार्यों की विवेचना की है। मनु के वर्णाश्रम धर्म की अनुपालना पर बल दिया। मनुस्मृति का हिन्दू कानून पर सबसे प्राचीन ज्ञान ग्रन्थ माना जाता है। मनु का वर्णन प्राचीन राजाओं में प्रथम और महानतम राजा के रूप में भी किया जाता है।

1.4 जीवन परिचय

मनु के जीवन और काल को लेकर अनेक मतभेद पाये जाते है। मुन कौन थे? और क्या थे? इसको लेकर विभिन्न विचारकों ने अपनी–अपनी अलग राय दी है। पौराणिक कथाओं में मनु को मानव जाति का जनक और प्रथम विधिवेता माना जाता है। उनके बारे में यह भी धारणा प्रचलित है कि जब सम्पूर्ण सृष्टि जलमग्न हो गई थी तब मनु और उनकी पत्नी शतरूपा ही बची थी। तत्पश्चात् उन्होंने एक संगठित समाज के निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया, जिसके संबंध में विचार "मनुस्मृति" में सन्निहित है।

मनु के युग के संबंध में भी मतदभेद है किन्तु भारतीय साहित्य में मनु के शासन की एकमत से आदर्श शासन माना जाता है। कालिदास अपने "रधुवंशी राजा मनु द्वारा बताई गयी पद्धति के अनुसार शासन किया करते थे और उसमें इंच मात्र भी इधर–उधर नहीं होते थे।

1.5 राज्य का सप्तांग सिद्धान्त

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में राज्य के संबंध में अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, जो वर्तमान राजनीतिविज्ञान की आधारशिला है। इनमें से सप्तांग भी एक प्रमुख सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त

के अनुसार राज्य की सात प्रकृतियाँ होती है, जो राज्य का निर्धारण करती है। सभी प्रकृतियों का अपना एक विशेष महत्व होता है और ये प्रकृतियां एक–दूसरे

के साथ मानव शरीर के विभिन्न अंगो के समान जुड़ी हुई होती है। मनुस्मृति में भी राज्य के सप्तांग सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है, जो निम्नलिखित हैः–

1.5.1 स्वामी (राजा)

मनु राजा के लिए स्वामी शब्द का प्रयोग करता है। स्वामी से आशय है कि राज्य की समस्त शक्ति उसमें निवास करेगी और वहीं वास्तविक प्रयोगकर्ता होगा अर्थात् राजा ही सम्प्रभु होगा। उसके अनुसार राजा के बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। राजा राज्य की एकता, अखण्डता एवं सम्प्रभुता का प्रतीक होता हैं। लेकिन मनु का मानना है कि राजा को प्रशासनिक क्षमता, दायित्व के प्रति अटूट निष्ठा तथा नैतिक गुणों से युक्त होना चाहिए।

1.5.2 अमात्य (मंत्री)

मनु का विचार है कि कुशल मंत्रियों के बिना राज्य का कार्य नहीं चलाया जा सकता। अतः राजा के द्वारा सुयोग्य मंत्रियों के परामर्श प्राप्त करते हुए राज्य के कार्य किये जाने चाहिए। मनु ने मंत्रियों के लिए आवश्यक गुणों और योग्यताओं का पर्याप्त विस्तार से उल्लेख किया है।

1.5.3 पुर

पुर का अर्थ है– "किला, परकोटा, दुर्ग या राजधानी।" मनु का मत है कि पुर पूर्णतया सुरक्षित होना चाहिए, इसके लिए दुर्ग का निर्माण ऐसे दुग्रम स्थलों पर करना चाहिए, जहां शत्रु सेना आक्रमण न कर सके। मनु पुर की श्रेणियों का उल्लेख कता है, जिनमें प्रमुख हैः– धन्नवन वर्ग दुर्ग, महि दुर्ग, जल दुर्ग, वृक्ष दुर्ग, मनुष्य दुर्ग एवं गिरी दुर्ग। इस तरह से मनु के राज्य की सुरक्षा के लिए दुर्ग के महत्व का प्रतिपादन किया है।

1.5.4 जनपद (राज्य)

जिस प्रकार आधुनिक राज्य के निर्माणक तत्वों में जनसंख्या और निश्चित भू–भाग को स्वीकार किया जाता है ठीक उसी प्रकार मनु राज्य तथा कौटिल्य जनपद शब्द का प्रयोग करता है।

1.5.5 कोष

मनु के अनुसार, कोष राज्य का न केवल अनिवार्य वरन् अति महत्वपूर्ण अंग है। मनु की मान्यता है कि राजा के पास समुचित मात्रा होने पर ही वह अपनी प्रजा की सुरक्षा तथा कल्याण के लिए विभिन्न प्रकार के दायित्व को पूरा कर सकता है। इसके अभाव में राज्य के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है। अतः राजा को चाहिए कि वह न्यायपूर्ण साधनों के द्वारा अपने कोष को दृढ़ता प्रदान करे। इसके लिए वह जन–हित का पूरा ध्यान रखे और करों का भार न लगाए।

1.5.6 दण्ड

दण्ड का आशय राज्य की रक्षा करने वाली शक्ति अर्थात् "सेना" से है। इसका भी शक्तिशाली होना अत्यावश्यक है अन्यथा कोई भी शत्रु जब चाहे तब उस पर आक्रमण कर सकता है। अतः राजा को सभी साधन अपनाकर अपनी सेना को साधन सम्पन्न बनाना चाहिए। मनु ने सेना के अनेक अंगो का उल्लेख किया है, ये अंग है– हस्ति सेना, रथ सेना, अश्व सेना, जल सेना तथा पैदल सेना।

1.5.7 मित्र

मित्र भी सप्तांग सिद्धान्त का एक प्रमुख तत्व है। इससे आशय यह है कि, अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में राज्य के मित्र अथवा एक राज्य के अन्य राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध। मनु सहित प्राचीन भारत के सभी राजनीतिक चिन्तकों ने इस बात पर बल दिया है कि राज्य अपनी रक्षा तथा अन्य उद्देश्यों की पूर्ति कर सके, इसके लिए अन्य राज्यों के साथ उसके मैत्रीपूर्ण संबंध होने चाहिए। मित्र ऐसा होना चाहिए जो कठिन परिस्थितियों में भी साथ दे सकें।

इस प्रकार मनु का सप्तांग सिद्धान्त आधुनिक राज्य के निर्माणक तत्वों के समान ही है। आज जहाँ जनसंख्या, निश्चित भू–भाग सरकार एवं सम्प्रभुता को राज्य का आवश्यक तत्व माना जाता हैं वहीं मनु सप्तांग सिद्धान्त का प्रतिपादन कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि राज्य की बुनियाद इन तत्वों पर टिकी हुई है। मनुस्मृति में कहा गया है कि– "प्रत्येक प्रकृति को उसके पश्चात् दी गई प्रकृति की तुलना में अधिक

महत्वपूर्ण स्वीकार किया जाना चाहिए।" इसके अलावा ये सभी प्रकृतियाँ एक–दूसरे पर निर्भर है। मनुस्मृति के सप्तम् अध्याय में स्पष्ट कहा गया है कि–"जिस कार्य की सिद्धि किसी भी प्रकृति विशेष से होना सम्भव होती है, उस प्रकृति को उस विशिष्ट कार्य के सन्दर्भ में श्रेष्ठतम् माना जाना चाहिए।"

1.6 राजा संबंधी विचार

राजा मनु के राजनीतिक विचारों का केन्द्र बिन्दु तथा राज्य–शक्ति का सर्वोच्च प्रतीक है। मनु ने अनेक देवताओं के सारभूत नित्य अंश को लेकर राजा की सृष्टि करने का जो उल्लेख किया है उससे राजा की दैवी उत्पति के सिद्धान्त में विश्वास प्रकट होता है। चूँकि राजा में दैवी अंश व्याप्त है, अतः यह अपेक्षित है कि प्रजा उसका कभी अपमान न करें। राजा से द्वैष करने का अर्थ स्वयं

का विनाश करना है। मनुस्मृति में यह भी लिखा गया है कि विभिन्न देवता राजा के शरीर में प्रविष्ट होते है। इस प्रकार राजा स्वयं महान् देवता बन जाता है।

राजा के गुणों एवं कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन है। मनु के अनुसार राजा को चाहिए कि वह ब्राह्मणों के प्रति सदैव सेवाशील और नियमशील रहे। राजा का मुख्य कार्य प्रजा की रक्षा तथा कल्याण करना होता है। अतः इन कार्यो को भली–भांति सम्पादित करने के लिए राजा के कुछ गुणों का होना आवश्यक है। राजा को विद्वान, जितेन्द्रिय, न्यायी, विनीत तथा लोकप्रिय होना चाहिए। मनु के अनुसार व्यावहारिक व्यक्तियों से वाणिज्य, व्यवसाय तथा धन प्राप्ति की विद्या सीखनी चाहिए।

1.6.1 राजा की उत्पति का दैवी सिद्धान्त

राज्य की उत्पति के संबंध में मनु दैवी सिद्धान्त प्रतिपादन होता है। "मनुस्मृति" के सातवें अध्याय में राजधर्म का प्रतिपादन करते हुए राज्य की उत्पति का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था बड़ी भयंकर थी। उस समय न राज्य था और न ही राजा था और इनके अभाव में दण्ड–व्यवस्था का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। राज्य के अभाव में सर्वत्र अन्याय, अराजकता, असंतोष, अव्यवस्था का वातावरण बना हुआ था। अर्थात् मत्स्य न्याय की स्थिति व्यापत थी। ऐसा माना जाता है कि जब सम्पूर्ण सृष्टि जलमग्न हो गई थी तब मनु ही शेष बचे थे। उन्होंने जिस संगठित समाज की संकल्पना की उसकी उनकी परिस्थापना हेतु दैवी सिद्धान्त का अनुसरण किया, जिसके माध्यम से मनु राज्य की सर्वोच्च शक्ति राजा को प्रदान करता है, जो ईश्वर का प्रतिनिधि है। राजा का विरोध ईश्वर का विरोध है, जिस प्रकार ईश्वर का विरोध करने वाला नरक में जाता है ठीक उसी प्रकार राजा के आदेश की अवहेलना करने वाला दण्ड का भागीदार होगा। इस तरह राजा का विरोध करने की छूट किसी को भी नहीं थी। प्रजा को यह प्रश्न करने का अधिकार नहीं था कि राज्य का आदेश उचित है या अनुचित? उसे इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह करने की अनुमति भी नहीं थी। राजा तो देवतुल्य है, चाहे वह मनुष्य रूप में शिशु ही क्यों न हो। उसकी अवज्ञा करना निषिद्ध है। उसके व्यक्तित्व में देवत्व का समावेश है–वे तत्व हैं– वायु, यम, कुबेर, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और वरूण। अतः राजा सर्वशक्तिमान एवं सर्वोपरि है।

राजा की उत्पति की दैवी सिद्धान्त को प्रामाणिक रूप देने के लिए मनु ने यहां तक कहा है कि राजा आठ लोकपालों के अन्न तत्वों से निर्मित हुआ है। जिसके फलस्वरूप उसमें देवीय गुण एवं शक्ति का समावेश हुआ है। ईश्वर ने समस्त संसार की रक्षा के लिए निर्मित वायु, यम, वरूण, सूर्य, अग्नि, इन्द्र तथा कुबेर के सर्वोत्तम अंशों के संयोग से राजा का निर्माण किया है। मनु के शब्दों में–

इन्द्रात्प्रभुत्वं तपनात्प्रतापं

क्रोधयमाद् वैश्रवणाच्चविप्तम्

इन तत्वों से राजा को मिलने वाले गुण	
इन्द्र	प्रभुत्व
सूर्य	प्रताप
यम	क्रोध
कुबेर	धन

चन्द्रमा	आनन्द
अग्नि	तेज
वायु	लोगो को कार्य की तरफ प्रेरित करना

आह्यदकत्वं च निशाधिनाथाद्

आदाय राज्ञो क्रियते शरीरः। (मनुस्मृति)

अर्थात् "इन्द्र से प्रभुत्व, सूर्य से प्रताप, यम से क्रोध, कुबेर से धन और चन्द्रमा से आनंद प्रदान करने का गुण लेकर राजा के शरीर का निर्माण हुंआ है।" इस तरह हिन्दू धर्म और शास्त्र के अनुसार प्रत्येक तत्व देव तुल्य और पूज्यनीय है तो राजा की उत्पति तो इस आठ पवित्र तत्वों से हुई है, अतः राजा की पवित्रता पर प्रश्न चिह्न लगाना गलत एवं तर्कहीन है। अतः मनु के राज्य की उत्पति के दैवी सिद्धान्त का प्रयोग माना जा सकता है।

1.6.2 राजा के आवश्यक गुण

मनुस्मृति में मनु द्वारा राजा के आवश्यक गुणों का उल्लेख किया गया है, जिनका निहित उद्देश्य राजा को हर दृष्टि से शक्ति सम्पन्न बनाना है। राजा का चारित्रिक स्तर भी इतना उच्च होना चाहिए, जिससे जनता उसका अनुकरण करें और कोई भी व्यक्ति उसके चरित्र पर अंगुली नहीं उठा सके। इनके अतिरिक्त मनु राजा से यह भी अपेक्षा करता है कि वह जन इच्छाओं और आंकाक्षाओं पर खरा उतरे। इसके लिए भी राजा को आवश्यक गुणों में सम्पन्न होना आवश्यक है ताकि राजा निर्लिप्त से होने चाहिए भाव से जन कल्याण के कार्य सफलतापूर्वक कर सके। मनु के अनुसार राजा के आवश्यक गुण निम्नलिखित रूप से होने चाहिएः–

1. राजा को चाहिए कि वह ब्राह्मणों के प्रति सदैव सेवाशील व नियमशील रहे।
2. राजा जितेन्द्रिय बने, काम व क्रोध से उत्पन्न व्यसनों का परित्याग करें।
3. राजा को शिकार, जुआ, दिवाशपन, परनिन्दा, पर स्त्री प्रेम, नाच–गाना, निष्प्रयोजन, चुगलखोरी, ईर्ष्या, कटुवचन, धन का अपहरण आदि दोषों और व्यसनों से बचे रहने का हर सम्भव प्रयास करना चाहिए।

1.6.3 राजा के कर्तव्य

मनु का विचार है कि राजा को जन–इच्छाओं एवं आकाक्षाओं पर खरा उतरने के लिए हर सम्भव कोशिश करनी चाहिए और ऐसा करना उसका परम धर्म है, जिसकी अवहेलना उसकी शक्ति को कमजोर कर सकती है। अतः राजा की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए उसने विभिन्न कर्तव्यों का उल्लेख है जो कि निम्नलिखित प्रकार हेः–

1. शस्त्र, धन–धान्य, सेना, जल आदि से परिपूर्ण पर्वतीय दुर्ग से हर प्रहार से सुरक्षित रहे।
2. राजा स्वजातीय तथा रूप और गुण से सम्पन्न स्त्री से विवाह करे।
3. राजा नियम पूर्वक यज्ञ आदि कराता रहे तथा ब्राह्मणों को धन प्रदान करें।
4. प्रजा पर अनावश्यक कर भार न लगाए।
5. विभिन्न राजकीय कार्यो के लिए विभिन्न अध्यक्षों को नियुक्त करें।
6. राजा रणभूमि में इंच मात्र शिथिलता न दिखाकर सम्पूर्ण शक्ति से युद्ध करे ताकि मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग के दरवाजे उसके लिए खुले रहें।
7. राजा अपने राज्य का विस्तार की हर संभव कोशिश करें।
8. अपने सैन्य बल और पौरूष का राजा सदैव प्रदर्शन करता रहे।
9. गोपनीय बातों और राजकार्यो को सदैव गुप्त रखें तथा शत्रुओं की कमजोरियों को जानने की सदैव लगन में रहे।
10. अपने मंत्रियों के साथा विनय पूर्वक व्यवहार करें और गुप्त तथा शक्ति को सक्रिय रखे।
11. राजा लोककल्याण के अपने दायित्व के निर्वाहन हेतु हर सम्भव प्रयास दृढ़ता पूर्वक करें।
12. राज्य की आर्थिक उन्नति को सुनिश्चित करे तथा राजा प्रजा की रक्षा करे और कर संग्रह करे। मनु राजा को परामर्श देता है कि वह प्रजा पर करों का अनावश्यक बोझ न डाले।
13. राजा व्यक्तियों को स्वधर्म का पालन करने के लिए बाध्य करें।

14. कूटनीति पूर्वक परराष्ट्र संबंधों का संचालन करें जिसका एक मात्र आधार राष्ट्रीय हित होना चाहिए।

उपयुर्क्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि राजा सर्वगुण सम्पन्न हो, तभी वह अपनी भूमिका का सफलतापूर्वक निर्वाह कर सकेगा।

1.6.4 क्या मनु का राजा निरंकुश है

उपयुर्क्त विवेचना में ऐसा प्रतीत होता है कि मनु द्वारा राजा पर नियन्त्रण की कोई व्यवस्था नहीं की गई है लेकिन ऐसा नहीं है मनुस्मृति में अनेक ऐसे प्रावधान है, जो राजा की निरंकुशता पर अंकुश लगा सकते है जो इस प्रकार हैः–

1.6.4.1 धर्म का नियन्त्रण

मनु राजा को धर्म के अधीन रखता है। वह इस बात पर बल देता है कि राजा सदैव प्रजा के कल्याण तथा उसकी रक्षा करे। मनु शासक पर धार्मिक नियन्त्रणों की व्यवस्था करके उसके स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाते है। इस प्रकार मनु राजा का नैतिक नियन्त्रण के द्वारा उसे सदैव जन कल्याण के लिए प्रेरित करते है। मनु राजा के चार पुरूषार्थ– अर्थ, धर्म,

काम और मोक्ष को सर्वश्रेष्ठ मानते है तथा उससे अपेक्षा करते है कि सदैव "राजधर्म" का पालन करते हुए जनता को पुरूषार्थ सिद्धि के लिए प्रेरित करता रहेगा।

1.6.4.2 संस्थागत नियन्त्रण

मनु इस बात पर बल देता है कि राजा अपने प्रशासनिक कार्यो में सहयोग एवं परामर्श के लिए मंत्रियों एवं अन्य शासकीय अभिकरणों से मंत्रणा प्राप्त करना आवश्यक है।

1.6.4.3 राजा के लिए दण्ड विधान

मनुस्मृति के नवम् अध्याय में लिखा गया है कि दण्ड ही समस्त प्रजा पर शासन करता है। जब प्रजा सोती है, तो दण्ड जागता है। अतः दण्ड को न्याय व्यवस्था का अभिन्न अंग मानते हुए मनु ने शासक एवं शासन को इनके अधीन माना है। दण्ड का प्रयोग राजा स्वविवेक से करता है और ऐसा न करने पर वह स्वयं भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार राजा स्वय दण्ड का भागी बनता है।

1.6.4.4 राजा के व्यक्तिगत गुण और दिनचर्या

मनुस्मृति में मनु राजा को हर कसौटी पर खरा उतारने के लिए तरीके बताता है जो कि उसको दिश भटकरने से रोकते हैं। मनु राजा को ये स्पष्ट निर्देश देता है कि वह ऐसे कार्य न करें जिनसे जन हित पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो।

इस प्रकार मनु राजा को सर्वशक्तिमान, सार्वभौम एवं सर्वोच्च मानते हुए भी उसकी निरंकुशता को कभी भी वह स्वीकार नहीं करता है। उसका मत है कि राजा का मुख्य ध्यये जनकल्याण के कार्यों को सम्पादित करना है। राजा अपनी प्रजा के साथ सन्तान के तुल्य व्यवहार करें और उनके कष्टों के निवारण हेतु हर सम्भव प्रयास करें। इस तरह से मनु का राजा सर्वोच्च तथा शक्तिशाली होते हुए भी लोक–कल्याण के प्रति प्रतिबद्ध है।

1.7 मंत्रिपरिषद्

मनु का मत है कि प्रशासनिक कार्यो की अधिकता के चलते राजा अपपे दायित्वों का निर्वाह भली–भांति नहीं कर सकता। अतः विभिन्न कार्यो में सहयोग के लिए योग्य एवं अनुभवी मंत्रियों की आवश्यकता होती है जो राजा को समय–समय पर विभिन्न विषयों पर सलाह देते हैं और व इनके विचारों को सम्मान देते हुए ठोस नीतिगत निर्णय लेता है। इसके अलावा मंत्रियों के अभाव में अत्यधिक कार्यभार की आड़ में राजा स्वेच्छाचारी निर्णय ले सकता है जिससे उसके निरंकुश बनने का भय बना रहता है। इस प्रकार मनु व्यापक प्रशासनिक योजना एवं आगे की रणनीति से मद्देनजर मंत्रिपरिषद की रचना प्रस्तुत करता है जिससे अपनाकर राजा और प्रजा दोनों ही लाभान्वित हो सकते है।

मनु के अनुसार राजनीतिक संगठन में "मंत्रिपरिषद" का विशेष महत्व है। मनु सम्पूर्ण सामाजिक संगठन का आधार वर्ण व्यवस्था को मानते है कि जिसके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र–इन चारों वर्णो का समावेश है। ब्राह्मण बौद्धिक शक्ति के,

क्षत्रिय सैन्य शक्ति के और वैश्य आर्थिक शक्ति के तथा शुद्रों को सेवा का प्रतीक माना का। मनु राजपद के लिए क्षत्रिय को अनुकूल मानता है क्योंकि दण्ड के प्रयोग की योग्यता उससे बढ़कर किसी में नहीं है। मनु ब्राह्मणों की

बौद्धिक एवं तर्कशक्ति को ध्यान में रखते हुए उन्हें अमात्य (मंत्री) पद पर नियुक्ति देने के बात करता है, जो समय–समय पर राजा को सलाह दे सकें।

1.7.1 मंत्रियों की संख्या

जहां तक मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या का प्रश्न है, मनु साधारणतया 7–8 मंत्री रखने का समर्थन करते, परन्तु वे इस बारे में कोई ठोस नियम निर्धारित नहीं करते है। महाभारत में चारों वर्णो में से कुल मिलाकर 37 सदस्य मंत्रिपरिषद् में सम्मिलित करने का विधान है तथा शुक्र नीतिसार में 10 मंत्रियों का उल्लेख मिलता है। मनु का विचार है कि राज्य–कार्य की सुविधा की दृष्टि से जितने मंत्रियों की आवश्यकता हो, राजा उन्हें रख सकता है।

1.7.2 मंत्रियों की योग्यताएँ

राज्य के विभिन्न कार्यो को सुचारू रूप से संचालित करने के उद्देश्य से विभिन्न विभागों के लिए उपयुक्त मंत्रियों की नियुक्ति करनी चाहिए। दूसरें शब्दों में, मंत्रिपरिषद् के सदस्यों में प्रत्येक मंत्री की व्यक्तिगत योग्यता एवं विशेषता के आधार पर उसे उपयुक्त विभाग सौंपना चाहिए। उदाहरण के लिए मंत्रिपरिषद के शूर, दक्ष एवं कुलीन सदस्य को अर्थ विभाग का कार्य सौपना चाहिए। शुद्ध आचरण वाले सदस्यों को रत्नों की खान का विभाग तथा भीरू सदस्यों को अन्तर्निवेश (भोजन, शयन, अन्तपुर) के विभाग सौंपने चाहिए। इस तरह से मनु के मन्त्रियों के लिए विशेषज्ञता का होना आवश्यक है। मनु के मन्त्रिपरिषद् की शक्तियों तथा कार्यो का उल्लेख निम्नलिखित रूप से किया है–

1.7.3 मंत्रिपरिषद् की शक्तियाँ एवं कार्य

1. मंत्रिपरिषद् के सदस्य अपने–अपने संबंधित विभाग के मुख्या या प्रधान होते है।
2. मंत्री समय–समय पर राष्ट्रीय महत्व के विषयों एवं संकट काल की अवस्था में राजा को मंत्रणा देंगे।
3. किसी महत्वपूर्ण रणनीति के उठाए जाने वाले कदम के सन्दर्भ में निर्णय लेने में सहयोग देते है।
4. मंत्री राज्य कर्मचारियों का निरीक्षण कर उन्हें आवश्यक निर्देश दे सकते है।
5. मंत्रियों का दायित्व है कि वे प्रजा को सही परामर्श दे और प्रजा के कष्टों के निवारण हेतू प्रयास करें।
6. मंत्रियों को चाहिए कि वे राजा की प्रत्येक गतिविधि पर नजर रखें और उसे निरंकुश होने से रोकें।
7. मंत्रियों का यह महत्वपूर्ण कार्य है कि वह परराष्ट्र नीति को इस प्रकार से लागू करें जिससे राज्य की साख बढ़ सके और शत्रु राज्य, राज्य की प्रतिष्ठा के सामने नतमस्तक हो जाए तथा बिना युद्ध किये राज्य के वर्चस्व को स्वीकार कर ले। मनु द्वारा प्रतिपादित, मंत्रिपरिषद् की शक्तियों तथा कार्य आधुनिक मंत्रिपरिषद् की शक्तियों तथा कार्यो के अनुरूप ही है।

1.7.4 मंत्रिपरिषद् की कार्य प्रणाली

मनु के मंत्रिपरिषद् के कार्यो का उल्लेख करते हुए मंत्रियों से अलग–अलग विचार करने और सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद् के साथ सामूहिक रूप से विचार–विमर्श करने, दोनो ही विधियों का उल्लेख किया गया है। इसके लिए परिस्थितियों का ध्यान रखना आवश्यक है।

1.8 प्रशासनिक व्यवस्था

किसी भी साम्राज्य की सफलता व असफलता काफी हद तक प्रशासनिक व्यवस्था पर निर्भर करती है। यदि प्रशासन गतिशील, व्यवस्थित एवं संगठित है तो उस साम्राज्य की जड़े सुदृढ़ हो जाएगी। मनु द्वारा भी मनुस्मृति में प्रशासनिक तंत्र का व्यापक रूप से उल्लेख किया गया। मनु का विचार है कि राजा दो–तीन, पांच और सौ गांवों के बीच अपना प्रशासनिक ढाँचा स्थापित करें तथा इन क्षेत्रों में योग्य कर्मचारियों को नियुक्त करें। इन कर्मचारियों द्वारा कर वसूल करने, अपने क्षेत्र में होने वाली दैनिक घटनाओं, अपराधों की रिपोर्ट ऊपर के अधिकारियों को देने का कार्य सम्पादित किया जाये। राजा को दौरे करके तथा गुप्तचरों द्वारा अधिकारियों के कार्यो की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। मनु स्थानीय संस्थाओं के महत्व को स्वीकार करते है और

कहते है कि स्थानीय समस्याओं का समाधान स्थानीय स्तर पर अतिशीघ्र हो सकेगा जिसके परिणाम स्वरूप प्रशासन एवं राजा दोनों के प्रति जनता में विश्वास की भावना को बल मिलेगा।

1.9 दण्ड व्यवस्था

भारत के प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में दण्ड शब्द का प्रयोग, राज्य की सम्प्रभुता या सर्वोच्च शक्ति के रूप में किया गया है। मनु के अनुसार दण्ड राजशक्ति का निर्णायक तत्व होता हैं, जिसकी धुरी पर सारे राज्य का संचालन होता है। राज्य के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए दण्ड शक्ति को महत्व प्रदान किया है। इसके अभाव में राज्य में शांति व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती। दण्ड व्यवस्था राज्य के सुशासन का प्रतीक है। मनुस्मृति के सातवें एवं आठवें अध्याय में इसका वर्णन किया गया है। दण्ड की सर्वोच्चता के मनु द्वारा अनेक कारण बताये गये है, जो इस प्रकार है–

1. दण्ड सभी मनुष्य का रक्षक है।
2. यह सर्वोच्च है।
3. सामाजिक व्यवस्था की रक्षा और देखभाल करता है।
4. दण्ड राज्य की सम्पति की रक्षा तथा वृद्धि के लिए अनिवार्य है।

मनु ने राजा का परामर्श दिया है कि दण्ड का प्रयोग सावधानीपूर्वक करें। वह इस बात का ध्यान रखें कि दण्ड शक्ति का शिकार कोई निरपराध व्यक्ति न हो जाए। इसके दण्ड की शक्ति का प्रयोग करने वाले अधिकारियों पर कठोर नियन्त्रण रखना चाहिए। ताकि दण्ड शक्ति का दुरूपयोग न हो।

1.10 कानून व न्याय व्यवस्था

मनु ने सुझाव दिया है कि कानून निर्माण का कार्य व्यवस्थापिका करें और न्यायापालिका न्याय–व्यवस्था को व्यवहार में लागू करें। व्यवहार शब्द का अर्थ है– सन्देह का निवारण। मनु के अनुसार विविध प्रसंग विचार का कारण बनते है। जैसे–कर्ज, धरोहर सबंधी, कर्मचारियों को वेतन न मिलना, गाली–गलोच या चोरी, स्त्री–पुरूषों के अनैतिक संबंध, जुआ खेलना आदि। राजा का दायित्व है कि वह न्याय करें।

1.10.1 न्यायालयों का गठन

मनु द्वारा न्यायालय को "धर्म सभा" कहा गया है। राजा धर्म सभा का अध्यक्ष होता है। परन्तु राजा अपने कार्य धर्म–सभा के सदस्यों अर्थात् मंत्रियों के परामर्श से करता है। धर्मसभा के अलावा सहायक एवं छोटे न्यायालय भी होते है। धर्म सभा के सदस्यों के भी विविध रूप होते है।

1.10.2 न्यायाधीशों की योग्यताएँ

मनु ने न्यायाधीशों के लिए विविध योग्यताएं निर्धारित की है। उसके अनुसार न्यायाधीश सदाचार विद्वान, वेदों के ज्ञाता हो और उन्हें निष्पक्ष होकर न्याय करना चाहिए। शुद्र न्यायाधीश नहीं बन सकते। मनु स्मृति में प्रमाणों को विशिष्ट महत्व दिया है। प्रमाण दो प्रकार हैं– मानुष व दित्य प्रमाण। मानुष प्रमाण तीन प्रकार के हैं–लिखित, युक्ति व साक्षी। इस प्रकार न्यायिक–प्रक्रिया में प्रमाणों को देखने के बाद न्यायाधीश को निष्पक्ष निर्णय करना चाहिए। साक्ष्य के पूर्व शपथ का विधान रखा जाना चाहिए। स्त्रियों के लिए स्त्रियों का साक्ष्य लेना चाहिए।

1.11 राजकोष और अर्थव्यवस्था संबंधी विचार

मनु के मतानुसार राजकोष, राज्य के प्रशासनिक क्रियाकलापों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसीलिए प्रत्येक राजा द्वारा अपने राज्य की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने की हर संभव कोशिश की जाती है। आर्थिक दृष्टि से कमजोर राज्य को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है। मनु मनुस्मृति में राज्य की आय को प्रमुख साधन है– बलि (विभिन्न प्रकार के कर), शुल्क (वस्तुओं की चुंगी से प्राप्त कर), दण्डकर (जुर्माना)। इनमें प्रथम कर व्यवस्था ही महत्वपूर्ण साधन है।

1.11.1 मनु का राजनीतिक अर्थशास्त्र

मनु अपने राजकोष संबंधी विचारों में राजनीति एवं अर्थशास्त्र के अटूट संबंध को सिद्ध करने का प्रयास करते है। उसके अनुसार कर भार की मात्रा आवश्यकतानुसार होनी चाहिए। अत्याधिक कर जनता में असंतोष की भावना बढ़ा सकते है और कर की कम मात्रा राजा तथा राज्य दोनों के लिए अहितकारी सिद्ध होती है। मनुस्मृति में करारोपण के महत्वपूर्ण

सिद्धान्त का विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। उनका मत है कि कर इस प्रकार वसुल किए जाने चाहिए जिससे गरीब जनता पर कर का भार कम पड़े और समृद्धिशाली लोगों पर कर भार अधिक पड़े।

1.11.2 कर सिद्धान्त

मनु कहते है कि–"कर न लेने से राजा के और अत्यधिक कर लेने से प्रजा के जीवन का अन्त हो जाता है।" अतः राजा के द्वारा प्रजा से कर वसूल करने का कार्य निर्धारण सिद्धान्तों के आधार पर किया जाना चाहिए। उसके अनुसार ये सिद्धान्त निम्नलिखित रूप से हैः–

1.11.2.1 प्रजा रक्षण का सिद्धान्तः– मनु के अनुसार कर लेने का उद्देश्य और आधार प्रजा का रक्षण है। अतः राजा को जनता से कर लेने से बदले उसके जीवन व संपति की रक्षा करनी चाहिए। इसमें वह भावना निहित है कि यदि राजा अपने इस दायित्व को पूरा नहीं कर सकता है तो उसे कर लेने का भी कोई अधिकार नहीं है।

1.11.2.2 लाभ पर कर का सिद्धान्तः– मनु का मत है कि किसी वस्तु या व्यापार पर हुए व्यय के पश्चात् जो विशुद्ध लाभ बचता है, उस पर ही कर लगाना चाहिए।

1.11.2.3 राष्ट्रीय योजना सिद्धान्तः– राजा के लिए आवश्यक है कि वह राष्ट्र को सम्पन्न बनाने हेतु राष्ट्रीय योजनाओं को दृष्टि में रखते हुए ही कर लगाए।

1.11.2.4 व्यथा मुक्ति का सिद्धान्तः– राजा द्वारा प्रजा से कर इस प्रकार वसूल किये जाने चाहिए कि कर देने से प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट या अभाव न हो। मनु के अनुसार–"जिस प्रकार जोंक, बछड़ी और मधुमक्खी थोड़े–थोड़े अपने–अपने खाद्य क्रमशः रक्त, दूध और मधु ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार राजा को प्रजा से थोड़ा–थोड़ा वार्षिक कर वसूल करना चाहिए।

1.11.2.5 अधिक कर निषेध सिद्धान्तः– मनु इस बात के विरोधी हैं कि राजा प्रजा पर उसके सामर्थ्य के बाहर कर लगावे। उनके अनुसार–"जो राजा मुर्खतावश अपने अधीन प्रजाजन से अधिक कर वसूल करता हैं, वह स्वयं अपना और अपने बन्धु–बाधवों का ही नाश करता है।"

"मनुस्मृति में करों की दर के विषय में कुछ बातें कही गई हैं। व्यापारियों से कर उनके सभी प्रकार के लाभ व व्यय को देखकर लिया जाना चाहिए। राजा को कर के रूप में पशु तथा स्वर्ण का पांचवा भाग और भूमि की श्रेष्ठता, उपजाऊपन एवं परिश्रम, आदि का विचार कर धान्य का छठा, आठवाँ या बाहरवाँ भाग ग्रहण करना चाहिए। वृक्ष, मांस, घी, गन्ध, औषधि, कपड़ा, मिट्टी के बर्तन और पत्थर की बनी सभी वस्तुओं का छठा भाग कर के रूप में लिया जाना चाहिए। कारीगर, बढ़ई, मजदूर आदि से राजा प्रतिमास एक दिन काम कराते। राजा द्वारा वृद्ध, अपंग, अंधे व्यक्तियों से कर नहीं लेना चाहिए। मनु

कहता है कि राज ब्राह्मणों पर किसी भी प्रकार का कर न लगाए। उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनु कर संबंधी विचार व्यावहारिक, तर्कसंगत तथा समयानुकूल है।

1.12 परराष्ट्र नीति

परराष्ट्र नीति प्रत्येक राज्य की अनिवार्य आवश्यकता है, जिसके बिना या जिसकी प्रभावक्रता के बिना राज्य अपना अस्तित्व लम्बे समय तक कायम नहीं कर सकता क्योंकि दूसरे राज्यों के साथ संबंधों से वह अपने अनेक हितों की पूर्ति करता है। इसलिए परराष्ट्र नीति में यह कहा जाता है कि इसमें किसी राज्य का स्थाई शत्रु या स्थाई मित्र नहीं होता। स्थाई तो होता है उसके राज्य (राष्ट्र) हित राष्ट्रीय हितों की बलवेदी पर वह कोई समझौता नहीं कर सकता। राज्य का आन्तरिक दृष्टि के साथ–साथ बाहर दृष्टि से शक्ति सम्पन्न होना बहुत आवश्यक है। इसके लिए राज्य को अपने मित्र राज्य सहित अन्य राज्यों के साथ संबंध सुधारने का प्रयास करना चाहिए। राजा अपनी कूटनीति का इस तरह से कार्यान्वयन करें कि शत्रु राजा भी बिना युद्ध किये उसे प्रभुत्व को स्वीकार कर ले और मित्र राजा भी उसके साथ प्रगाढ़ता स्थापित करने का प्रयास करने लगे। मनु ने परराष्ट्र संबंधों पर विचार करते हुए दो प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ये सिद्धान्त है– 1. मण्डल सिद्धान्त और 2. षाड्गुण्य नीति।

1.12.1 मण्डल सिद्धान्त

मनु इस बात पर बल देता है कि राजा को महत्वाकांक्षी होना चाहिए तथा उसे अपने राज्य के विस्तार हेतु हर संभव कोशिश करनी चाहिए। इस दृष्टि से राजा को मण्डल सिद्धान्त के आधार पर दूसरे राज्यों के साथ संबंध स्थापित करने चाहिए। मण्डल सिद्धान्त को केन्द्र बिन्दु विजिगीषु राजा (विजय प्राप्ति की इच्छा रखने वाला राजा) होता है। विजिगीषु राजा को केन्द्र मानते हुए 12 राज्यों के

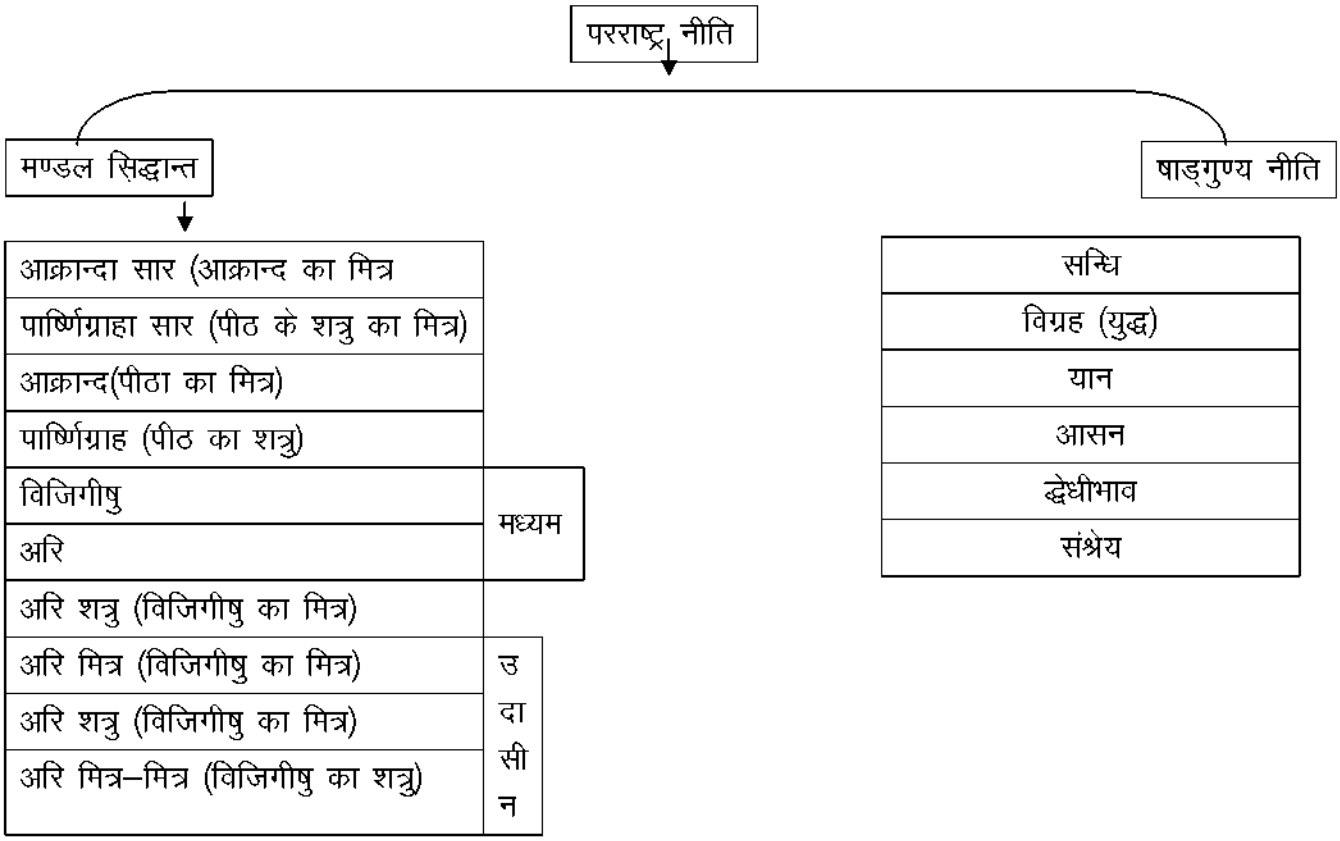

मण्डल सिद्धान्त की रचना की गई है। जिसमे यह बताया गया है कि विजिगीषु राज्य की सीमा के आधार पर स्थित राज्यों की स्थिति एवं सामर्थ्य के अनुसार उनके साथ नीति का संचालन करना चाहिए। यदि कोई इसकी अनदेखी करता है तो उसे सम्भावित दुष्परिणामों को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

मनु की यह धारणा है कि एक राजा का पड़ौसी राज्य स्वाभाविक रूप से उसका शत्रु होता हैं। दूसरी मुख्य बात यह है कि "मित्र का मित्र" और "शत्रु का शत्रु" तो मित्र होता ही है लेकिन "शत्रु का मित्र" शत्रु होता है। विजिगीषु राजा की सीमा से दूर किन्तु उसके पड़ौसी राज्य से मिला हुआ राज्य "अरिमित्र" होता है। इस तरह ये क्रम चलता रहता है। ये पाँच राज्य तो विजिगीषु के सामने वाली या आगे की दिशा में होते है। इस प्रकार कुछ राज्य उसके पीछे की दिशा में होते है। विजिगीषुं के राज्य की पीछे की सीमा से लगा हुआ राज्य पार्ष्णिग्राह (पीछे का शत्रु) और पार्ष्णिग्रहा की सीमा से लगा हुआ राज्य "आक्रान्दा" (पीठ का मित्र) इसके आगे के दो राज्य पीछे के शत्रु का मित्र और आक्रान्दा सार पीछे के मित्र का मित्र है। इस प्रकार पीठ के पीछे चार राज्य मण्डल में आते है। इन दस राज्यों के अतिरिक्त दो अन्य राज्य हैं– मध्यम तथा उदासीन। मध्यम ऐसा राज्य होता है, जो विजिगीषु तथा अरि की सीमा पर स्थित होता है, चाहे वे परस्पर मित्र हो या शत्रु हो, सहायता करने में समर्थ होता है और आवश्यक होने पर दोनों का अलग–अलग मुकाबला कर सकता है। उदासीन राज्य विजिगीषु, अरि और मध्यम राज्य की सीमा से परे होता है। यह बहुत शक्तिशाली होता हैं। उपयुर्क्त तीनों के मिलने की दशा में वह उनकी सहायता कर सकता है और न मिलने पर मुकाबला भी कर सकता है।

1.12.2 षाड्गुण्य नीति

मण्डल सिद्धान्त के माध्यम से सुनिश्चित हो जाता है कि कौनसा राज्य उसके प्रति किसी प्रकार का दृष्टिकोण रखता है? उसके पश्चात् राज्य हितों में वृद्धि करने के लिए षाड्गुण्य नीति का प्रयोग करना चाहिए।

षाड्गुण्य नीति का आशय है, छः लक्षणों वाली नीति। इसके अन्तर्गत यह बतलाया गया है कि राज्य द्वारा अलग–अलग परिस्थितियां में दूसरे राज्यों के प्रति किस प्रकार की नीति अपनायी जानी चाहिए। षाड्गुण्य नीति वैदेशिक संबंधों के क्षेत्र में विवेक सम्मत विकल्पों का विवेचन प्रस्तुत करती है। मनु ने राजा को परामर्श दिया है कि विवेक, आवश्यकता एवं परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इनमें से कोई भी एक लक्षण को अपनाए। राजा का भी प्रमुख लक्षण यही होता है कि हर प्रकार की नीति अपनाकर अपने राज्य के हितों में उत्तरोतर अभिवृद्धि

करे और ऐसा कोई भी कदम न उठाए जिससे राज्य के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो। षाड्गुण्य नीति का विवरण निम्नलिखित रूप से है–

1.12.2.1 संधि :– मनु के मतानुसार यदि राजा यह अनुभव करे कि इस राज्य के साथ मित्रता का संबंध स्थापित करने से तत्काल या भविष्य में लाभ हो सकता है तो उसे संबंधित राज्य के साथ मैत्री पूर्ण संबंध स्थापित करना चाहिए। इस मैत्री संबंधों को मनु सन्धि कहता है। सन्धि दो प्रकार की होती है–1. समान शक्ति के बीच संधि और 2. असमान शक्ति के बीच संधि ।

1.12.2.2 विग्रह (युद्ध):– विग्रह का अर्थ है युद्ध। यदि राजा को किसी अन्य राज्य पर विजय प्राप्त करनी है या प्रताड़ित करना है या उसके पूर्ववर्ती कारनामों का सबक सिखाने के लिए विग्रह का सहारा लेना चाहिए। मनु राजा को परामर्श देता है कि जब अन्य सभी विकल्प असफल हो जाए और परिस्थितियाँ उसके अनुकूल है तो उसे युद्ध का सहारा तत्काल प्रभाव से लेना चाहिए।

1.12.2.3 यानः– एक राज्य से दूसरे राज्य पर विजय के लक्षण को ध्यान में रखते हुए किये गये आक्रमण को यान कहते है।

1.12.2.4 आसनः– आक्रमण के स्थान पर अवसर की प्रतीक्षा में उपेक्षा धारण करना आसन कहलाता है। इस अपनाकर राजा अपनी शक्ति बढ़ा सकता है।

1.12.2.5 द्वेधीभावः– मनु राजा को परामर्श देता है कि राजा अपने शत्रु को कभी भी खुद से कमजोर न समझे। वह अपनी सेना को दो भागों में बांट ले। एक भाग सेनापति के अधीन जो शत्रु को रोकने का कार्य करेगी और दूसरा भाग राजा के अधीन रहकर शक्ति में वृद्धि करें।

1.12.2.6 संश्रयः– आपातकाल में जब एक राजा किसी शक्तिशाली राजा की शरण प्राप्त करता है तो उसे संश्रय कहते हैं।

1.13 मनु का समाज दर्शन

मनु को केवल उनके राजदर्शन के आधार पर हीं नहीं जाना जाता है, अपितु समाज–दर्शन से भी उनके विचार महत्वपूर्ण है। जहाँ मनु ने राजदर्शन के माध्यम से राजाओं के लिए निर्देश दिये और राज्य के राजनीतिक क्रियाकलापों के संबंध में अवगत करवाया है कि किस प्रकार से राज्य अपना वर्चस्व स्थापित कर सकता है। वहीं समाज दर्शन के माध्यम से मनु ने संगठित समाज की परिकल्पना प्रस्तुत की है, जिसमें सामाजिक संगठन के सिद्धान्तों, विभिन्न वर्णो के कर्तव्यों तथा सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में राज्य के दायित्वों, आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। मनु स्मृति में उल्लेखित सामाजिक व्यवस्था के दो प्रमुख अंग है– 1. वर्ण व्यवस्था और 2. आश्रम व्यवस्था।

मनु का समाज दर्शन

वर्ण व्यवस्था	आश्रम व्यवस्था
ब्राह्मण (शिक्षा व मंत्रणा)	ब्रह्मचर्याश्रम
क्षत्रिय (शासन एवं सुरक्षा)	गृहस्थाश्रम
वैश्य (व्यापार एवं उत्पादन)	वानप्रस्थाश्रम
शुद्र (सेवा)	संन्यासाश्रम

- वर्ण व्यवस्था को पाश्चात्य राजनीतिक विचारक प्लेटो न्याय सिद्धान्त के रूप में अपनाता है।
- समाजदर्शन का मूल उद्देश्य संगठित समाज–व्यवस्था की स्थापना करना है।
- इसमें प्रत्येक व्यक्ति की योग्यताएं व कार्य के अनुसार दायित्व सौंपे जाते थे।

1.13.1 वर्ण व्यवस्था

मनु धर्म और कार्य के आधार पर समाज को चार वर्णो–1.ब्राह्मण 2. क्षत्रिय 3. वैश्य 4. शुद्र मे विभाजित करता है।

1.13.1.1 ब्राह्मणः– मनुस्मृति में ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इसीलिए मनु द्वारा प्रतिपादित सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक दर्शन का केन्द्र बिन्दु ब्राह्मण को ही बताया गया है। उसके मतानुसार वे वेदों को धारण करने वाले है। अतः ब्राह्मणों को सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी माना गया है। मनुस्मृति में कहा गया है कि–"ब्राह्मण धर्म की रक्षा करने की अपनी क्षमता के कारण ही सर्वश्रेष्ठ है।" ब्राह्मणों के कर्तव्यों के बार में मनुस्मृति में कहा गया है कि इन्द्रियों पर नियन्त्रण, पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना और लेना आदि। मनु ने इस वर्ग को ज्ञान का भण्डार बताया है।

1.13.1.2 क्षत्रियः– क्षत्रियों का प्रमुख कार्य शासन का संचालन करना, प्रजा की रक्षा करना, यज्ञ करना, दान देना, ऋण देना, अध्ययन करना आदि है। ब्रह्म की भुजाओं से उत्पन्न होने के कारण इन्हें शक्ति से सबंधित कार्य सौंपे गये। मनु ने इसे शक्ति का प्रतीक बताया है।

1.13.1.3 वैश्यः–मनु ने आर्थिक व्यवस्था के संचालन एवं आर्थिक विकास का उत्तरदायित्व वैश्य को सौंपा है। उनके प्रमुख दायित्वों में व्यापार करना, पशुओं की रक्षा, पशुपालन, यज्ञ करना, अध्ययन करना, ब्याज लेना, कृषि कार्य, उत्पादन संबंधी कार्य आदि शामिल हैं।

1.13.1.4 शुद्रः– मनु ने अपनी सामाजिक व्यवस्था में सबसे निम्नतम स्थान शुद्रों को दिया है। मनुस्मृति में बताया गया है कि शुद्रों का प्रमुख कार्य अन्य तीन वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) की सेवा करना है। इन्हें वेदों के अध्ययन तथा शिक्षा प्राप्ति से वंचित रखा। उसके इन विचारों के कारण ही वर्तमान में उसकी कड़ी आलोचना की जाती है। उसके विचारों को असामयिक तथा अप्रासंगिक बताया जाता है। दलित वर्ग मनुस्मृति की होली भी जलाते हैं।

1.13.2 आश्रम व्यवस्था

मनु के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य है– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करना है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए मानव जीवन को विभिन्न भागों में विभाजित किया गया। विभाजन में व्यक्ति की आयु के अनुसार आश्रम और दायित्वों का निर्धारण किया गया है। मनु ने मनुष्य की आयु 100 वर्ष मानते हुए 100 वर्ष की आयु को चार आश्रमों में बांटा है। मनु की अवस्था के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम (25 वर्ष की आयु तक), गृहस्थाश्रम (50 वर्ष की आयु तक), वानप्रस्थाश्रम(75 वर्ष की आयु), सन्यासश्रम (100 वर्ष की आयु तक)

1.13.2.1 ब्रह्मचर्याश्रमः– मनु ने बताया है कि इस काल में व्यक्ति ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करें, वेदों का अध्ययन करें, आलस्य छोड़े, दूसरों की निन्दा छोड़े, मिथ्या भाषण से बचे, गुरू की आज्ञा का पालन करें, तथा सेवा भावी बने आदि।

1.13.2.2 गृहस्थाश्रमः– गृहस्थ जीवन में परिवार के पालन–पोषण की महत्ता दी गई है। एक गृहस्थ सभी गुणों से सम्पन्न कन्या से विवाह करने के पश्चात् गृहस्थ–आश्रम में निवास करें।

1.13.2.3 वानप्रथाश्रमः– इस अवस्था में व्यक्ति सम्पति, गृह आदि मोह माया के बंधन को त्याग कर अपनी पत्नी सहित या अकेले वानप्रस्थी बने। इसमें इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है।

1.13.2.4. सन्यासाश्रमः– मनु के अनुसार इस आश्रम में प्रवेश करने से पहले मनुष्य को सभी ऋणों अर्थात् देव ऋण, ऋषि ऋण तथा पितृ ऋण से अवश्य मुक्त होना चाहिए। मानव जीवन का यह अन्तिम आश्रम है। व्यक्ति के जीवन का उच्चतम लक्ष्य–मोक्ष प्राप्त करना है। यह लक्ष्य आश्रम व्यवस्था के माध्यम से प्राप्त हो सकता है।

1.14 सारांश

इस प्रकार मनु प्राचीन भारतीय राजनीतिक और सामाजिक चिन्तन के पितामह थे। आज के आधुनिक उदार और वैज्ञानिक युग में उनके शूद्र विचार कितने ही अप्रसांगिक क्यों न हो पर यह तथ्य सत्य है कि सही मायने में प्रथम राजनीतिक विचारक मनु ही थे। मनु ने अपने विचारों के माध्यम से मानव जीवन के प्रत्येक पहलू का प्रयास किया। मनु प्रतिपादित विचार तत्कालीन शासकों के लिए मार्गदर्शन करने वाला था, साथ में लम्बे समय तक भारतीय समाज पर इसका प्रभाव देखा गया। उनके इन विचारों के

कारण ही उन्हें भारत के प्रथम राजशास्त्री की संज्ञा दी जाती है। आधुनिक समय में भी उनके राज्य सम्बन्धी विचारों का अपना महत्व निर्विवाद है।

1.15 प्रस्तावना

भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में कौटिल्य का अग्रणी स्थान हैं। विलक्षण प्रतिभा के धनी (विष्णुगुप्त) अपनी महान कृति "अर्थशास्त्र" के माध्यम से यह स्थान प्राप्त करता है। उसके संबंध में यह कहा जाता है कि जो स्थान के पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में प्लेटो एवं अरस्तु का हैं, वही स्थान भारतीय राजनीतिक चिन्तन मे कौटिल्य का हैं। भारत को सदियों से विश्व–गुरू रहने का सौभग्य प्राप्त हुआ है। जिसमें कौटिल्य जैसी महान् विभूतियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, जिन्होंनें अपने चिन्तन एवं दर्शन के माध्यम से मानव सभ्यता को ऐसे सिद्धान्त एवं विचारधाराएँ प्रदान की हैं, जिन्हें अपनाकर मनुष्य अपने जीवन एवं समाज का संगठित स्वरूप दे सका है और आधुनिक व्यवस्थाओं के लिए भी प्रेरणादायी बना हुआ है। कौटिल्य के विचार यथार्थ या वास्तविकता पर आधारित है। यद्यपि उसने अपने विचारों का प्रतिपादन अपने समय की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के अनुसार किया था, जिसका प्रमुख उद्देश्य चन्द्रगुप्त के साम्राज्य को सुदृढ़ करना तथा भारत की खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करना था क्योंकि राजाओं की आपसी फूट के कारण भारत छोटे–छोटे टुकड़ों में विभाजित हो गया था और सिकन्दर जैसे विदेशी आक्रमणकारी के आक्रमण जारी थे। इन प्रतिकूल अवस्थाओं ने कौटिल्य को झकझोर कर रख दिया। सर्वप्रथम कूटनीति की चालें–चलकर नन्दवंश का नाश किया और उसके पश्चात् अर्थशास्त्र के माध्यम से अपने विचारों या दर्शन को प्रस्तुत किया। सालेटोर के अनुसार–"प्राचीन भारत की राजनीति विचारधाराओं में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचाराधारा है।"

कौटिल्य चाणक्य या विष्णुगुप्त उस महान् विभूति का नाम है, जो किसी राजा या राजवंश का न होकर भी प्राचीन भारत के महान् सम्राट चन्द्रगुप्त का निर्माता तथा गुरू था। वह यथार्थवादी विचारक, कूटनीतिज्ञ, व्यवहारवादी राजनीतिज्ञ, नीतिशास्त्र का सुविख्यात विद्वान था। परन्तु यह अत्यन्त दुःखः का विषय है कि सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्र के प्रणेता और महान् विभूति आचार्य कौटिल्य का कोई प्रामाणिक जीवन–चरित्र नहीं मिलता।

कौटिल्य की महानता के पीछे मूल कारण यह नहीं है कि इससे पूर्व राजनीतिक चिन्तक पैदा नहीं हुए, अपितु वह प्रथम विचारक था, जिसने राजनीतिक बुद्धिमता तथा शासनकला के सिद्धान्त को व्यवस्थित एवं स्पष्ट किया। इन सभी सिद्धान्तों को एक स्थान पर एकत्रित कर शासनकला के पृथक एवं विशिष्ट विज्ञान की रचना करने का कार्य किया। इस तरह कौटिल्य को शासन कला व कूटनीति का महान प्रतिपादक कहा जा सकता हैं।

1.16 राज्य के सन्तांग सिद्धान्त

राजनीतिक विज्ञान के जनक अरस्तु की भांति कौटिल्य भी मनुष्य के लिए राज्य को अनिवार्य आवश्यकता मानता है। उनका मत है कि राज्य के अभाव में मानव के समक्ष असुरक्षा का खतरा तो पैदा होता ही है साथ में मानव का विकास भी अवरूद्ध हो जाता है। राज्य की उत्पति के संबंध में कौटिल्य "सामाजिक समझौता सिद्धान्त" का समर्थन करता है। असुरक्षा, अराजकता, अशांति, जीवन की क्षणभंगुरता से मुक्ति पाने के लिए मनुष्य मनु को अपना राजा बनाता है।

सप्तांग सिद्धान्त में आंगित एकता

राजा (स्वामी)	सिर
अमात्य (मंत्री)	आँखें
जनपद	जंधाएँ
दुर्ग (पुर)	हाथ
कोष	मुख
दण्ड (सेना)	मस्तिष्क
मित्र	कान

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों के द्वारा राज्य के स्वरूप के संबंध में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, उसे सप्तांग सिद्धान्त कहा है। जैसी की नामकरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि राज्य का निर्धारण आवश्यक सात तत्वों (प्रकृतियों) से होता है। जिस प्रकार वर्तमान समय में राज्य के निर्माणक तत्वों के रूप में

चार तत्व– जनसंख्या, निश्चित भू–भाग, सरकार और सम्प्रभूता है लेकिन सप्तांग सिद्धान्त के सातों तत्व इनमें विद्यमान हैं। कौटिल्य से पूर्व मनु, शुक्र और भीष्म ने भी सप्तांग सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस तरह यह सावयव सिद्धान्त पर आधारित है। जिसक प्रकार मानव शरीर विभिन्न अंगो से मिलकर बनता है और सभी अंगो का अपना विशेष महत्व होता है, एक अंग में व्यवधान आने पर सम्पूर्ण शरीर प्रभावित होता है, ठीक उसी प्रकार सप्तांग सिद्धान्त की सातों प्रकृतियों का महत्व है। यह सिद्धान्त पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन से आयात किया हुआ न होकर वरन् यह शुद्ध रूप से भारतीय है। इसका उद्‌गम स्थल ऋग्वेद का पुरूष सूत्र है। शुक्रनीति में राज्य के इन अंगों को मानव शरीर से तुलना करते हुए का गया है–"इस शरीर रूपी राज्य में राजा सिर के समान है, अमात्य आँख है, जनपद जंधाएँ, कोष मुख है, सैन्य

बल मन है, दुर्ग हाथ है और मित्र कान है।" कौटिल्य के अर्थशास्त्र के छठे अधिकरण के पहले अध्याय में राज्य के सात अंगो या प्रकृतियों का निम्न उल्लेख किया है–

1.16.1 राजा

सप्तांग सिद्धान्त में सर्वप्रथम स्थान राजा को दिया गया है। राजा की महत्वपूर्ण स्थिति के कारण उसे स्वामी नाम दिया गया है। स्वामी का अर्थ है, आदेश देने वाला अर्थात् राजा प्रशासन की मुख्य धुरी होता है। उसका प्रत्येक आदेश सर्वोच्च एवं अन्तिम होता है, जिसकी अनदेखी राज्य की परिधि में कोई भी नहीं कर सकता। कौटिल्य अपने राजा को राज्य का केवल एक शासक ही नहीं देखना चाहते, बल्कि वह तो उसे राजर्षि के रूप में देखना चाहते हैं।

कौटिल्य के राजा के गुणों पर विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि– राजा को महाकुलीन, दैव बुद्धि, धैर्यवान, दूरदशी, धार्मिक, सत्यवादी, कृत उच्चाभिलाषी और दृढ़बुद्धि गुण–सम्पन्न परिवार वाला तथा शास्त्रबुद्धि से युक्त होना चाहिए।

जिस प्रकार प्लेटो अपनी कृति "रिपब्लिक" मे जिस "दार्शनिक राजा" की अवधारणा प्रतिपादित करता है, उसमें राजा की विशेष शिक्षा पर बल देता है। ठीक उसी प्रकार कौटिल्य भी राजा की शिक्षा पर बल देता है। उनका कथन है कि–"जिस प्रकार घुन लगी हुई लकड़ी शीघ्र नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जिस राजकुल के राजकुमार शिक्षित नहीं होते, राजकुल बिना किसी युद्ध आदि के नष्ट हो जाता है।" कौटिल्य के राजा के लिए जिन आवश्यक विद्याओं का उल्लेख किया हैं, वे हैं– दण्डनीति, सैनिक शिक्षा, मानवशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास और धर्मशास्त्र आदि। इस तरह राज्य की संप्रभुता की सम्पूर्ण शक्ति राजा में ही निवास करती है। जिसका आदेश अन्तिम व सर्वोच्च होता है।

1.16.2 अमात्य

कौटिल्य के अनुसार अमात्य से तात्पर्य मंत्री एवं प्रशासनिक अधिकारियों से होता है। अमात्य राज्य का दूसरा अंग है जो प्रशासन संचालन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कौटिल्य इसके महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहता है कि, "एक पहिए की भांति राजकाज भी बिना सहायता–सहयोग से नहीं चलाया जा सकता। इसलिए राजा को चाहिए कि वह सुयोग्य अमात्यों की नियुक्ति कर उनके परामर्शों को ह्रदयंगम करें।"

कौटिल्य का मत है कि अमात्यों के चरित्र की परीक्षा के बाद ही उनकी नियुक्ति होनी चाहिए। धर्मोपधा, अर्थोपधा और भयोपधा अर्थात् धर्म, काम और भय द्वारा परीक्षित पवित्र अमात्यों को, उनकी कार्यक्षमता के अनुसार कार्यभार सौंपना चाहिए। कौटिल्य का कहना है कि स्वामी को चाहिए कि वह अमात्यों को अपनी आवश्यकता एवं सुविधानुसार नियुक्त करें। योग्य एवं प्रभावी अमात्य होने की स्थिति में प्रशासन एवं साम्राज्य सफलता के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है।

1.16.3 जनपद

राज्य के सप्तांग सिद्धांत का तीसरा प्रमुख अंग जनपद है। वर्तमान राजनीतिक विचारक राज्य के निर्माण तत्वों के रूप में जनसंख्या एवं निश्चित भू–भाग को पृथक–पृथक तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं लेकिन कौटिल्य ने इन दोनों तत्वों के लिए जनपद शब्द का प्रयोग किया है। जनपद का अर्थ है–जनता युक्त भूमि। जनपद के बिना राज्य की कल्पना तक नहीं की जा सकती है। कौटिल्य का मत है कि,–"मनुष्यों से रहित प्रदेश जनपद नहीं कहला सकता और जनपद रहित भूमि राज्य नहीं कहला सकती। अतः यदि जनपद न होगा तो राज्य किस पर किया जाएगा।"

जनपद का संगठन

गांवों की संख्या	इकाई का नाम
800	स्थानीय
400	द्रोणमुख
200	खावटिक
10	संग्रहण
1	गांव

इस प्रकार जनपद संगठन की सर्वोच्च इकाई है और सबसे छोटी एवं निचले स्तर पर गांव है। जिनको मिलाकर अन्य इकाईयाँ अस्तित्व में आती है। कौटिल्य ने जनपद के भू–भाग एवं जनसंख्या के संबंध में कुछ भी नहीं कहा है जो एक आदर्श राज्य का रूप ले सके।

लेकिन जनपद को आदर्श एवं खुशहाल बनाने के लिए गुणवत्ता और चारित्रिक श्रेष्ठता पर बल दिया है जो इस प्रकार है–

1. समुचित निवास स्थान प्रदान कर सकें,
2. राज्य की शत्रुओं से रक्षा कर सकें,
3. उपयुक्त व्यवसाय प्रदान कर सकें,
4. पड़ौसी राज्यों पर निगरानी रख सकें,
5. जंगली जानवरों द्वारा सम्भावित उत्पाद से रक्षा कर सकें,
6. चारागाह उपलब्ध करा सकें,
7. कृषि योग्य भूमि, खानों तथा वनों से समृद्ध हो,
8. आन्तरिक संचार के लिए नदियों, जलमार्गों तथा स्थलमार्गों से युक्त हो,
9. जिसका व्यापार विविध प्रकार का तथा मूल्यवान हो तथा
10. जनकल्याण के लिए आवश्यक संसाधनों से भरपूर हों

कौटिल्य ने जनता के विषय में लिखा है कि जनता निष्ठावान, स्वाभिमानी और सम्पन्न होनी चाहिए। इसके अलावा वह सरल हदय वाली हो। राजा द्वारा लगाए करों को चुकाने की क्षमता रखती हो तथा उन्हें स्वेच्छा से अदा करती हो। जनता में शासक की आज्ञाओं का स्वाभाविक रूप से पालन करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए।

1.16.4 दुर्ग

कौटिल्य ने दुर्ग को उतना ही महत्वपूर्ण माना है जितना जनपद या राजा को। दुर्ग राज्य रक्षात्मक शक्ति तथा आक्रमण शक्ति दोनों का प्रतीक है। राज्य को अपनी सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए दुर्ग बनाने चाहिए। जिनमें सेना के लिए अच्छी

मोर्चाबंदी, पानी, भोजन साम्रगी, बारूद आदि का यथोचित प्रबन्ध हो। जनपद की चारों दिशाओं में राजा युद्धोचित प्रकृति दुर्ग का निर्माण करवाए।

1. औदिक दुर्गः– चारों और पानी से घिरा हुआ टापू के समान गहरे तालाबों से आवृत स्थल औदिक दुर्ग कहलाता है।
2. पार्वत दुर्गः– बड़ी–बड़ी चट्टानों अथवा पर्वत की कन्दराओं के रूप मे निर्मित दुर्ग पार्वत दुर्ग कहलाता है।
3. धान्वन दुर्गः– जल और घास आदि से रहित अथवा सर्वथा ऊखर भूमि में निर्मित दुर्ग धान्वन दुर्ग कहलाता है।
4. वन दुर्गः– चारों और दलदल से घिरा हुआ अथवा कांटेदार सघन झाड़ियों से परिवृत दुर्ग वन दुर्ग कहलाता है।

इस प्रकार सुदृढ़ एवं साधन सम्पन्न दुर्ग होने पर राज्य भी सुरक्षित एवं सुदृढ़ बन सकता है। इसलिए प्राचीन काल में राजाओं के द्वारा दुर्ग निर्माण पर विशेष बल दिया जाता था।

1.16.5 कोष

राज्य एवं प्रशासनिक व्यवस्था के संचालन के लिए धन की आवश्यकता होती है। जिसके बिना कोई भी कार्यवाही नहीं की जा सकती। इसलिए राज्य का महत्वपूर्ण आधार कोष होता है। राजा का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह कोष में वृद्धि करने की हर सम्भव कोशिश करें। अर्थशास्त्र में अर्थ की प्रधानता है। कौटिल्य का मत है कि – धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में अर्थ की प्रधानता है। कौटिल्य का मत है कि कोष में धर्मपूर्वक साधनों से वृद्धि करनी चाहिए। कोष की प्रचुर मात्रा होनी चाहिए, ताकि हर स्थिति का बिना किसी संकट के सामना किया जा सके। कोष सोना, चांदी, बहुमूल्य रत्नों से भरा होना चाहिए। प्रजा राजा को अन्न का छठा, व्यापार का दसवाँ और सोना भी दें। इस प्रकार कोष संकट एवं शांति दोनों में, उपयोगी है।

1.16.6 सेना या दण्ड

कौटिल्य के अनुसार दण्ड का अर्थ सेना से है। सेना राज्य की सुरक्षा की प्रतीक है। शक्तिशाली सेना होने पर कोई भी राज्य आक्रमण करने का दुस्साहस नहीं कर सकता बल्कि मित्र तो मित्र बने ही रहते है अपितु शत्रु भी मित्रता के लिए हाथ बढ़ाने के लिए विवश हो जाते हैं। कौटिल्य का मत है कि सेना भर्ती के लिए क्रमश–क्षत्रिय, वैश्य व शुद्र को प्राथमिकता देनी चाहिए। कौटिल्य ने यथा सम्भव ब्राह्मण को सेना में भर्ती न किये जाने का परामर्श दिया है। सैनिकों को स्वामिभक्त होना चाहिए। उन्हें सदा राजा की आज्ञा का पालन करना चाहिए।

दूसरी ओर, राजा का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह सैनिकों को अच्छा वेतन और उनके परिवारों की सुख–सुविधा पर पूरा ध्यान देकर उन्हें संतुष्ट तथा प्रसन्न रखें। ऐसा करने से सैनिक राजा की आज्ञा का पालन कर सकेंगे और शत्रु का भी डटकर मुकाबला कर सकेंगे।

1.16.7 मित्र

राज्य का सातवाँ अंग मित्र है। कौटिल्य के अनुसार राज्य की प्रगति के लिए और आपत्ति के समय राज्य की सहायता के लिए मित्रों की आवश्यकता होती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि राजा अपने ऐसे मित्र बनाकर रखें, जो समय पर उसकी सहायता कर सके। मित्र वंश–परम्परागत, विश्वासी, स्थायी और हितैषी हो। इसके साथ ही राजा अपने मित्रों को सदैव अपने वश में रखे और उनसे समय पर काम लें। इसी को आधार मानकर उन्होंने पर राष्ट्र नीति के संबंध में विचार प्रस्तुत किये ताकि राज्य अपने हितों में अभिवृद्धि कर सके।

कौटिल्य ने स्पष्ट शब्दों में मित्र के गुण पर लिखा है कि– "मित्र ऐसे होने चाहिए, जो वंश–परम्परागत हो, स्थायी हो, अपने वश में रह सके, जिनसे विरोध की सम्भावना न हो, प्रभुमन्त्र, उत्साह आदि शक्तियों से युक्त हो, समय आने पर सहायता कर सकें। मित्रों में इन गुणों का होना मित्र सम्पन्न कहा जा सकता है।

इस प्रकार कौटिल्य के सप्तांग सिद्धांत में सातों तत्वों का सापेक्षित महत्व है। एक तत्व के कमजोर होने पर अन्य सभी तत्व प्रभावित होते हैं और इनके परस्पर सहयोग से ही राज्य की व्यवस्थाओं का सफल संचालन हो सकता है।

1.17 राजा (स्वामी)

कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित अर्थशास्त्र के सप्तांग सिद्धांत में राजा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। अर्थशास्त्र के अनुसार राज्य में वर्णाश्रम धर्म का पालन कराने के लिए दण्ड शक्ति का होना आवश्यक है। दण्ड के द्वारा समाज में फैली हुई अराजकता और अव्यवस्था को दूर करके व्यक्ति को उसके धर्मपालन के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इस दण्ड का संचालन करने वाली सत्ता राजा और उसका राजपद कही गयी है। कौटिल्य के अनुसार राजा, राज्य की कार्यपालिका का सर्वोच्च अधिकारी है। राजा दण्ड का प्रतीक है और निर्धारित नियमों के अनुसार उसका निर्माता है। राजा का मुख्य ध्येय प्रजा का कल्याण करना है। प्रजा के कल्याण में ही राजा का कल्याण विहित है। राजा को चाहिए कि वह जनता के समक्ष उच्च चारित्रिक आदर्श प्रस्तुत करें ताकि उससे जनता को नवीन सीख मिले।

1.17.1 राजा की उत्पत्ति

राजा शब्द की उत्पत्ति राजन शब्द से हुई है और इसके मूल राष्ट्र का शब्दार्थ शासक है। कौटिल्य राजतन्त्रीय शासन को सर्वोच्च मानते हुए, राजा को ही सर्वोच्च अंक माना है। उनके अनुसार शासन की सफलता

योग्यता और शक्ति पर निर्भर करती है। इस प्रकार राजा शासन की धूरी एवं शासन को वांछित गति प्रदान करने वाला होता है। कौटिल्य के शब्दों में,– "यदि राजा सम्पन्न हो तो उसकी खुशहाली में प्रजा भी सम्पन्न होती है। राजा का जो शील है, वही शील प्रजा का भी होता है। यदि राजा उद्यमी और उत्थानशील होता है, तो प्रजा में भी गुण आ जाते हैं, यदि राजा प्रमादी हो तो प्रजा भी वैसी ही हो जाती है। अतः राज्य में केन्द्रीभूत स्थान राजा को ही प्राप्त है।"

1.17.2 राजा के गुण

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के छठे अधिकरण के प्रथम अध्याय में राजा के आवश्यक गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। राजा को कुलीन, स्वस्थ और शास्त्रों का अनुसरण करने वाला होना चाहिए। उसे अभिगामिक गुणों प्रज्ञा गुणों, उत्साह गुणों और आत्म–संयत गुणों से विभूषित होना चाहिए। अभिगामिक गुणों के अनुसार राजा महाकुलीन, देवबुद्धि, धैर्य सम्पन्न, दूरदर्शी, धार्मिक, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, कृतज्ञ, उच्चाभिलाषी, उत्साही, शीघ्र निर्णय लेने वाला, सामन्तों को वंश में करने वाला, दृढ़ बुद्धिगुण सम्पन्न परिवार वाला और शास्त्र बुद्धि से युक्त हो।

1.17.3 राजा की शिक्षा

प्लेटो की भांति कौटिल्य भी राजा के लिए शिक्षा की आवश्यकता पर बल देता है। कौटिल्य का मत है कि उपर्युक्त गुणों से युक्त राजा आसानी से नहीं मिलते हैं, कुछ गुण तो स्वाभाविक होते हैं और कुछ गुण केवल शिक्षा से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। अतः राजकुमार का शिक्षित होना परम आवश्यक है। उनके शब्दों में– "जिस प्रकार घुन लगी हुई लकड़ी शीघ्र नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जिस राज्य के राजकुमार शिक्षित नहीं होते, वह बिना किसी युद्ध आदि के स्वयं ही नष्ट हो जाता है।" कौटिल्य ने जिन आवश्यक विद्याओं का उल्लेख किया हैं, वे हैं– दण्ड नीति, सैनिक शिक्षा, मानवशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र तथा धर्मशास्त्र आदि।

1.17.4 राजा की दिनचर्या

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के पहले अधिकरण के अठारवें अध्याय में राजा की व्यस्त दिनचर्या का वर्णन किया है। इसके पीछे मूल उद्देश्य राजा को जन कल्याण के लिए सचेत करते हुए अपने दायित्वों का भली प्रकार निर्धारण करना और जितना हो सके उतना राजा को भोग विलास की प्रवृतियों से दूर रखना था। कौटिल्य के राजा के दिन–रात के कार्यक्रम को 24 घण्टों को 16 घड़ियों में बांटता है। इस तरह प्रत्येक घड़ी 1.30 घंटे की है।

दिनचर्या

प्रथम घड़ी–प्रजा की रक्षा, व्यवस्था और हिसाब–किताब की जाँच।

द्वितीय घड़ी– ग्राम व नगरवासियों का प्रशासन।

तीसरी घड़ी–ज्ञान, भोजन, स्वाध्याय।

चतुर्थ घड़ी– वित्त विभाग का निरीक्षण, नियुक्ति एवं स्थनांतरण।

पांचवी घड़ी– मंत्रियों तथा गुप्तचरों से मंत्रणा।

छठी घड़ी– मनोरंजन।

सातवीं घड़ी–घोड़े, हाथी, अस्त्र–शस्त्रों का निरीक्षण।

आठवीं घड़ी–सेनापति से मंत्रणा।

रात्रिचर्या

पहली घड़ी– गुप्तचरों द्वारा दिनभर की एकत्रित रिपोर्ट।

दूसरी घड़ी– ज्ञान, भोजन, स्वाध्याय।

तीसरी घड़ी–गायन वादन।

चौथी घड़ी–निद्रा।

पांचवी घड़ी–निद्रा।

छठी घड़ी–दिन के कार्यक्रम पर विचार।

सातवीं घड़ी–गुप्तचरों से परामर्श।

आठवी घड़ी–पुरोहित आचार्य आदि से भेंट।

इस प्रकार राजा का जीवन एक तपस्वी के समान होना चाहिए। कौटिल्य की विचाराधारा को व्यक्त करते हुए श्री भगवानदास केला लिखते है,–"राजपद का ऐश्वर्य कांटों के मुकुट के समान हैं, जिसे सेवाभाव से ही ग्रहण किया जा सकता है।" यह दिनचर्या अत्यन्त कठोर हे। इसका पालन करके राजा आदर्श शासक होगा। लेकिन कौटिल्य का मत है कि राज्य आवश्यकता, समय एवं परिस्थितियों के अनुसार इसमें परिवर्तन भी कर सकता है।

1.17.5 राजा के कार्य तथा शक्तियाँ

यद्यपि कौटिल्य का राजा राजतन्त्र का प्रतीक है, उसी में सम्प्रभुता निहित है। इस तरह का राजा सर्वोच्च एवं सर्वशक्तिमान है। कौटिल्य के अनुसार राजा निम्नलिखित शक्तियों एवं कार्यो का सम्पादित करता है–

1.17.5.1 प्रजा का कल्याणः– कौटिल्य के अनुसार राजा का प्रथम कर्तव्य यह है कि वह तत्परता के साथ लोक कल्याण की दिशा में सार्थक कदम उठाए। उसे एक उत्तम पिता के समाज प्रजा को पुत्रवत समझना चाहिए। कौटिल्य के शब्दों में –"प्रजा के सुख में राजा का सुख और प्रजा के हित में राजा का हित है। अपने आपको अच्छे लगने वाले कार्यो को करने में राजा का हित नहीं, बल्कि उसका हित तो प्रजाजनों को अच्छे लगने वाले कार्यो के सम्पादन करने में हैं।"

1.17.5.2 वर्णाश्रम धर्म को बनाए रखनाः– प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रम का धर्म है कि वह किसी भी प्रकार की हिंसा न करें, सत्य बोले, पवित्र बने, किसी से ईर्ष्या न करें, दयावान और क्षमाशील बना रहे। कौटिल्य का मत है कि–अपने धर्म का पालन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। राजा का यह कर्तव्य है कि वह प्रजा को धर्म के मार्ग से भ्रष्ट न होने दें।

1.17.5.3 शांति और व्यवस्था बनाए रखनाः– राजा एवं राज्य की स्थापना समाज में व्याप्त अशांति, अराजकता, अव्यवस्था एवं जीवन तथा सम्पत्ति की क्षणभंगुरता से मुक्ति पाने के लिए की गई है। अतः राजा का दायित्व बनता है कि–वह आन्तरिक एवं बाहरी दोनों ही स्तरों पर शांति–व्यवस्था बनाए रखे। इसके प्रतिकूल तत्वों पर तत्काल प्रभाव से अंकुश लगाए।

1.17.5.4 नियुक्ति करनाः– राजा प्रशासन की धुरी एवं कार्यपालिका का प्रधान होने के कारण व्यवस्था के कुशल संचालन को सुनिश्चित करने के लिए विभिन्न प्रकार के अधिकारियों की नियुक्ति करता है, जिनमें अमात्य, सेनापति, गुप्तचर आदि होते है। वह सभी कर्मचारियों के कार्यो का निरीक्षण करता है तथा योग्य कर्मचारियों की पदोन्नति करता है और आवश्यकता पड़ने पर सुविधानुसार कर्मचारियों का स्थानान्तरण करता है।

1.17.5.5 विधि–निर्माण कार्यः– राजा राज्य की विधि–निर्माण का मूल स्त्रोत होता है, उसके द्वारा बनागया गया कानून अन्तिम सर्वोच्च होता है, जिन्हें किसी भी प्रकार की चुनौति नहीं दी जा सकती। राजा विधि का निर्माण धर्म, व्यवहार, चरित्र, शासन के आधार पर करता है, जिसका मुख्य ध्येय जनता के सुखों में वृद्धि करना होता है।

1.17.5.6 न्यायिक कार्यः– राजा न्याय की मूर्ति होता है। अपील की दृष्टि से राजा ही सर्वोच्च न्यायालय है। राजा विभिन्न न्यायालयों की स्थापना करता है। वह किसी भी मामले के निर्णय में अपनी मनमानी नहीं कर सकता। राज्य में प्रचलित विधियों के अनुसार ही वह निर्णय देता है। उसका निर्णय धर्म, लोकाचार, व्यवहार और न्याय पर आधारित होता है।

1.17.5.7 दण्ड की व्यवस्थाः– राजा न्यायपालिका के द्वारा दोषी व्यक्तियों को दण्ड देने की व्याख्या करता है। दण्ड व्यवस्था का उद्देश्य जो प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त करवाना,प्राप्त किये हुए की रक्षा की गई उसमें वृद्धि करना और जिसमें की गई है, उसका उचित पात्रों में वितरण करना आदि। समाज और सामाजिक व्यवस्था दण्ड पर ही निर्भर करती है। उचित दण्ड देना राजा का पुनीत कर्त्तव्य होता है। दण्ड का उचित प्रयोग न होने की स्थिति में अराजकता को बढ़ावा मिलता है। अतः राज्य में दण्ड की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

1.17.5.8 आर्थिक कार्यः– आर्थिक क्रियाकलापों का सीधा संबंध राज्य के विकास और उन्नति के साथ जुड़ा हुआ है। अतः राजा का यह दायित्व बनता है कि आर्थिक क्षेत्र में समृद्धि के लिए हर सम्भव प्रयास करें। इसके लिए व्यापार एवं वाणिज्य का विस्तार करें, खेती और उद्योग–धन्धे को प्रोत्साहन दे, पशु–नस्ल सुधार आदि का प्रबन्ध करें। आर्थिक समृद्धि के बल पर राज्य प्रत्येक क्षेत्र में उल्लेखनीय उपलब्धि अर्जित कर सकता है।

1.17.5.9 आय–व्यय संबंधी कार्यः– राजा को आय–व्यय का पूरा लेखा और प्रबन्ध रखना चाहिए। आय–व्यय का उचित प्रबन्ध न होने की स्थिति राज्य को आर्थिक दुरावस्था की ओर ले जाती है, जिसका परिणाम सम्पूर्ण

व्यवस्थाओं को झेलना पड़ता है। राजा को यह कार्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार करना चाहिए। राज्य का सन्तुलित बजट होना चाहिए। अत्यधिक घाटे का बजट राज्य का विनाश करता है और प्रजा को गरीब बना देता है।

1.17.5.10 लोककल्याण संबंधी कार्यः– राज्य और राज्य का प्रार्दुभाव जनता के कष्टों का निवारण हेतु हुआ है। अतः राजा का दायित्व बनता है कि वह तत्परता के साथ यह कार्य करें। इसके तहत् राजा केवल सुरक्षा संबंधी कार्य नहीं करेगा अपितु वे सभी कार्य करेगा जिनका संबंध आम नागरिक के कल्याण के साथ जुड़ा हुआ है। जो दिखने में तो बहुत साधारण हैं लेकिन व्यापक महत्व लिए हुए हैं। इसके अन्तर्गत राजा दान देगा और अनाथ, वृद्ध तथा असहाय लोगों के पालन–पोषण की व्यवस्था करेगा। वह असहाय गर्भवती स्त्रियों के लिये उचित व्यवस्था करेगा, उनके बच्चों का भरण–पोषण करेगा।

1.17.5.11 युद्ध करनाः– कौटिल्य के अनुसार युद्ध करना राजा का एक प्रमुख कार्य है। उसके अर्थशास्त्र का केन्द्र एक ऐसा विजिगीषु राजा है, जिसका उद्देश्य निरन्तर नई भूमि प्राप्त कर अपने क्षेत्राधिकार वृद्धि करना है। वह राज्य के सभी आर्थिक और अन्य संस्थाओं की महत्ता इसी मापदण्ड से निश्चित करता है कि वे राज्य को किस सीमा तक सफल युद्ध के लिए तैयार करते है। इसके अलावा अर्थशास्त्र के अधिकांश अधिकरणों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से युद्ध का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार कौटिल्य राजा को व्यापक शक्तियाँ और कार्य देता है, जो उसकी सर्वोच्चता को सिद्ध करती है।

1.17.6 क्या कौटिल्य का राजा निरंकुश है?

राजा की शक्तियाँ और कार्यो के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि कौटिल्य के राजा में निरंकुशता की छाया दिखाई देती है। उनका कहना है कि जिस रूप में राजा को स्थान दिया गया है वह आगे चलकर निरंकुश में परिणित होता है, लेकिन यह धारणा सही नहीं है, यद्यपि प्राचीन भारत में राजतन्त्र ही प्रमुख शासन प्रणाली थी लेकिन कोई भी राजनीतिक विचारक निरंकुश शासन का समर्थक नहीं था। सभी ने राजा की निरंकुशता को रोकने के लिए ठोस उपाय सुझाये हैं। कौटिल्य ने भी अपनी अर्थशास्त्र में ऐसे प्रतिबन्धों का उल्लेख किया है, जो राजा की निरंकुशता पर अंकुश लगाने में सहायक हैं, जो इस प्रकार हैः–

1.17.6..1 शिक्षाः– कौटिल्य ने राजा की निरंकुशता पर एक प्रभावशाली प्रतिबन्ध राजा के व्यक्तित्व और उसे प्रदान की गई शिक्षा के आधार पर लगाया है। उन्होंने राजा के लिए अनेक मानसिक और नैतिक गुण आवश्यक बताए है। इस प्रकार सर्वगुण सम्पन्न राजा अपने स्वभाव से ही निरंकुश नहीं हो सकता। कौटिल्य ने राजा की शिक्षा पर भी बल देकर उसमें ऐसे संस्कार डालने चाहें हैं कि वह निरंकुशता का मार्ग न अपनाकर लोकहित के कार्यों में ही लगा रहे।

1.17.6.2 कठोर दिनचर्याः– कौटिल्य ने अपने राजा के लिए एक ऐसी व्यस्त और कठोर दिनचर्या का उल्लेख किया है जो उसे निरंकुश होने का समय प्रदान नहीं करता है।

1.17.6.3 प्रजा का सुख ही राजा का सुखः– कौटिल्य का मत है कि जिस कार्य या नीति के लागू करने से जनता को सुख की अनूभूति होती है, उसी में राजा का सुख एवं हित निहित है। अगर राजा प्रजा के प्रति अपने दायित्वों की अनदेखी करता हैं, प्रजा के सुख के स्थान पर स्वयं की अभिलाषा रखता है तो राजा अपने अधिकारों से वंचित कर दिया जाएगा और प्रजा उसे राजा के पद से पदच्युत कर देगी। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा हैं किः–"प्रजा के सुख में ही राजा का सुख हैं। प्रजा के हित में ही उसका हित है, राजा का अपना प्रिय या सुख कुछ नहीं है। प्रजा का सुख ही उसका सुख है।" इस प्रकार, कौटिल्य का राजा निरंकुश नहीं बन सकता।

1.17.6.4 प्रजा के हाथ में वित्तीय अधिकारः– कौटिल्य का विचार है। कि प्रजा राजा को धन–धान्य की सहायता इसलिए देती है कि राजा उनके सुखों में अभिवृद्धि करेगा और कष्टों का निवारण करेगा। अतः राजा प्रजाके धन का उपयोग निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिए खर्च नहीं कर सकता। कौटिल्य के अनुसार राजा को प्रजा पर, उसकी पूर्व अनुमति के बिना कर लगाने, तत्संबंधी धन

संचय करने तथा उसका व्यय करने का अधिकार नहीं है। यदि वह सार्वजनिक धान का दूरूपयोग करता है तो नरक का भागी होगा। राजा की स्थिति वेतन भोगी सैनिक के समान ही होती है। वह राजकोष से निश्चित वेतन ही ले सकता है। इसके अतिरिक्त राजा धर्मपूर्ण नीति से राजकोष में वृद्धि कर सकता है, अधर्म पूर्ण नीति से नहीं। इस प्रकार कौटिल्य वित्तीय संसाधन जिनकी आड़ में राजा तानाशाह बन सकता है पर भी जनता का उचित नियन्त्रण स्थापित करता है।

1.17..6.5 स्थानीय संस्थाएँः– भारत में प्राचीन काल से ही स्थानीय संस्थाओं का अस्तित्व रहा है। इन संस्थाओं को पर्याप्त मात्रा में शक्ति प्राप्त थी। इनके द्वारा जो कार्य संचालित किये जाते थे, उनका सीधा संबंध स्थानीय लोगो के साथा जुड़ा हुआ होता था। अतः से संस्थाएँ भी राजा की निरंकुशता पर अंकुश लगाने में सहायक थी।

1.17.6.6 धार्मिक नियम एवं रीति–रिवाजः– राजा धार्मिक नियमों और रीति–रिवाजों से घिरा हुआ था। वह इनका पालन करने के लिए बाध्य था। इन नियमों के उल्लंघन करनेसे प्रजा क्षुब्ध हो जाती थी। तत्कालीन जीवन में धर्म और परलोक की भावना बहुत प्रबल होने के कारण नरक का भय भी राजा को मनमानी करने से रोकता था। उसकी निजी नैतिक, धार्मिक और सामाजिक भावना उसके निरंकुश बनने से रोकती थी।

1.17.6.7 ब्राह्मण और पुरोहितः– ब्राह्मण और पुरोहित भी अपनी मंत्रणाओं द्वारा राजा पर काफी नियंत्रण रखते थे। कौटिल्य लिखता है कि–ब्राह्मण का कर्त्तव्य है कि वे राजा को समय–समय पर उसके कर्त्तव्य का स्मरण दिलाते रहे ताकि वह अपने दायित्वों के मार्ग से भटक न सकें।

1.17.6.8 मंत्रिपरिषद् का नियंत्रणः– राजा की शक्ति पर मंत्रिपरिषद् का उचित नियन्त्रण था। कौटिल्य के अनुसार राजा रूप रथ के दो चक्र–राजा और मंत्रिपरिषद् है। इसलिए मंत्रिपरिषद् राजा की शक्ति पर नियन्त्रण रख, उसे निरंकुश बनने से रोकती थी।

1.17.6.9 न्यायिक दण्डः– कौटिल्य के अनुसार राजा को न्याय–संबंधी सर्वोच्च अधिकार प्राप्त है लेकिन राजा विधि के अनुसार ही दण्ड दे सकता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के चौथे अधिकरण के तेहरवें अध्याय में स्पष्ट लिखा है कि –"जो राज अदण्डनीय व्यक्ति को दण्ड दे, प्रजा को चाहिए कि उस दण्ड का तीस गुणा दण्ड राजा से वसूल करें।" ऐसा करने से राजा के पापों की शुद्धि होती है। इस प्रकार राजा अपनी न्यायिक शक्ति का उपयोग भी स्वेच्छाचारी रूप से नहीं कर सकता।

1.17.6.10 सत्य,न्याय और धर्मः– राजा अपनी शक्तियों का प्रयोग स्वेच्छा से नही, बल्कि सत्य, न्याय और धर्म के अनुसार करता है। सत्य,न्याय और धर्म राजा की निरंकुशता पर रोक लगाती है।

1.17.6.11 जनमतः– यद्यपि राजतन्त्र में जनमत का कोई महत्व नहीं होता परन्तु सत्य, न्याय और नैतिकता और धर्म पर आधारित राजा हमेशा जनमत का सम्मान करता हैं। वह ऐसे कदम उठाने से बचेगा जो जनमत में आक्रोश भड़काते हों। अतः जनमत की शक्ति भी रजा पर नियंत्रण रखती है।

निष्कर्षः–

इस प्रकार कौटिल्य राजा को सर्वोच्च शक्ति प्रदान करता है, फिर भी राजा पूर्णरूप से निरंकुश नहीं बन सकता। प्रो. अल्तेकर का मत है कि–"कौटिल्य का राजा बहुत से लौकिक, सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक बंधनों से मर्यादित है।"

श्री कृष्णाराव का कथन है कि–"कौटिल्य का राजा अत्याचारी नहीं हो सकता, चाहे वह कुछ बातों में स्वेच्छाचारी रहे क्योंकि वह धर्म शास्त्र से सुस्थापित नियमों के अधीन रहता है।"

उपयुर्क्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि–यद्यपि कौटिल्य राजा ने सर्वोच्च शक्तियाँ प्रदान की है, फिर भी वह राजा की निरंकुशता का समर्थन नहीं है। राजा सदैव प्रजा के हित में कार्य करेगा। प्रजा के सुख में ही राजा का सुख निहित है। इस प्रकार कल्याणकारी राजा कभी भी स्वेच्छाचारी, अत्याचारी और निरंकुश नहीं बन सकता।

1.18 मंडल–सिद्धान्त

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों के द्वारा अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जो न केवल उस समय की राजनीतिक व्यवस्था के लिए अत्यधिक आवश्यक एवं समयानूकूल भी थे, अपित इन सिद्धान्तों का आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में महत्व स्वीकारकिया जा रहा है। एक सम्प्रभु राज्य को केवल आन्तरिक प्रशासन पर निगरानी की आवश्यकता नहीं होती है अपितु बाहरी मामलों अर्थात् अन्तरराज्यीय संबंधों पर उचित ध्यान देना पड़ता है ताकि कोई अन्य राज्य उस पर आक्रमण कर उसकी एकता, अखण्डता एवं सम्प्रभुता का अपहरण न कर सके। वर्तमान समय में भी प्रत्येक देश (राज्य) अपनी विदेश नीति को आधार मानकर संबंधें का निर्धारण करता है जिसका मूलभूत आधार होता है, "राष्ट्रीय हित" इसलिए यह कहा जाता है कि अन्तरराष्ट्रीय संबंधों मे स्थाई शत्रु या स्थयी मित्र नहीं होते, अपितु स्थाई होते है राष्ट्रीय हित।

भारतीय राजतन्त्र का एक प्रमुख सिद्धान्त मण्डल सिद्धान्त के नाम से जाना जाता हैं अन्तरराज्यीय संबंधों में, राज्य को उसकी भौगोलिक स्थिति के आधार पर मित्र–राष्ट्र या शत्रु राष्ट्र की संज्ञा दी गई है। इस सिद्धान्त की शुरूआत कब हुई यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वैदिक तथा ब्राह्मणिक साहित्य में भी इसका उल्लेख नहीं मिलता है लेकिन मनुस्मृति तथा

महाभारत में इसका विस्तार से विवेचन किया गया है। राज्य की सुरक्षा तथा अस्तित्व को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से कौटिल्य द्वारा अपने अर्थशास्त्र के छठे अधिकरण के दूसरे अध्याय में मंडल सिद्धान्त की विवेचना प्रस्तुत की गई है। कौटिल्य द्वारा अन्तरराज्यीय संबंधों का यह सिद्धान्त आदर्शो तथा वास्तविकता दोनो को ध्यान में रखकर इतना परिपूर्ण है कि यह सभी युगों में प्रासंगिक रहे। राज्यों के पारस्परिक संबंधों का स्वरूप निर्धारित करते हुए कौटिल्य ने मण्डल सिद्धान्त की स्थापना की।

मंडल का अर्थ है– राज्यों का वृत्त। मंडल–सिंद्धांत भारत के अनेक राज्यों को दृष्टि में रखकर ही प्रतिपादित किया गया है। यह सिद्धांत एक राजा को विजय की आकांक्षा रखने वाला समझकर उसके चतुर्दिक अन्य राज्यों के मंडल की रचना करता है।

1.18.1 बारह राज्यों का वृत

मंडल–सिंद्धांत बारह राज्यों के वृत पर आधारित है। इस सिद्धांत में मंडल का केन्द्र ऐसा राजा होता है, जो पडौसी राज्यों को जीत कर अपने में मिलाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। कौटिल्य ने ऐसे राजा को विजिगीषु राजा कहा है। मंडल में कुल बारह राज्य होते हैं– विजिगीषु, अरि, मित्र, अरि–मित्र, मित्र–मित्र, अरिमित्र–मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रंद, पार्ष्णिग्राहसार, आक्रंदासा, मध्यम और उदासीन।

<table>
<tr><td>10 अरिमित्र मित्र</td><td></td></tr>
<tr><td>9 पार्ष्णिग्राहासार</td><td></td></tr>
<tr><td>8 आक्रान्द</td><td></td></tr>
<tr><td>7 पार्ष्णिग्राह</td><td></td></tr>
<tr><td>1 विजिगीषु</td><td rowspan="2">11 मध्यम</td></tr>
<tr><td>2 अरि</td></tr>
<tr><td>3 मित्र</td><td></td></tr>
<tr><td>4 अरिमित्र</td><td></td></tr>
<tr><td>5 मित्र–मित्र</td><td rowspan="2">12 उदासीन</td></tr>
<tr><td>6 अरिमित्र–मित्र</td></tr>
</table>

भौगोलिक दृष्टि से विजीगीषु मंडल के मध्य में रहता है। अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्र–मित्र और अरिमित्र–मित्र ये पांच राज्य विजिगीषु के सामने तथा पार्ष्णिग्राह, आक्रांद, पार्ष्णिग्राहासार और आक्रंदासार– ये चार राज्य उसके पीछे रहते हैं। शेष दो राज्य–मध्यम और उदासीन–बगल में कहीं भी रह सकते हैं।

कौटिल्य के शब्दों में,–"विजिगीषु राजा की विजय–यात्रा में आगे क्रमशः शत्रु, मित्र, अरिमित्र, मित्र–मित्र और अरिमित्र मित्र–ये पांच राजा आते हैं। इसी प्रकार उसके पीछे क्रमशः पार्ष्णिग्राह, आक्रांद, पार्ष्णिग्राहसार और आक्रांदासार– ये चार राजा होते हैं। विजिगीषु राजा के सहित आगे–पीछे के राजाओं को मिलाकर एक राजमंडल कहलाता है।"

मंडल के बारह राज्यों का उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है–

1.18.1.1 विजिगीषुः– अपने राज्य के विस्तार की आकांक्षा रखने वाला राजा विजिगीषु कहलाता है। इसका स्थान मंडल के बीच में होता है।

1.18.1.2 अरिः– विजिगीषु के सामने की ओर उसके साथ लगा हुआ राज्य उसका शत्रु होता है। इसलिए वह अरि कहलाता है। भारत–पाकिस्तान, भारत–चीन, इजरायल–अरब देश आदि इस दृष्टि से एक–दूसरे के शत्रु है।

1.18.1.3 मित्रः– अरि के सामने का राज्य मित्र कहलाता है, जो विजिगीषु का मित्र और अरि का शत्रु होता है। पाकिस्तान और चीन की मित्रता भी इसी कारण है कि दोनों भारत को अपना अरि मानते हैं।

1.18.1.4 अरिमित्रः– मित्र के सामने वाला राज्य अरिमित्र कहलाता है। क्योंकि वह अरि का मित्र होता है और इसलिए विजिगीषु के साथ भी उसे मित्रता होती है।

1.18.1.5 मित्र–मित्रः– अरिमित्र के सामने वाला राज्य मित्र–मित्र कहलाता है, वह मित्र राज्य का मित्र होता है और इसलिए विजिगीषु के साथ भी उसे मित्रता होती है।

1.18.1.6 अरिमित्र–मित्रः– मित्र–मित्र सामने वाला राज्य अरिमित्र–मित्र कहलाता है। क्योंकि, वह अरिमित्र राज्य का मित्र होता है और इसलिए अरि राज्य के साथ भी उसका संबंध मैत्रीपूर्ण होता है।

1.18.1.7 पार्ष्णिग्राहः– विजिगीषु के पीछे जो राज्य रहता है, वह पार्ष्णिग्राह कहलाता है। अरि की तरह विजिगीषु का शत्रु ही होता है।

1.18.1.8 आक्रंदः– पार्ष्णिग्राह के पीछे जो राज्य होता है, उसे आक्रंद कहा जाता है। वह विजिगीषु का मित्र होता है।

1.18.1.9 पार्ष्णिग्राहासारः– आक्रंद के पीछे वाला राज्य पार्ष्णिग्राहासार कहलाता है। और यह पार्ष्णिग्राह का मित्र होता है।

1.18.1.10 अरिमित्र मित्र– मित्र मित्र सामने वाला राज्य अरिमित्र कहलाता है। क्योंकि यह परिचित राज्य का मित्र होता है इसलिए अरिराज्य के साथ इसके संबंध मैत्रीपूर्ण होते है।

1.18.1.11 मध्यमः– मध्यम ऐसा राज्य है, जिसका प्रदेश विजिगीषु और अरि राज्य दोनों की सीमा से लगा हुआ रहता है। वह विजिगीषु और अरि दोनों से अधिक शक्तिशाली होता है। वह दोनों की सहायता भी करता है और आवश्यकता पड़ने पर दोनों का अलग–अलग मुकाबला भी करता है।

1.18.1.12 उदासीनः– उदासीन राजा का प्रदेश विजिगीषु, अरि और मध्यम इन तीनों राज्यों की सीमाओं से परे होता है। यह बहुत शक्तिशाली राज्य होता है। उपर्युक्त तीनों के परस्पर मिले होने की दशा में वह उनकी सहायता कर सकता है, उनके परस्पर न मिले होने की दशा में वह प्रत्येक का मुकाबला भी कर सकता है।

इस प्रकार कौटिल्य कहता है कि राजा को राज्य की दृष्टि और स्थिति को ध्यान में रखकर नीति का निर्धारण करना चाहिए, ऐसा करने से राज्य के हितों में उत्तरोत्तर वृद्धि हो सकती है और राज्य एक शक्ति के रूप में उभरकर अपनी पहचान कायम कर सकता है।

1.18.2 मंडल सिद्धांत का विश्लेषण

मंडल सिद्धांत की उपर्युक्त विवेचना से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं–

प्रथम, यद्यपि मंडल शब्द बारह राज्यों के समूह के एक वृताकार क्षेत्र की ओर संकेत करता है, तथापि उन राज्यों के स्थान की कल्पना एक सीधी रेखा में भी की जा सकती है।

द्वितीय, मंडल सिद्धांत में राज्यों का नामकरण किया गया है। ये सभी नाम परिस्थितियों और समयानुसार बदल सकते हैं। एक ही राज्य परिवर्तित स्थिति के कारण विजिगीषु या अरि या मित्र भी हो सकता है।

तृतीय, मंडल के निर्माण के लिए बारह राज्यों का होना आवश्यक नहीं है। काल और परिस्थितियों के अनुसार राज्यों की संख्या में कमी या वृद्धि हो सकती है। संख्या बारह तो केवल इस बात का सूचक है कि यदि कोई राज्य अपने समीप स्थित राज्य को युद्ध द्वारा अधीनस्थ करना चाहे, तो वैसी स्थिति में बारह संभावित संबंधों की कल्पना की जा सकती है।

चतुर्थ, मध्यम और उदासीन राज्यों को छोड़कर मंडल के अन्य सभी राज्यों की शक्ति प्रायःसमान होती है। इस प्रकार, मंडल शक्तिशाली राज्यों का एक समूह होता है, जो दो विरोधी गुटों में विभक्त रहता है और जहाँ एक गुट का नेता समस्त मंडल पर सर्वोच्चता स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

पंचम, मंडल सिद्धांत शक्ति संतुलन के सिद्धांत पर आधारित है,डॉ. अल्तेकर का मत है कि–"प्राचीन विचारक यह जानते थे कि युद्धों को पूर्ण रूप से समाप्त नहीं किया जा सकता। अतः उन्होंने इसके खतरों को कम करने के लिए एक ऐसे सिद्धांत का समर्थन किया, जिसके अनुसार देश विद्यमान अनेक छोटे नए राज्यों में शक्ति का विवेकपूर्ण संतुलन बना रह सके और युद्ध न हो।"

षष्ठ, दुर्बल राज्यों को अपने पड़ौसी शक्तिशाली राज्यों से सतर्क रखने और उनकी विस्तार नीति से अपनी रक्षा हेतु समान राज्यों से मैत्री स्थापित करने के लिए मंडल बनाने की सलाह दी है।

सप्तम्, मंडल सिद्धांत के अनुसार एक राज्य अपने पड़ौसी का शत्रु और उसके पड़ौसी का मित्र होता है। मित्र के बाद अरिमित्र, उसके आगे मित्र–मित्र तथा उसके पश्चात् अरिमित्र–मित्र रहते हैं।

1.18.3 मंडल सिद्धांत एवं वर्तमान अन्तरराष्ट्रीय राजनीति

कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत मंडल सिद्धांत न केवल उस समय के राजाओं के लिए तैयार किया गया था अपितु इस सिंद्धांत का आज भी महत्व बना हुआ है। वर्तमान एक ध्रुवीय विश्व राजनीति में संयुक्त राज्य अमरीका का वर्चस्व देखा जा सकता है, जिसकी कल्पना हम कौटिल्य के विजिगीषु राज्य से कर सकते हैं, जो अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में अपना उत्तरोत्तर प्रभाव बढ़ा रहा है।

1.18.4 मंडल सिद्धांत का मूल्यांकन

मंडल सिद्धांत के व्यापक महत्व के बावजूद इसकी निम्नलिखित रूप से आलोचनाएँ की जाती हैं–

1.18.4.1 भौगोलिक दृष्टि से महत्व समाप्तः– आलोचकों का मत है कि भौगोलिक दृष्टि से आज मंडल–सिद्धांत का महत्व समाप्त हो गया है, क्योंकि, यह सिद्धांत भारत के अनेक राज्यों को दृष्टि में रखकर रचा गया है, जबकि वर्तमान में सारा भारत एकता के सूत्र में बंधा हुआ है।

1.18.4.2 पड़ौसी देश एक–दूसरे का शत्रु नहीः– मंडल सिद्धांत के अनुसार पड़ौसी राज्य एक–दूसरे का शत्रु होता है लेकिन आधुनिक समय में स्थिति विपरीत है आज प्रत्येक प्रभावशाली राज्य की प्राथमिकता अपने पड़ौसी राज्यों से मित्रतापूर्वक संबंध स्थापित करने की रही है। जैसे– भारत जो अपने पड़ौसी देशों के साथ संबंधों में सुधार करने की हर सम्भव पहल कर रहा है। चाहे पड़ौसी देश कितनी भी उसके प्रति नकारात्मक सोच क्यों न रखते हों। इस संबंध में यद्यपि भारत का प्रत्येक प्रधानमंत्री का प्रयास उल्लेखनीय रहा है जैसे– इन्द्रकुमार गुजराल द्वारा इस संबंध में जो नीति अपनायी उसे 'गुजराल सिद्धांत' के नाम से पुकारा जाता है और अटल बिहारी वाजपेयी ने भी इस संबंध में सफल प्रयास किये वर्तमान प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी भी इस दिशा में सकारात्मक प्रयास कर रहे हैं।

1.18.4.3 केवल सीमा के आधार पर संबंधों का निर्धारण नहीं:– वर्तमान समय में, जबकि व्यापारिक तथा आर्थिक हित और विचारधारा संबंधी भेद भी संघर्ष के कारण होने लगे है। ऐसी स्थिति में, केवल सीमा के आधार पर राज्यों के पारस्परिक संबंधों की व्याख्या नहीं की जा सकती।

1.18.4.4 विजिगीषु राज्य का कोई स्थान नहीं:– आज के युग में विजिगीषु राज्य का कोई स्थान नहीं है। उसकी विस्तार नीति और युद्ध नीति को किसी भी कीमत पर अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था स्वीकार नहीं कर सकती। यदि कोई देश ऐसा करने का प्रयास करता है तो उसे व्यापक अन्तरराष्ट्रीय प्रतिरोध का सामना करना पड़ सकता है और आवश्यकता पड़ने पर उसे अन्तरराष्ट्रीय बिरादरी से भी बाहर कर प्रतिबंध लगाये जा सकते हैं।

1.18.4.5 स्थाई शत्रु या मित्र की धारणा गलतः– वर्तमान अंतरराष्ट्रीय राजनीति के संबंध में यह कहा जाता है कि स्थाई शत्रु या स्थाई मित्र नहीं होते, बल्कि स्थाई होता हैं राष्ट्रीय हित और इसे ही आधार मानकर एक राष्ट्र अपनी नीति का निर्धारण करता

है। इसमें एक राष्ट्र अपने शत्रु के भी इतना निकट चला जाता है। जिसकी कल्पना हम नहीं कर सकते, जैसे संयुक्त राज्य अमेरीका और चीन या भारत के बीच नवें दशक तक संबंध कड़वाहट भरे रहे लेकिन दोनों पक्षों को अन्तरराष्ट्रीय बाध्यताओं के चलते संबंधों में मधुरता लानी पड़ी। इस प्रकार मण्डल सिद्धांत के चिर मित्र सर चिर शत्रु की धारणा नाकारा सिद्ध हो रही है।

1.18.5 मंडल सिद्धांत का महत्व

उपर्युक्त आलोचनाओं से यह नहीं समझना चाहिए कि कौटिल्य के मंडल सिद्धांत का कोई महत्व नहीं है। वस्तुतः यदि मंडल सिद्धांत का मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में करें, तो कौटिल्य के मंडल सिद्धांत की सार्थकता सिद्ध होगी।

निष्कर्ष :– इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मंडल सिद्धांत कौटिल्य की विदेश–नीति संबंधी सुझ–बूझ और व्यावहारिक राजनीति में उसकी दक्षता तथा दूरदर्शिता का परिचायक है। मंडल–सिद्धांत अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के मूलभूत सिद्धांतों और वास्तविक तथ्यों तथा घटनाओं पर आधारित है। कौटिल्य का मंडल–सिद्धांत आज भी विदेश नीति का स्थायी प्रकाश स्तम्भ है।

1.19 षाड्गुण्य नीति

कौटिल्य अपने राजा का केवल राज्य की सीमा के भीतर प्रभावशाली नहीं बनाना चाहता था, अपितु उनकी सोच व्यापकता लिये हुए थी। कौटिल्य के विचार में राजा को अन्तरराज्यीय संबंधों को कुशलता एवं दुरदर्शिता के साथ लागू करना चाहिए। सफल कूटनीति के होने से राजा अपना प्रभाव बिना किसी युद्ध के बढ़ा सकता हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के सप्तम् अधिकरण में विदेशी नीति या परराष्ट्र नीति विदेशी राज्यों के प्रति व्यवहार के संबंध में षाड्गुण्य नीति अर्थात् छह लक्षणों वाली नीति का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त में प्राचीन भारत की राजनीति में अधिराज और अधीनस्थ राज्यों के संबंधों को संचालित करने की समस्या पर विशेष ध्यान दिया गया है। इसे कौटिल्य के राज्य शिल्प की कुंजी

कहा जा सकता है। इस संदर्भ में, कौटिल्य, प्लेटो, अरस्तु, केकियावेंली और दूसरे पाश्चात्य विचारकों से भी आगे है। आचार्य मनु द्वारा भी मनुस्मृति में षाड्गुण्य नीति का उल्लेख किया गया है।

कौटिल्य के राजनीतिक चिन्तन में कूटनीति और राज्य शिल्प की नींव भौगोलिक और आर्थिक तत्वों के आधार पर रखी गई है। इसमें सन्देह नहीं है कि भारत के विस्तृत मैदानी इलाके पर बड़े–बड़े राज्यों के विकास की सम्भावना थी, फिर भी प्राचीन काल में संचार और परिवहन उन्नत साधनों के अभाव में कोई केन्द्रीय सरकार अधिक दूर तक अपना नियंत्रण नहीं रख सकती थी। अतः यह देश प्रायः छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त था और प्रत्येक राज्य अपने पड़ौसी राज्य को हड़पने के लिए तैयार रहता था। राज्य के विस्तार की आकांक्षा शक्तिशाली राज्यों का लक्षण थी, जबकि कम शक्तिशाली राज्य अपनी स्वाधीनता कायम रखने के लिए अधिक

शक्तिशाली राज्यों के साथ समझौता कर लेते थे। शक्तिशाली राजा अपने अधिपत्य की आकांक्षा की पूर्ति के लिए कूटनीति का प्रयोग करते थे। जिसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

1.19.1 षाड्गुण्य नीति की परिभाषा

कौटिल्य ने षड्गुणों को निम्नलिखित शब्दों में परिभाषित किया है–"उनमें दो राजाओं का कुछ शर्तो पर मेल हो जाना संधि, शत्रु का कोई अपकार करना विग्रह, उपेक्षा करना आसन, चढ़ाई करना यान, आत्मसमर्पण करना सश्रय और संधि विग्रह दोनों से काम लेना द्वैधीभाव कहलाता है– यही छहगुण है।"

1.19.2 षाड्गुण्य का प्रयोग

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में उन तथ्यों का भी उल्लेख किया है कि इसका प्रयोग कब करना चाहिए? इस संबंध में कौटिल्य ने कहा है कि,"शत्रु की तुलना में अपने को निर्बल समझने पर संधि कर लेनी चाहिए। शत्रु की तुलना में स्वयं को बलवान समझने पर विग्रह कर लेना चाहिए, शत्रु बल और आत्मबल में कोई अन्तर न समझे तो आसन को अपना लेना चाहिए। यदि स्वयं को सर्वसमपन्न

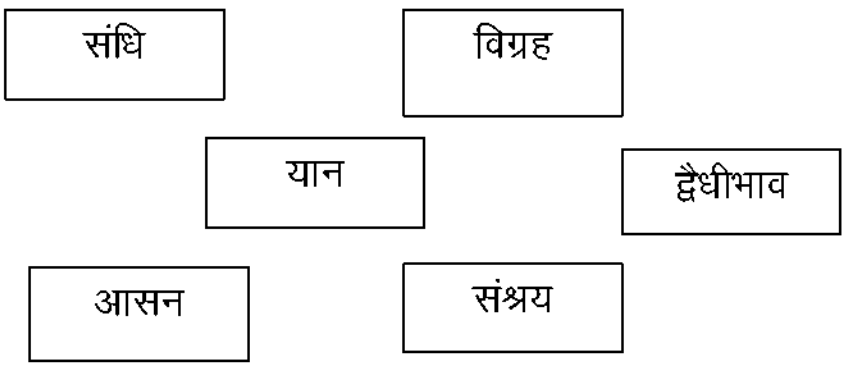

- ❖ राज्य के हितों के अभिवृद्धि करने वाले प्रमुख साधन है।
- ❖ राजा से अपेक्षा की जाती है कि वह इन साधनों को प्रयोग सावधानी पूर्वक करेगा।
- ❖ विग्रह का प्रयोग अन्तिक विकल्प के रूप में ही होना चाहिए।

और शक्ति सम्पन्न समझें तो चढ़ाई (यान) कर देना चाहिए और अपने को निरा अशक्ति समझने पर संश्रय से काम लेना चाहिए। यदि सहायता की अपेक्षा समझे तो द्वैधीभाव को अपनाना चाहिए।"

कौटिल्य आगे यह भी कहता है कि देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार इस षाड्गुण्य नीति में परिवर्तमान किया जा सकता है। इन सभी का मूल उद्देश्य राज्य द्वारा अपने हितों की अभिवृद्धि करना है।

1.19.2.1 संधिः– संधि दो राजाओं के बीच हुए समझौते को कहते है। कौटिल्य के अनुसार किसी भी राजा के लिए संधि करने की नीति का उद्देश्य अपने शत्रु को नष्ट करना और स्वयं को शक्तिशाली बनाना होता है। उसके अनुसार शत्रु से भी उस समय संधि कर ली जानी चाहिए, जब शत्रु पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती हो और स्वयं को सबल तथा शत्रु को निर्बल करने के लिए कुछ समय प्राप्त करना आवश्यक हो। इसके अलावा कौटिल्य अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार की संधियों का उल्लेख करता है।

1.19.2.2 विग्रय या युद्धः– विग्रह का अर्थ युद्ध है। इस नीति का अनुसरण राजा को तभी करना चाहिए जब वह अपनी शक्ति के बारे में पूर्णतया आश्वस्त हो और शत्रु को कमजोर देखे, उसके सैनिकों तथा राज्य की युद्ध संबंधी व्यवस्थाएं पूर्ण हो, राज्य की आक्रामक तथा प्रतिरक्षातमक तैयारियों में कोई कम न हो। युद्ध की नीति का अनुसरण करने से पूर्व राज्य मण्डल के मित्र–राज्यों की सहायता के बारे में भी राजा को पूर्णतया आश्वस्त हो जाना चाहिए। विग्रह की नीति अपनाते हुए शत्रु भूमि के भागों पर तुरन्त नियन्त्रण स्थापित करना चाहिए। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के सातवें अधिकरण के छठे अध्याय में युद्ध के तीन प्रकार बताये है। (क)प्रकाश युद्ध (ख)कूट युद्ध (ग)तृष्णी युद्ध

1.19.2.3 यानः– यान का अभिप्रायः वास्तविक आक्रमण है। इस नीति का उपयोग तभी करना चाहिए, जबकि राजा अपनी शक्ति को सुदृढ़ देखे और उसे यह विश्वास हो जाए कि शत्रु का नाश करना आवश्यक है और बिना शत्रु को वश में करना सम्भव नहीं है।

1.19.2.4 आसन या तटस्थताः– किसी समय की प्रतीक्षा में चुपचाप बैठे रहना आसन अर्थात् तटस्थता है। अपनी वृद्धि के लिये चुपचाप बैठे रहना भी आसन कहलाता है। राजा आसन की नीति तभी अपनाता है, जब वह यह समझता है कि इतना समय नहीं है कि शत्रु का नाश कर सके और न ही शत्रु इतना प्रबल कि उसका नाश किया जा सके। आसन की नीति अपनाते हुए उसे अपनी शक्तियों में अभिवृद्धि करने की चेष्टा रखनी चाहिए। यदि राजा आसन की आड़ में हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे और अन्य अन्तरराज्यीय घटनाओं को मूल दर्शक की भाँति देखता है तो उससे कमजोर और कायर राजा कोई और नहीं हो सकता। आसन के दो प्रकार होते है–

(क) विग्रह आसनः– जब विजिगीषु और शत्रु दोनो ही संधि करने की इच्छा रखते हों और परस्पर एक–दूसरे को नष्ट करने की शक्ति न रखते हों तो कुछ काल युद्ध चुपचाप बैठ जाते है।

(ख) सन्धाय आसनः–जब संधि करके चुप बैठते है।

1.19.2.6 द्वैधीभावः– द्वैधीभव की नीति से कौटिल्य का अभिप्राय किसी राजा द्वारा एक के साथ संधि और दूसरे के साथ विग्रह करने से है। यदि राजा यह समझे की इस नीति का अनुसरण करने से यदि वह अपने को बलवान तथा शत्रु को निर्बल बना सके तो अपनाना चाहिए ताकि वह अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ा सके तथा शत्रु का अपकार करने में समर्थ हो सके।

1.20 शांति–स्थापना की अन्तरराज्यीय नीति के उपाय

अन्तरराज्यीय सबंबंधें के सफल संचालन के लिए प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों के द्वारा सात, उपायों की गणना की है। इसमें "साम","दाम","दण्ड","भेद","माया","उपेक्षा", तथा "इन्द्रजल" को शामिल किया गया है। कौटिल्य ने इनमें से चार उपायों को महत्व प्रदान किया है। तद्नुसार, मंडल के तहत, राजनीति का संचालन जिन साधनों के द्वारा किया जाना था, उनमें साम, दाम, दण्ड तथा भेद चारों थे। जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

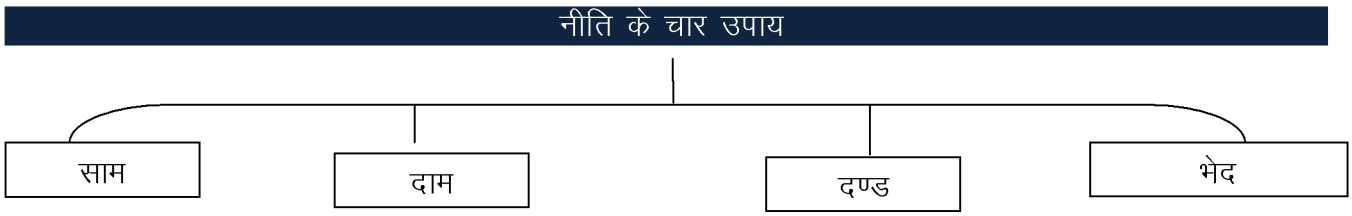

1.20.1 साम

"साम" अर्थात् शांति की नीति। अपने से अधिक शक्तिशाली राजा के प्रति यही नीति उपयुक्त है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि अधिक शक्तिशाली राजा से युद्ध मोल लेकर अपना सर्वनाश ही किया जा सकता है, हित नहीं किया जा सकता।

1.20.2 दाम

"दाम" अर्थात् धन देकर अपने से शक्तिशाली राजा को संतुष्ट करने का तरीका ताकि वह आक्रमण के लिए तत्पर न हो।

1.20.3 दंड

"दंड" अर्थात् बल प्रयोग। अपने से निर्बल राजा से युद्ध करके या उस पर दबाव डालकर आधिपत्य कायम कने की नीति।

1.20.4 भेद

"भेद" अर्थात् आसपास के राजाओं के बीच आपस में फूट डाल देने की नीति ताकि वे आपस में ही उलझे रहें, एक–दूसरे की शक्ति का उन्नमूलन करते रहें और उनमें भेद पैदा करने वाला उन पर सुख पूर्वक राज्य करें।

निष्कर्ष :–

कौटिल्य ने लिखा है कि निर्बल राजा को "साम" और "दाम" की नीति का प्रयोग करना चाहिए, जबकि बलवान राजा को "दण्ड" और "भेद" की नीति से बहुत लाभ होगा। कुछ भी हो, कूटनीति की ये सारी विधियाँ साधारण नैतिकता की कसौटी पर खरी नहीं उतरती है। इस तरह कौटिल्य ने राजनीति को साधारण नैतिकता के बंधनो से मुक्त रखा है। इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत यूरोपीय दार्शनिक मेकियावैली (1469–1527) के विचारों का पूर्व संकेत मिलता है। कौटिल्य ने छलकपट और छिपकर मंत्रणा देने की विधि को भी राज्य शिल्प का वैध तरीका स्वीकार किया है। यह बात महत्वपूर्ण है कि कौटिल्य तथा अन्य प्राचीन भारतीय विचारकों ने केवल उन लोगों के छलकपट की नीति अपनाने का समर्थन किया है जो राज्य के विध्वंस पर तुले हो। इस तरह उनकी दृष्टि में छल–कपट राजनीति का एक मात्र तरीका नहीं था, बल्कि यह "आपद्धर्म" का मार्ग था, अर्थात् केवल आपत्ति या संकट के समय यह रास्ता अपनाने की अनुमति दी गई थी।

1.21 गुप्तचर–व्यवस्था

गुप्तचर–व्यवस्था राजा एवं राज्य दोनों के लिए लाभप्रद होती है, क्योंकि जब कभी कोई इनके विरूद्ध षडयंत्र रचने का प्रयास करते है तो तत्काल उसे दबाया जा सकता है। इसलिए गुप्तचर–व्यवस्था भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग रही है। ऋग्वेद और अर्थवेद में गुप्तचरों का उल्लेख मिलता है। तरूण और अग्नि के अनेक गुप्तचर थे। रामायण और महाभारत में भी गुप्तचरों का वर्णन किया गया है। प्राचीन काल में अनेक राजनीतिक समस्याओं का समाधान गुप्तचरों के माध्यम से किया जाता था। लेकिन, कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण के दसवें और ग्याहरवें अध्याय में गुप्तचर–व्यवस्था का सविस्तार वर्णन किया है।

1.21.1 गुप्तचरों का वर्गीकरण

कौटिल्य के अनुसार गुप्तचर दो प्रकार के होते है–1. स्थायी गुप्तचर और 2. भ्रमणशील गुप्तचर

1.21.1.1 स्थायी गुप्तचरः– संस्था गुप्तचरः– कौटिल्य ने स्थायी गुप्तरचर को पाँच श्रेणियों में विभक्त किया है–

1. **कापटिक गुप्तचरः–** दूसरों के रहस्यों को जानने वाला, बड़ा दबंग और विद्यार्थी की वेश–भूषा में रहने वाला गुप्तचर कापटिक कहलाता है।
2. **उदास्थित गुप्तचरः–** बुद्धिमान, सदाचारी, सन्यासी के वेष में रहने वाले गुप्तचर का नाम उदास्थित था।

3. **गृहपति गुप्तचरः–** बुद्धिमान, पवित्र ह्यदय और गरीब किसान के वेष में रहने वाले गुप्तचर को गृहपतिक गुप्तचर कहते है।
4. **वैदेहक गुप्तचरः–** बुद्धिमान, पवित्र ह्यदय और गरीब व्यापारी के वेष में रहने वाले गुप्तचर वैदेहक गुप्तचर कहते है।
5. **तापस गुप्तचरः–** जीविका के लिए सिर मुंडाए या जटा धारण किए हुए, राज का कार्य करने वाला गुप्तचर तापस कहलाता है।

1.21.1.2 भ्रमणशील गुप्तचर–संचार गुप्तचरः– कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के पहले अधिकरण के ग्याहरवें अध्याय में गुप्तचर का वर्णन किया है। वे है–1. सत्री 2. तीक्ष्ण 3. रसद तथा 4. परिव्राजिका

उपयुर्क्त गुप्तचरों के अलावा कौटिल्य ने राजा को विषकन्या रखने का भी परामर्श दिया है। विषकन्या विष खिलाकर पाली जाती थी। शत्रु के पास उसे भेजा जाता था और वह अपने रूप, यौवन, मुस्कान तथा हावभाव से आकर्षित कर उसे विषय–भोग के लिए तैयार कर लेती थी। जब शत्रु विष कन्या से संभोग करता था तो तड़प–तड़प कर मर जाता था।

1.21.2 गुप्तचरों के कार्यः– कौटिल्य ने गुप्तचरों के प्रमुख कार्यो का निम्नलिखित रूप से उल्लेख किया है–

1. मूल्यवान सूचनाएँ प्राप्त करना, अफवाहों तथा वास्तविकता को जानना तथा उन्हें राजा तक पहुंचानां।
2. राज व्यवस्था में बाधक अवांछनीय षड़यन्त्रकारी तत्वों का पता लगाना अर्थात सुदृढ़ता व सामाजिक मेल–मिलाप को बनाये रखना।
3. अपने देश में शत्रुओं की गतिविधियों का पता लगाना तथा उनकी योजनाओं को विफल करना।
4. अमात्यों की शत्रुता की जांच करना।
5. प्रजा की मनःस्थिति का पता लगाना–जनमत का निर्माण करना।
6. दुष्ट लोगों का पता लगाना।
7. राजनीतिक हत्याएँ करवाना।
8. शत्रु देश में भेद उत्पन्न करवाना।
9. गुप्तचर से प्राप्त सूचनाओं का सत्यापन।
10. गुप्तचर उच्च–अधिकारियों और समस्त राज्य कर्मचारियों के आचरण की शुद्धता का पता लगाकर राजा को सूचित करता रहता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पहले अधिकरण के दसवें अध्याय में स्पष्ट कहा है कि–"राज्य में कर्मचारियों और प्रजा की शुद्धता जानने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति की जाए। राजा धन और मान द्वारा गुप्तचरों को सदा सन्तुष्ट रखें।"

निष्कर्षः–

उपयुर्क्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में गुप्तचर–व्यवस्था का विश्लेषण बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया हैं। स्थायी और भ्रमणशील गुप्तचर की श्रेणियाँ अपना विशेष महत्व रखती है। कौटिल्य ने गुप्तचरों के महत्वपूर्ण कार्यो को स्पष्ट किया है। वह उनकी पैनी दृष्टि का परिचायक है। उसकी दृष्टि में राज्य की सुरक्षा के लिए एक सुसंगठित गुप्तचर व्यवस्था अति आवश्यक है। इस प्रकार आधुनिक राज्य की गुप्तचर व्यवस्था कौटिल्य के विचारों पर आधारित है।

1.22 कौटिल्य के धार्मिक विचार

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के अनेक प्रसंगों में धर्म शब्द का प्रयोग किया है। उसने धर्म की परिभाषा दायित्वों के ऐसे केन्द्र तथा आचार संहिता के रूप में की जो समाज तथा राज्य दोनों को पोषित करती है। इन सबकी जानकारी उनकी राजनैतिक विचारधारा को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। धर्म भारतीय समाज और राजनीति का महत्वपूर्ण पहलू हमेशा से रहा है, ऐसा माना जाता है कि संगठित समाज की संरचना में धर्म का व्यापक योगदान रहा है, जिससे लोगों को नैतिकता, अनुशासन एवं कर्तव्यों के बारे में जानकारी मिलती है।

1.22.1 धर्म का अर्थ

धर्म शब्द मूल धृ से उत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ धारण करना होता है। दूसरे शब्दों में धर्म वह सार है, जो किसी वस्तु का पोषण करता या जीवित रखता है। इस प्रकार धर्म मनुष्य को सही दिशा प्रदान करते हुए जीना सिखाता है।

1.22.2 धर्म का प्रयोग

कौटिल्य ने धर्म का प्रयोग तीन अर्थो में किया है:–

1.22.2.1 सामाजिक कर्तव्य के रूप में:– सामाजिक कर्तव्य के रूप में कौटिल्य का विचार है कि एक आदर्श राजा का धर्मनिष्ठ होना चाहिए और उसे धर्म की रक्षा करनी चाहिए। धर्म का उल्लंघन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को दण्डित करना चाहिए, क्योंकि धर्म के नाश होने से राजा पर विपत्ति आती है। कौटिल्य ने लिखा है कि अपने धर्म का पालन करने से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए राजा का कर्तव्य बनता है कि वह प्रजा को धर्म और कर्म के मार्ग से भ्रष्ट न होने दें।

1.22.2.2 नैतिक कानून के रूप में:– कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के तीसरे अधिकरण के प्रथम अध्याय में धर्म को सत्य पर आधृत नैतिक कानून के रूप में प्रयोग किया है। उसके अनुसार किसी विवाद का निर्णय चार उपायों द्वारा किया जा सकता है– धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजाज्ञा। उनमें धर्म सच्चाई में, व्यवहार साक्षियों में, चरित्र समाज में और राजाज्ञा राजकीय शासन में स्थित रहती है। जहाँ भी व्यवार व चरित्र का धर्म के साथ विरोध होता है, वहां धर्म को ही प्रमाण माना जाता है, क्योंकि कौटिल्य का कथन है कि धर्मपूर्वक प्रजा पर शासन करना ही राजा का निजी धर्म है। वही उसको स्वर्ग तक ले जा सकता है। इसके विपरीत प्रजा की रक्षा न कर उसको पीड़ा पहुँचाने वाला राजा कभी सुखी नहीं रहता। धर्म, व्यवहार, चरित्र और न्यायपूर्वक शासन करता हुआ राजा सारी पृथ्वी का स्वामित्व प्राप्त करता है। इस प्रकार यहां कौटिल्य ने धर्म का प्रयोग नैतिक कानून के रूप में भी किया है।

1.22.2.3 नागरिक कानून के रूप में:– कौटिल्य के अर्थशास्त्र के तीसरे अधिकरण का नाम ही धर्मस्त्रीय रखा है। इसके अन्तर्गत उसने विवाह, तलाक, ऋण, उत्तराधिकार, क्रय–विक्रय, चोरी–डकैती, मार–पीट आदि नागरिक कानूनों का वर्णन किया गया

है। इन नागरिक कानूनों की व्याख्या करने वाले न्यायधीशों को कौटिल्य ने धर्मशास्त्र की संज्ञा दी है। इस प्रकार, उसने धर्म का प्रयोग नागरिक कानून के रूप में किया है।

1.22.3 धर्म तथा राजनीति

कौटिल्य ने धर्म तथा राजनीति के घनिष्ठ एवं अटूट संबंधों का उल्लेख किया है और राजनीतिक सिद्धान्तों एवं व्यवस्थाओं को धर्म के अनुसार चलाने पर बल दिया है। जिसका उल्लेख निम्नलिखित शीर्षकों द्वारा किया जा सकता है–

1.22.3.1 आन्तरिक नीति:– कौटिल्य के अनुसार राज्य की आन्तरिक नीति धर्म से प्रभावित रहती है। आन्तरिक नीति के क्षेत्र में कौटिल्य का राज्य वेदों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने का प्रयास करता है। धर्म क्या है? अधर्म क्या है? इस का निर्धारण तीनों वेदों द्वारा किया जा सकता है। प्रत्येक वर्ण स्वधर्म का पालन करता है, जो उसका उल्लंघन करता है, उसे राज्य दण्ड देता है। जो प्रजा वर्ण और आश्रम के नियमों का पालन करती है और जो वेदों के अनुसार चलती है, वह प्रजा सदा सुखी रहती है और उसका कभी भी नाश नहीं होता। विवादों का निर्णय धर्म के अनुसार होता है। कौटिल्य का मत है कि धर्म पर आधारित राज्य ही स्थायी और सुदृढ़ होता है।

1.22.3.2 विदेश नीति:– विदेश नीति के निर्धारण में भी धर्म का प्रभाव पड़ता है। नए राज्य प्राप्त करने पर विजिगीषु सदा अपने धर्म, कर्म, अनुग्रह, करमाफी, दान, सम्मान आदि श्रेष्ठ कार्यो से प्रजा की भलाई करें। राजा अपने प्रजाजनों के समान ही शील, वेष, भाषा और आचरण का व्यवहार करें और प्रजा के विश्वासों की तरह राष्ट्र देवता, समाजोत्सव तथा विहारों से अपनी भक्ति भावना रखें। विजिगीषु राजा, समुचित राज–भाग, कर माफी और सुख सुविधाएँ देकर प्रजा की रक्षा करें। वह सभी धर्मो के देवताओं और आश्रमों की पूजा कराए तथा विद्वानों, वक्ताओं तथा धर्मपरायण व्यक्तियों को भूमि तथा द्रव्य देकर उनसे किसी भी प्रकार का राजकर वसूल न करें।

1.22.3.3 देवताओं को राज्य संरक्षण:– कौटिल्य के अनुसार अनेक देवताओं को राज्य का संरक्षण प्रदान किया गया है और उनकी पूजा की व्यवस्था की गई है। राजधानी के उत्तरी भाग में नगर देवता, राजकुल देवता और ब्राह्मणों का वास स्थापना होना चाहिए। कौटिल्य ने लिखा है कि– दुर्गा, विष्णु, जयन्त, इन्द्र शिव, वरूण,

अश्विनी कुमार, लक्ष्मी और मदिरा– इन देवताओं की स्थापना करनी चाहिए। प्रत्येक दिशा के मुख्य द्वार पर उसके अधिष्ठता देवता की स्थापना की जाए। उत्तर के देवता ब्रह्म, पूर्व का इन्द्र दक्षिण का यम और पश्चिम का सेनापति होता है।

1.22.4 राजनीति धर्म का श्रेष्ठ

कौटिल्य अपने राजनीतिक विचारों को धर्म पर आधारित बनाता है लेकिन अनेक मामलों में वे राजनीति को धर्म से श्रेष्ठ मानते है। जिसका विवेचन निम्नलिखित रूप मं किया जा सकता है।

1.22.4.1 राजाज्ञा धर्म से श्रेष्ठः– कौटिल्य का मत है कि यदि किसी बात पर राजा के धर्मानुकूल शासन का धर्मशास्त्र के साथ विरोध पैदा हो जाए, तो वहाँ राज–शासन को ही प्रमाण मानना चाहिए। क्योंकि, ऐसा करने से धर्मशास्त्र का इकाई मात्र ही नष्ट होता है। अतः राजा का आदेश धर्मशास्त्र के वचन से भी श्रेष्ठ होता है। राजनीति धर्म से सदा आबद्ध नहीं होती।

1.22.4.2 उच्च पदाधिकारियों को राजा के प्रति भक्तिभाव, धर्म के प्रति नहींः– कौटिल्य का विचार है कि उच्च पदाधिकारियों को राजा के प्रति ही भक्तिभाव रखना चाहिए, किसी धर्म के प्रति नहीं। उन्हीं व्यक्तियों की नियुक्ति उच्च पदों पर होनी चाहिए, जिन्हें राजा में पूर्ण विश्वास हो और उसके प्रति पूरी भक्ति भावना हो। कौटिल्य ने पदाधिकारियों की जांच के लिए "धर्मोपधा विधि" का वर्णन किया है।

1.22.4.3 धार्मिक संस्थाओं पर परराज्यों का नियन्त्रणः– अर्थशास्त्र में धार्मिक संस्थाओं पर नियन्त्रण के कुछ संकेत मिलते हैं। जैसे–राजा मंदिरों और धार्मिक संस्थाओं की देखरेख के लिए "देवताध्यक्ष" नामक अधिकारी की नियुक्ति करता है। देवाध्यक्ष राज्य में स्थित सभी मंदिरों से प्राप्त दान को एकत्रित कर राजकोष में जमा करवाता है और जिसका उपयोग राज्य के विकास के लिए किया जाता है।

उपयुर्क्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि कौटिल्य का राजा उसी हद तक धर्म का पालन करेगा जिस हद तक उसे मूल उद्देश्य प्राप्त करने में किसी प्रकार की बाधाएँ न आये और यदि धर्म विभिन्न प्रकार की बाधाएं उत्पन्न करता है तो राजा को धर्म से पूर्ण अलग एवं स्वतंत्र अस्तित्व कायम कर लेना चाहिए।

1.23 कौटिल्य तथा मैकियावेली

कौटिल्य को भारत का मैकियावेली कहा जाता है। मैकियावेली अपनी व्यवहारिक राजनीति के लिए प्रसिद्ध है। उनका महान् ग्रन्थ "द प्रिन्स" कौटिल्य की अर्थशास्त्र की भांति शासक और जनता के मार्गदर्शन का कार्य करता है। ये दोनों, शासनकाल तथा कूटनीति के मान्य पण्डित थे। दोनों ने अपनी विवचेना में उन्होनें लौकिक शैली को अपनाया। दोनों के बीच विचारक जनता की भावना के प्रति सहानुभूति रखते है। दोनों ने राज्य के हित की पूर्ति के लिए शक्ति, धोखा, छलकपट आदि सभी आवश्यक साधनों का प्रयोग का समर्थन किया है। कौटिल्य व मैकियावेली के विचारों का अध्ययन से हमें न केवल वर्तमान समस्याओं के बारे में जानकारी मिलती है, अपितु इन समस्याओं के समाधान के उपाय मिलते है। इस प्रकार कौटिल्य तथा मैकियावेली दोनों के विचारों की समानताएं और असमानताएं निम्नलिखित है–

1.23.1 कौटिल्य तथा मैकियावेली के विचारों में समानताएँ

कौटिल्य तथा मैकियावेली के विचारों में निम्नलिखित समानताएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैः–

1.23.1.1 राजतंत्र का समर्थनः– कौटिल्य एवं मैकियावेली दोनों ही राजतंत्र के प्रबल समर्थक हैं। उनका मत है कि राजतंत्र से ही राज्य की सुरक्षा एवं जन कल्याण संभव हो सकता है।

1.23.1.2 राजा सम्प्रभुः– दोनों ही विचारक सम्प्रभुता का अधिवास राजा में करवाने पर बल देते है। इस तरह से असीमित, सर्वोच्च एवं अखण्डित संप्रभुता का समर्थन करते है।

1.23.1.3 राज्य की एकता पर बलः– राज्य के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए एकता का होना बहुत जरूरी है। इसके अभाव में राज्य बालू से बने रेत के घरोंदे के समान नष्ट हो जाएगा। अतः दोनों ने इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए न केवल राज्य की एकता पर बल दिया, अपितु इस दिशा में सुदृढ़ कदम उठाने की भी बात कही।

1.23.1.4 राज्य का विस्तारः– दोनों विचारकों ने राष्ट्र या राज्य की उन्नति, अभिवृद्धि और विस्तार पर बल दिया है। राज्य का उद्येश्य अपनी सीमा का विस्तार करना है।

1.23.1.5 युद्ध आवश्यकः– दोनों विचारकों ने युद्ध को राजनीति का आवश्यक अंग माना है। प्रत्येक राजा को युद्ध के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। यदि युद्ध में कभी राजा को दूसरे शक्तिशाली राज्य के सामने आत्मसमर्पण करने, संधि करना पड़े, तो कर लेनी चाहिए और फिर सुअवसर आने पर उसे तुरन्त शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए।

1.23.1.6 ऐतिहासिक उदाहरणः– दोनों विचारकों ने इतिहास के अध्ययन के लिए समान दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनेक स्थानों पर भूतकालीन राजाओं का उदाहरण देता है। दूसरी और मैकियावेली भी अपनी मान्यताओं की पुष्टि रोम के प्राचीन इतिहास से करता है।

1.23.1.7 राजनीतिक पदः– दोनों ही विचारकों अपने–अपने देश के मुख्य राजनीतिक पदों पर प्रतिष्ठित थे। कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधानमंत्री था। मैकियावेली ने अनेक वर्षों तक इटली के प्रधान सचिव और यूरोप के अनेक राज्यों में राजदूत के पद को सुशोभित किया था।

1.23.1.8 दृढ़ राष्ट्रवादीः– कौटिल्य और मैकियावली दोनों दृढ़ राष्ट्रवादी थे। वे अपने राज्य की एकता स्थापित करने के लिए कटिबद्ध थे। कौटिल्य द्वारा अर्थशास्त्र की रचना करने के पीछे मुख्य उद्देश्य एक विशाल एवं शक्तिशाली भारत का निर्माण करना था, क्योंकि उस समय भारत विभिन्न खण्ड़ों में विभक्त था। मैकियावली ने इटली की एकता स्थापित करने के दृष्टिकोण से 'दी प्रिंस' की रचना की। दोनों का उद्देश्य एकता स्थापित करते हुए अपने–अपने देश को विदेशियों के प्रभाव से मुक्त करने का प्रयास था।

1.23.1.9 व्यावहारिक राजनीतिः– दोनों विचारकों ने प्रमुख रूप से शासनकला का निरूपण किया है तथा व्यावहारिक राजनीति पर जोर दिया है, राजदर्शन के काल्पनिक सिद्धांतों पर नहीं। दोनों ने ही राज्य की एकता और विस्तार के दृष्टिकोण से सोचा तथा लिखा है। अर्थशास्त्र और दी प्रिंस शासकों तथा राजनीतिज्ञों के लिए समान रूप से पथ प्रदर्शक ग्रंथ है।

1.23.1.10 पड़ौसी राज्य शत्रु होता हैः– दोनों विचारकों का कथन है कि पड़ौसी राज्य एक–दूसरे के शत्रु होते हैं और उनमें परस्पर शत्रुता की भावना होती है। एक राज्य दूसरे राज्य के विकास एवं उन्नति को कभी सहन नहीं कर सकता। उनकी नीतियाँ भी एक–दूसरे के विरोध पर आधारित है।

1.23.1.11 मानव स्वभावः– दोनों विचारकों की यह धारणा है कि मनुष्य में विवेक की अपेक्षा मनोवेग अधिक होता है जिसके कारण वह गलत कार्य करने से भी नहीं हिचकता। अतः मानव के स्वभाव पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए उचित दण्ड की व्यवस्था होना आवश्यक है।

1.23.1.12 शांति एवं सुरक्षा शक्ति द्वारा स्थापितः– कौटिल्य एवं मैकियावली का मत है कि राज्य की स्थापना शांति एवं सुरक्षा के लिए की गई है। अतः राज्य का यह दायित्व बनता है कि वह इस दिशा में सार्थक कदम उठाए, इनमें से केवल शक्ति है जो शांति एवं सुरक्षा स्थापित कर सकती है।

1.23.1.13 दूसरे राज्य की सहायता नहींः– दोनों का मत है कि एक राज्य को दूसरे राज्य की उन्नति में सहायता नहीं करनी चाहिए तथा पड़ौसी राज्य की उन्नति को संदेह की दृष्टि से देखना चाहिए।

1.23.1.14 खर्चः– दोनों ने शासकों के वित्त के खर्च के प्रश्न पर सतर्कता रखने को कहा है। वे जनता पर कम कर लगाने के पक्ष में है।

1.23.1.15 विदेशी राज्य पर आधिपत्यः– कौटिल्य तथा मैकियावली का मत है कि किसी विदेशी राज्य पर आधिपत्य स्थापित करने के बाद, राजा को वहाँ के लोगों के प्रभावों, रीति–रिवाजों, परम्पराओं और धार्मिक व्यवहारों का आदर करना चाहिए। ऐसा करने से वहाँ की जनता राजा का सम्मान करेगी और प्रशासन को स्थायित्व मिलेगा।

1.23.1.16 गुप्तचर व्यवस्थाः– दोनों विचारकों ने सुदृढ़ गुप्तचर–व्यवस्था पर बल दिया है। उनका कहना है कि गुप्तचरों का कार्य केवल आन्तरिक एवं बाहरी सूचनाएं प्रदान करना नहीं है, अपितु उनका महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वे दूसरे राज्यों के भेद प्राप्त करें एवं उस राज्य में अशांति को जन्म देकर उस राज्य को दुर्बल बनाने के प्रयत्नों का समर्थन करें।

1.23.1.17 धर्म का उपयोगः– दोनों धर्म का उपयोग राज्य के उद्देश्य के लिए करना चाहते हैं। इस अर्थ में दोनों ने धर्म की राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन मात्र माना है।

1.23.2 कौटिल्य तथा मैकियावली के विचारों में असमानताएँः–

कौटिल्य तथा मैकियावली के विचारों में निम्नलिखित असमानताएँ दृष्टिगत होती हैः

1.23.2.1 कौटिल्य का व्यक्तिगतः– कौटिल्य धर्म धुरन्धर और तक्षशिला का आचार्य, नीतिशास्त्र विशारद, दार्शनिक तथा ब्रह्मचारी था। वह सादा जीवन और उच्च विचार का समर्थक था। दूसरी और मैकियावली न तो धर्म का पंडित था और न कौटिल्य जैसा सन्यासी। वह कोई प्रभावशाली व्यक्तित्व नहीं रखता था।

1.23.2.2 ग्रन्थ की रचनाः– कौटिल्य ने अपने ग्रंथ अर्थशास्त्र की रचना तब की, जब वह अपने उद्येश्यों में सफलता प्राप्त कर चुका था तथा भारत के छोटे–छोटे राज्यों की एक सूत्र में बांध चुका था, अपने देश को उन्नति के चरम शिखर पर पहुंचा चुका था। वह एक सफल राजनीतिज्ञ सिद्ध हुआ। दूसरी ओर मैकियावली को अपने उद्येश्य में सफलता नहीं मिली। उसने दी प्रिंस की रचना की जब वह निराश हो चुका था तथा राजनीतिक जीवन से निष्कासित हो चुका था। वह एक असफल कूटनीतिज्ञ सिद्ध हुआ।

1.23.2.3 अर्थशास्त्र एवं दी प्रिंसः– मैकियावली का दी प्रिंस केवल राजनीति से ही संबंध रखता है। लेकिन, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में न केवल राजनीति वरन् सम्पूर्ण मानव जीवन का अध्ययन किया गया है। अर्थशास्त्र राजनीति के साथ–साथ मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, और मंत्रशास्त्र का भी महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

1.23.2.4 कौटिल्य का प्रभावः– कौटिल्य की अपने समय की राजनीति पर व्यापक पकड़ थी। उसके प्रयासों से चन्द्रगुप्त मौर्य राजा बन सका, जिसने कौटिल्य को अपना महामंत्री नियुक्त किया। कौटिल्य की बदौलत नन्द वंश का नाश हो सका। इसके विपरीत मैकियावली को जीवन में असफलताएँ मिली।

1.23.2.5 धर्म का आदरः– कौटिल्य राज्य का संचालन धर्म के अनुसार करने को कहता है। राजा को पुरोहित का सम्मान और धार्मिक विधियों की मर्यादा की रक्षा करनी चाहिए लेकिन, मैकियावेली धर्म का विरोधी है और वह धर्म को राज्य की उन्नति में बाधक मानता है।

1.23.2.6 मानव स्वभावः– कौटिल्य मानव को उतना दुष्ट नहीं मानता, जितना कि मैकियावेली। मैकियावेली मानव स्वभाव को निम्न स्तर मानता है।

1.23.2.7 राजतंत्रः– कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में केवल राजतंत्र का वर्णन किया है, लेकिन मैकियावेली ने राजतंत्र के अतिरिक्त गणतंत्र जैसी अन्य प्रणालियों का उल्लेख किया है।

1.23.2.8 राजदर्शन का उद्देश्यः– मैकियावेली के राजदर्शन का मूलभूत उद्देश्य राज्य के सुरक्षा सिद्धांतों का प्रतिपादन करना था, जबकि कौटिल्य का उद्देश्य एक व्यापक राज्य और शासन–व्यवस्था का प्रतिपादन करना था। कौटिल्य ने कहा कि–राजनीतिक दर्शन का उद्देश्य प्लेटों और अरस्तु की तरह व्यक्ति को पूर्णता का जीवन प्रदान करना है। इस आधार पर दोनों के विचारों में समानता नहीं है।

1.23.2.9 राजाः– कौटिल्य का राजा सच्चरित्र, गुणवान, बुद्धिमान, और विद्वानों का आदर करने वाला था, लेकिन मैकियावेली का प्रिंस सच्चरित्र होने का ढ़ोंग करता है। कौटिल्य राजा के लिए कठोर दिनचर्या की व्यवस्था करता है, जबकि मैकियावेली ऐसा कुछ उल्लेख नहीं करता।

1.23.2.10 कौटिल्य पूर्ण अनैतिक नहींः– कौटिल्य ने मैकियावेली की तरह नैतिकता को पूर्ण रूपेण उपेक्षा नहीं की है। मैकियावेली प्रत्येक कार्य में राजा की अनैतिक साधनों को अपनाने का सुझाव देता है। लेकिन, कौटिल्य केवल राज्य के शत्रुओं के प्रति अनैतिक साधनों के प्रयोग का परामर्श देता है। राज्य के आज्ञाकारी तथा निष्ठावान प्रजा के प्रति नहीं। इसलिए कौटिल्य पूर्ण अनैतिक नहीं था।

1.23.2.11 ऐतिहासिक उदाहरण नहींः– जिस प्रकार मैकियावेली ने अपनी कृतियों में रोम के प्राचीन इतिहास के उदाहरणों का उल्लेख किया है, उतने विस्तृत रूप में कौटिल्य ने भारतीय इतिहास की घटनाओं का वर्णन नहीं किया है। यह सच है कि कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में यत्र–तत्र अपने विचारों की पुष्टि के लिए ऐतिहासिक उदाहरणों का प्रयोग नहीं किया।

1.23.2.12 कौटिल्य परम्परावादीः– कौटिल्य परम्परावादी थे वहीं मैकियावेली आधुनिक उसने राजतंत्र का समर्थन किया वहीं मैकियावेली ने राष्ट्रवाद का बीजारोपण किया।

1.23.2.13 न्याय, कानून और दण्डः– कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में न्याय, कानून और दण्ड पर काफी विस्तारपूर्वक विचार प्रस्तुत किये जबकि मैकियावेली इनकी उपेक्षा करता है।

1.23.2.14 वित्त और प्रशासनः– कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में वित्त और प्रशासन पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। उसने राज्य के विभिन्न आर्थिक स्त्रोतों पर भी विचार किया है। जबकि मैकियावेली ने ऐसा नहीं किया।

1.23.2.15 युद्ध और कूटनीतिः– कौटिल्य युद्ध एवं कूटनीति पर स्पष्ट प्रकाश डालता है। उसने राजा को बाहरी आक्रमण से बचने, सामयिक दृष्टि से शक्तिशाली बनने के लिए मजबूत सेंना की आवश्यकता को स्वीकार करने को कहा हैं और कूटनीति के द्वारा राज्यों में अपना प्रभाव बढ़ाने को कहा है।

1.23.2.16 राजदूतः– कौटिल्य ने राजदूत व्यवस्था का उल्लेख किया है, जबकि मैकियावेली ने नहीं।

1.23.2.17 विदेश नीतिः– कौटिल्य ने अन्तरराष्ट्रीय संबंध को स्पष्ट करते हुए कहा है कि राजा को प्रभावशाली तरीके से विदेश नीति संचालन करना चाहिए। इसके लिए कौटिल्य मण्डल सिद्धांत एवं षाड्गुण्य नीति का प्रतिपादन करता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य तथा मैकियावेली महान् राजनीतिज्ञ चिन्तक थे। दोनों को ही यथार्थवादी चिन्तक की संज्ञा दी जा सकती है।

1.24 राजनीति विचारधारा के इतिहास में कौटिल्य का महत्व तथा देन

भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में कौटिल्य का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसलिए को राजदर्शन का जनक का कहा जाता है। उन्होंने अपने पूर्ववत्री लेखकों के असंगत–विसंगत साहित्य को ध्यान रखते हुए, राजनीति विज्ञान का पुनर्निर्माण किया।

कौटिल्य ने जो राजनीतिक सिद्धान्त प्रतिपादित किये है वे न केवल उस समय के शासकों का मार्गदर्शन कर रहे थे, अपितु आज भी उनकी कौटिल्य की विचारधारा है। डॉ. राधाकृष्ण चौधरी के मतानुसार, दण्डित, वान, सामदेव सूरी, मनु याज्ञवल्वय तथा कात्यायन जैसे अनेक पाश्चात्य भारतीय विचारकों को कौटिल्य के इस ग्रंथ ने प्रभावित किया।

डॉ. घोषाल के अनुसार,–महाभारत में जो राजधर्म के महत्वपूर्ण गुणों का वर्णन किया गया है तथा स्मृति–परम्परा में जिस प्रकार अर्थशास्त्र में उल्लिखित अनेक सिद्धान्तों व रणनीतियों का खुलकर समावेश किया गया है वे सब कौटिल्य के अर्थशास्त्र के महत्वपूर्ण योगदान का ही आभास कराते है।

1.24.1 अर्थशास्त्र सभी विचारों का सार

कौटिल्य ने स्वयं लिखा है कि उसका ग्रन्थ अर्थशास्त्र सभी पूर्वगामकी राजनीतिक विचारों का है। कौटिल्य द्वारा इन सभी विचारों की संगृहित कर विषय का वैज्ञानिक विवेच प्रस्तुत किया गया।

1.24.2 राजनीति का स्वतन्त्र अध्ययन

कौटिल्य के पूर्व भारत में जो राजनीतिक विचारक हुए, उन्होनें धर्म और नैतिकता की पृष्ठभूमि में राजनीतिक विचारों का अध्ययन किया लेकिन, कौटिल्य प्रथम राजनीतिक विचारक था जिसने राजनीति का स्वतन्त्र अध्ययन किया।

1.24.3 राजनीतिक विचारों का व्यावहारिक रूप

कौटिल्य ने न केवल राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन किया, वरन् अपने व्यावहारिक कार्यो के आधार पर देश को एक सुदृढ़ और केन्द्रीकृत शासन प्रदान किया। उसने विशाल मौर्य समाज की स्थापना की और साम्राज्य के महामंत्री के रूप में अपने प्रशासनिक सिद्धान्तों को सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया। इस दृष्टि से कौटिल्य राजनीति का प्रकांड पण्डित ही नहीं, वरन् भारत महानायक के रूप में सामने आया।

1.24.4 सत्तांग सिद्धान्त

कौटिल्य की सबसे बड़ी देन है–सप्तांग सिद्धान्त। उसने राज्य की सात प्रकृतियों का उल्लेख किया है। जैसे–स्वामी, अमात्य, जनपत, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र। इनका आज भी महत्व बना हुआ है। आधुनिक राजनीतिशास्त्र में राज्य की उत्पति के जिन तत्वों का उल्लेख किया जाता है, वे इसी तरह के ही है।

1.24.5 राज्य के कार्य

कौटिल्य राज्य के कार्य पर सविस्तार प्रकाश डालता है। उसके अनुसार राज्य को सुरक्षा, शांति और व्यवस्था, प्रजा की रक्षा, पशु, पक्षियों का कल्याण और संवर्द्धन, व्यापार, वन, खानें, कारखाना, सांस्कृतिक, शैक्षणिक और परोपकार जैसे कार्यो का सम्पादन करना चाहिए। इससे यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप का चित्रण करते है।

1.24.6 राजा

कौटिल्य के राजनैतिक विचारों का केन्द्र बिन्दु राजा है। इसलिए वह राजतंत्रीय व्यवस्था का समर्थन करते है। उन्होनें राजा के गुणों, शिक्षा, दिनचर्या और शक्तियों का उल्लेख किया है। उसका राजा ईमानदार, सत्यवादी, न्यायी, ज्ञानी और सभी गुणों से युक्त प्लेटों के दार्शनिक राजा के समान होता है। वस्तुतः प्रजा का सुख एवं हित राजा का हित व सुख है और इस दिशा में राजा को तत्परता के साथ कार्य करना चाहिए। इस प्रकार कौटिल्य राजा को सर्वोच्च, निरंकुश तथा सर्वशक्तिमान बनाने के बावजूद वह जनकल्याण के दायित्व से मुक्त नहीं करता है।

1.24.7 मंत्रिपरिषद्

कौटिल्य का मत है कि राजा स्वयं शासन नहीं चला सकता। अतः उसे समय–समय पर उचित मार्गदर्शन देने के लिए मंत्रिपरिषद् का होना आवश्यक है। कौटिल्य यह भी कहता है कि मंत्रियों की नियुक्ति योग्यता के अनुसार होना चाहिए ताकि उनकी योग्यता एवं अनुभव का अधिक से अधिक लाभ राज्य को मिल सके।

1.24.8 प्रशासनिक व्यवस्था

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में प्रशासनिक व्यवस्था पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला है। उसने अठारह प्रशासनिक अधिकारियों का उल्लेख किया है, जैसे–मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दोवारिक, प्रशास्ता, समाहर्ता, आयुक्त, नायक, दण्डपाल, दुर्गपाल, अंतपाल, आटविक आदि। इस तरह कौटिल्य प्रशासनिक व्यवस्था के महत्व को स्वीकार करता है।

1.24.9 कानून

कौटिल्य ने शासन संचालित हेतु कानून को आवश्यक समझा है। उसका कानून अनुभववाद और अध्यात्मवाद पर आधारित है। उसने कानून को राज्य का आदेश माना है। उसने कानून के उद्देश्य, स्त्रोत, परिभाषा एवं विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया है।

उसने विवाह, संपति और अन्य सामाजिक कानूनों का उल्लेख किया। राज्य में शांति और व्यवस्था की स्थापना हेतु तथा कल्याणकारी सामाजिक जीवन बनाने के लिए इन कानूनों का होना नितान्त आवश्यक है।

1.24.10 न्याय

कौटिल्य ने न्याय का भी विशुद्ध रूप से वर्णन किया है। उसके अनुसार न्याय का उद्देश्य प्रजा के जीवन और संपति की रक्षा करना तथा असामाजिक तत्वों और व्यवस्था उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करना है। उसने न्यायाधीशों की नियुक्ति, न्यायालय के प्रकारों और उनकी कार्य पद्धति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसके अनुसार न्याय निष्पक्ष और निर्भय होना चाहिए। उसने राजा को अपील का अन्तिम न्यायालय माना हैं। उसने प्रजा, न्यायाधीशों पदाधिकारियों और यहां तक कि राजा के दंड पर भी विचार किया है।

1.24.11 दण्ड–व्यवस्था

कौटिल्य के कानून के साथ–साथ दंड का भी उल्लेख किया है। उसने दंड के उद्देश्य, स्वरूप, दण्ड निर्धारण के सिद्धान्तों और विभिन्न प्रकारों का विशुद्ध रूप से विवेचन किया है। उसने मृत्युदंड पर भी विचार किया है। उसने कानून के अनुरूप दंड पर भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया। कौटिल्य की दण्ड–व्यवस्था आदर्शवादी की अपेक्षा व्यवहारिक अधिक है।

1.24.12 गुप्तचर व्यवस्था

कौटिल्य के स्थायी गुप्तचर और भ्रमणशाली गुप्तचर का उल्लेख किया है। उसके अनुसार स्थायी गुप्तचर पांच प्रकार के होते हैं– कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक और तापस। भ्रमणशील गुप्तचर में स्त्री, तीक्ष्ण,

रसद और परिव्राजिका है। उसने उभय वेतनभोगों विष कन्या, गुप्तचरों कि नियुक्ति, पदस्थापना, कार्यो आदि पर भी विचार किया है। कौटिल्य के दृष्टि में राज्य सुरक्षा के लिए संगठित गुप्तचरों का होना बहुत जरूरी है।

1.24.13 राजदूत–व्यवस्था

कौटिल्य के राज्य के लिए राजदूत–व्यवस्था को आवश्यक बताया है। राजदूत विदेशों में राजा का प्रतिनिधित्व करता है। उसने राजदूत की नियुक्ति, योग्यताएँ, प्रकारों और कार्यो का वर्णन किया है। उसके अनुसार राजदूत तीन प्रकार के होते है–निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहार। राजदूत विदेशें में राज्य के हितों का पूरा ध्यान रखते हैं तथा आवश्यक सूचनाओं से राजा को समय–समय पर अवगत करवाते रहते हैं।

1.24.14 मंडल–सिद्धान्त

अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में कौटिल्य की सबसे बड़ी देन मंडल–सिद्धान्त और षाड्गुण्य नीति है। उसने पड़ौसी राज्यों के लिए मंडल–सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। पड़ौसी राज्य एक–दूसरे के शत्रुं होते है। उसके अनुसार मंडल सिद्धान्त में कुल बारह राज्य होते हैं–विजिगीषु, अरि, मित्र, अरि–मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रंदासार, मध्यम और उदासी। विद्वानों का मत है कि मंडल–सिद्धान्त कौटिल्य की विदेश नीति संबंधी सूझ–बूझ और व्यावहारिक राजनीति में उसके दक्षता तथा दूरदर्शिता का परिचायक है।

1.24.15 षाड्गुण्य नीति

कौटिल्य ने विदेशी राज्यों के लिए षाड्गुण्य नीति अर्थात् छह लक्षणों वाली नीति का प्रतिपादन किया है। उसने विदेश नीति की आधारशिला को छह गुणों से युक्त बताया है–संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव। उसने साम, दाम, भेद और दंड पर विचार किया है। इस तरह कौटिल्य की षाड्गुण्य नीति वास्तविकता पर आधारित है। जो आधुनिक समय में विभिन्न देशों की विदेश नीति का अंग बनी हुई है।

1.24.16 सामाजिक विचार

कौटिल्य ने सामाजिक व्यवस्था पर भी विचार व्यक्त किया। उसने वर्णाश्रम धर्म का समर्थन किया है। उसने विवाह–विच्छेद, वेश्यावृति, शराब, जुआ, गोहत्या, ऋण, सूदखोरी, दास प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियों पर भी प्रकाश डाला है। उसने विवाह, तलाक, विधवा विवाह आदि पर जो विचार व्यक्त किये हैं, वो आज भी मान्य हैं।

1.24.17 आर्थिक विचार

कौटिल्य ने राज्य की अर्थ–व्यवस्था पर भी विचार किया है। उसने कृषि, जमीन, सिंचाई, पशुपालन, व्यापार और वाणिज्य, खान और उद्योग जैसे आर्थिक पहलूओं पर विचार किया है। उसने राज्य की कर–नीति पर भी प्रकाश डाला है। उसने अनुसार नागरिकों पर कम से कम कर लगाना चाहिए। उसने कहा है कि अमीरों और गरीबों पर कम कर लगाना चाहिए। यह सत्य पर आधारित है। वर्तमान समय में भी उसकी कर–नीति और अर्थ–व्यवस्था अपने आप में महत्व रखती है।

1.24.18 धर्मिक विचार

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में धार्मिक विचार भी यत्र–तत्र बिखरे पड़े है। उसने धर्म का प्रयोग तीन अर्थो में किया है–

1. सामाजिक कर्तव्य के रूप में,
2. सत्य पर आधृत नैतिक कानून के रूप में और
3. नागरिक कानून के रूप में

1.25 सारांश

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में ऐसे बहुत कम विचारक हुए है जिन्हें अपने द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को अपने जीवनकाल में व्यावहारिक रूप से लागू करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो जो ऐसा करने में सफल रहा उसे अग्रणी स्थान मिला।

कौटिल्य का दृष्टिकोण भी सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहारिकता पर अधिक आधारित था। इसी के लिए उन्होनें अपना सम्पूर्ण वैभव को किस तरह पुनः बहाल किया जाए, इसमें वे निश्चित तौर से सफल तो हुए ही अपितु उनके विचार राजनीति शास्त्र एवं अर्थशास्त्र के आधार सत्म्भ बन गये। वर्तमान समय में अनेक नीतियों पर उनका प्रभाव देखा जा सकता है। इस प्रकार कौटिल्य के विचार निश्चित तौर पर उच्च कोटि के हैं। जिनसे न केवल तत्कालीन राजाओं को मार्गदर्शन मिला, अपितु आज भी राजनीतिक चिन्तन में अपना उल्लेखनीय स्थान रखते हैं।

1.26 अभ्यास प्रश्नावली

1. मनु द्वारा प्रतिपादित संप्तांग सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।
2. राजा के कर्तव्य या राज्य के कार्य क्षेत्र में मनु के दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए। क्या मनु का राजा निरंकुश है?
3. मंत्रियों एवं मंत्रिपरिषद् के विषय के मनु के विचारों की व्याख्या कीजिए।
4. मनु के राजकोष संबंधी विचार बताइये।
5. मनु द्वारा प्रतिपादित परराष्ट्र नीति का उल्लेख कीजिए।
6. मनु का समाज वैज्ञानिक के रूप में क्या योगदान है। सिद्ध कीजिए।
7. कौटिलय द्वारा प्रस्तुत राज्य के संप्तांग सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।
8. राजा के सबंध में कौटिल्य के विचार को बताते हुए यह सिद्ध कीजिए कि क्या कौटिल्य का राजा निरंकुश है?
9. मण्डल सिद्धान्त पर एक लेख लिखिए।
10. षाड्गुण्य नीति क्या है? इसके प्रमुख सिद्धान्त बताओ।
11. कौटिल्य के धार्मिक विचारों पर प्रकाश डालिए।
12. कौटिल्य तथा मैकियावेली के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
13. भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में कौटिल्य का क्या योगदान है?
14. कौटिलय द्वारा प्रस्तुत राज्य के संप्तांग सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए ?

अध्याय-2

प्राच्यविद् कथन (आरंभिक चिंतन) और औपनिवेशिक आधुनिकता

संरचना

2.1 उद्देश्य

2.2 प्रस्तावना

2.3 मध्यकालीन भारत में सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन

2.4 कानून के स्त्रोत

2.5 आइने–अकबरी

2.6 धर्म और राजव्यवस्था

2.7 आधुनिक चिन्तन की विभिन्न श्रेणियां

2.7.1 नव–गाँधीवादी समीक्षा

2.7.2 पराश्रित अध्ययन विचार–धारा

2.8 संयुक्त राज्य में मानव वैज्ञानिक अध्ययन

2.8.1 एडवर्ड सैयद का प्राच्यवाद

2.9 राष्ट्रवाद और औपनिवेशिक आधुनिकता

2.9.1 "मतभेद" के रूप में राष्ट्रवाद

2.9.2 महिलाओं के बारे में राष्ट्र की चिन्ताएँ

2.9.3 सांस्कृतिक विखंडन और उदारवादी विचारधारा

2.10 राष्ट्रवाद, इतिहास और विजित ज्ञान

2.10.1 उन्नीसवीं शताब्दी में भारत का निर्माण

2.10.2 राष्ट्रवादी कल्पना और भारत का इतिहास

2.10.3 प्राच्यवाद और उपनिवेश का अपना ज्ञान

2.11 सारांश

2.12 अभ्यास प्रश्नावली

2.1 उद्देश्य

इस अध्याय के माध्यम से भारत के मध्यकालीन एवं आधुनिक चिन्तन को जानने का प्रयास करेंगे। जिसके मूल उद्देश्य निम्नलिखित है–

- औपनिवेशिक काल में राजनीतिक व सामाजिक सुधारों की आवश्यकता को जानना।
- राष्ट्रवाद की आवश्यकता को महसूस करते हुए उसे स्थापित करना।
- भारतीय संस्कृति मूल्यों को जानना।

2.2 प्रस्तावना

भगवान महावीर के दर्शन व चिन्तन को भी यहां जानना जरूरी हो जाता है कि किस तरह उन्होंने अनेकान्तवाद, स्वतन्त्रता, निर्वाण, त्रिरत्न, पंच, अणुव्रत, अहिंसा, विश्वशांति तथा मानवीय कल्याा पर बल दिया, जिन्हें आत्मसात करने से मानवीय जीवन सार्थक हो सकता है। विश्वशांति पर विचार रखकर उन्होंने मानवता को वह संदेश दिया है जिसको कभी भूलाया नहीं जा सकता है। जिसकी महत्ता सदैव बनी रहेगी। जिस तरह विश्व में तनाव, संघर्ष, हिंसा, युद्ध, टकराव, आपसी वैमन्सय जैसे विकारों को बल मिल रहा है। उसमें भगवान महावीर के विचारों की प्रासंगिता और अधिक बढ़ गई है। इसी तरह, सामाजिक सरोकारों के मद्देनजर रखते हुए दास

प्रथा का विरोध, नारी स्वतंत्रता व गरिमा पर बल तथा जाति व्यवस्था के निराकरण पर बल दिया गया। राजनीतिक रूप से एक लोक कल्याणकारी राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन किया। इस प्रकार भगवान महावीर का चिन्तन केवल आज की प्रासंगिकता है। जिसे अपनाने से तमाम बुराईयों का समूल नाश हो सकता है।

2.3 मध्यकालीन भारत में सामाजिक व राजनीतिक चिन्तन

मध्यकालीन भारतीय सामाजिक व राजनीतिक चिन्तन की शुरूआज भारत में इस्लाम आगमन व मुस्लिम शासकों की सता की स्थापना से होती है। इस्लामी राजनीतिक कचिन्तन कुरान व शरीयत पर केन्द्रित है। इस दौर में सबसे महत्वपूर्ण बदलाव ये आया कि जहां प्राचीन भारत में विभिन्न ग्रंथों व उपदेशकों के विचारों को आधार मानकर समाज व राजनीति का संचालन हुआ था परन्तु इस्लामी चिन्तन में कुरान व शरीयत पर सर्वाधिक बल दिया गया और राज्य का प्रमुख उद्देश्य शरीयत को पूरी तरह से लागू करना था।

भारत में मुस्लिम शासन के दौरान लिखी गई दो प्रमुख पुस्तकों में से एक जियाउद्दीन बरनी की पुस्तक फतवा–ए–जहांदारी और दूसरी पुस्तक अबुल फजल द्वारा लिखित आइने अकबरी प्रमुख है। बरनी ने अपनी इस पुस्तक में राजनीतिक दर्शन पर विचार रखते हुए दैवीय सिद्धान्त का अनुसरण किया है और यह कहा है कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है और राज्य की सम्पूर्ण सत्ता व शक्तियों का स्त्रोत राजा ही है। जिसका प्रमुख लक्ष्य धर्म को आधार मानकर कार्य निष्पादन करना है। बरनी के अनुसार बादशाह को अपने राज्य के शासन के लिए स्वयं को इस प्रकार समपर्पित कर देना चाहिए जिससे वह ईश्वर (अल्लाह) के समीप पहुंच सके। एक आदर्श राज्य की विशेषता यह है कि वह धर्म व राज्य का कल्याण करे। बरनी ने प्रशासन को चलाने के लिए बुद्धिमान लोगों की सलाह पर बल देकर कुलीन तंत्र का समर्थन किया है। वह प्रशासन में पदसौपान की बात करते है। बरनी के अनुसार शरियत लागू करने के साथ–साथ न्याय प्रदान करना सुल्तान (राजा) का एक अनिवार्य दायित्व है। कानून लागू करना व कानून का पालन राजा का प्राथमिक उद्देश्य होना चाहिए।

2.4 कानून के स्त्रोतः–

1. कुरान
2. हदीस (हजरत मोहम्मद साहब की परम्परा है)
3. इजमा (अनेक मुस्लिम चिन्तकों के मत व विचार)
4. कियास (कटौती के सैद्धान्तिक विधि)

बरनी के द्वारा राज्य के कानून का समर्थन भी किया गया है जिसका आधार धर्मनिरपेक्ष था। दण्ड व कानून के बिना राज्य की व्यवस्थाओं का संचालन सम्भव नही है। बरनी के विचारों में यह झलक दिखाई देती है कि मुस्लिम शासकों के युग में सेना, प्रशासन, न्याय, सुरक्षा किस तरह मजबूत बनाया गया तथा सुल्तान (राजा) व प्रजा के बीच रिश्ते को मजबूती प्रदान करने में कुरान व शरियत प्रमुख है।

2.5 आइने अकबरीः–

अबुल फजल का आइने अकबरी मुस्लिम शासनकाल (मध्यकालीन) का एक और महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसमें भारत में मुगल शासन के दौरान राजनीतिक प्रवृति को दर्शाया गया है। मुगल शासकों का दौर कई अर्थातों में भारत के लिए स्वर्णिम माना जा सकता है। प्रशासनिक ढांचा, भूमि सुधार, सैन्य प्रबंध, स्थापत्य कला, सामाजिक सुधार व राजनीतिक एकता स्थापित की गई। अबुल फजल 16वीं शताब्दी में भारत के सर्वाधिक महत्वपूर्ण चिन्तकों में से एक थे। उन्होंने मुस्लिम व हिन्दू दर्शन परम्पराओं को सम्मान दिया। वे भी दैवीय सिद्धान्त के पक्षधर थे। उन्होंने श्रेष्ठ राजा व स्वार्थी राजा में भेद किया और यह बताया कि श्रेष्ठ राजा वहीं होता है जो अपने हितों के बारे में न सोचकर आम जनता के हितों के बारे में सोचता है। जिसका एक ही ध्येय है लोगो की भलाई व जीवन स्तर में सुधार करना है, जिसका मूल आधार ईश्वर (अल्लाह) का कानून है। राजा के पास एक दिव्य शक्ति है जो एक सामान्य व्यक्ति के पास नहीं है। इस तरह राजा की श्रेष्ठता (सुप्रिम) के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है जो न केवल राज्य का प्रमुख है बल्कि आध्यात्मिक नेता भी है। परन्तु फिर भी मुगल शासन के अनेक शासकों की पहचान धर्मनिरपेक्ष व सुधारवादी शासक के रूप में हुई जिनके द्वारा जो तंत्र स्थापित किया गया जिसकी छाप आज भी देखी जा सकती है। प्राचीन राजनीतिक चिन्तन से तुलना की जाए तो यह शासन के मामले में महत्वपूर्ण था। गैर–मुस्लिम से एकत्रित जजिया और गौ हत्या पर प्रतिबंध जो कहीं न कहीं हिन्दुओं की आस्था से जुड़ा हुआ था इस तरह एक नवीन राजनीतिक सिद्धान्त का उदय हुआ जो हिन्दू–मुसलमानों की एकता व धार्मिक सहिष्णुता के लिए निहायत जरूरी है।

अबुल फजल ने केन्द्रीय नियन्त्रण वाली सत्ता का प्रतिपादन किया है परन्तु राजा का परम लक्ष्य जन कल्याण रखा।

2.6 धर्म और राजव्यवस्थाः–

धर्म व राजव्यवस्था के बीच किस प्रकार के संबंध होने चाहिए यह सदैव से विवाद का विषय रहा है। जो दैवीय सिद्धान्त को मानते है वे धर्म व राजव्यवस्था को परस्पर एक मानते है और शासक को इश्वर के प्रतिनिध के रूप में मानते है। भारतीय राजनीतिक चिन्तकों में प्राचीन काल में मनु व मध्यकाल में बरनी का नाम उल्लेखनीय है। वहीं दूसरी तरफ धर्म और राजव्यवस्था को पृथक पृथक करने पर बल देते है और उनका मानना है कि इन दोनों को अलग–अलग रखा जाएं, यदि एक साथ कर दिया तो विकृतियाँ पैदा होगी। वहीं आधुनिक विचारकों में गांधीजी धर्म व राजनीति को परस्पर एक मानते हैं।

2.7 आधुनिक चिन्तन की विभिन्न श्रेणियाँः–

नव–गांधीवादी समीक्षाः– पूरानी गांधीवादी समीक्षा पुनः सक्रिय हुई है। इस श्रेणी ममें उन विद्वानों का कार्य प्रमुख रहा है, जैसे आशीष नन्दी, वीणादास और पर्यावरण और विज्ञान आन्दोलनों के सक्रियतावादी विद्वान जैसे क्लोड एल्वारेस और वंदना शिवा। इस वर्ग के अधिकांश विद्वानों की समीक्षा विज्ञान व प्रासंगिकता की दृष्टि से थी। जिसे उन्होनें आधुनिकता के नियंत्रणकारी विचारों के वैचारिक समकक्ष माना, साथ ही, नेहरूवादी राज्य द्वारा अपनायी गई विकास की धारणा को लिया यद्यपि इस श्रेणी के सभी विद्वान स्पष्ट रूप से गांधी वादी स्थिति से सम्बद्ध नहीं थे, फिर भी उन्होंने गांधीजी की आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का और मानव स्वतंत्रता की शर्तों के रूप में विज्ञान और कारण में उसके विश्वास का ही समर्थन किया आशीष नन्दी ने अपना मुख्य प्रहार आधुनिकता के इस वैचारिकता अर्थात् विज्ञान, कारण और विज्ञान पर किया उन्होंने आज समीक्षा में स्वतः रारूइ–राज्य को भी शामिल किया, जिसे वह आधुनिकता के संस्थागत मूर्त रूप के रूप में देखता है, ऐसी संस्था जो सदा लोक प्रचलित विश्वासों में और रहन सहन के तरीकों का असहिष्णु रहा है। नन्दी आयु निक रारूइव राज्य की परियोजना में सजातीयकरण की ओर, सांस्कृतिक जाति संहार, और कुछ ही तक जीवन कम करने की इच्छा की ओर अंतत आन्दोलन देखता है। इस संबंध में उनका तर्क है कि दक्षिण एशियाई संदर्भ में एक ही प्रकार की धारणाएं मुख्य रूप से अस्थिर रही है। यह केवल आधुनिक रारूइ–राज्य के प्रारम्भ के साथ होता है कि अकेली श्रेणियाँ, जैसे हिन्दू और मुस्लिम में पहचान निश्चित करके लिए बनाई गई। वह इस तथ्य का उल्लेख करता है कि आज भी ऐसे सैकड़ों समुदाय है जो हिन्दू व इस्लाम दोनों के तत्वों को मिलाते हैं। इस प्रकार नव गांधी वादी श्रेणी की शुरूआत 1980 के दशक से हुई।

2.7.2 पराश्रित अध्ययन विचार धारा–

इसे दूसरी श्रेणी में माना जाता है। इस विचार धारा में 1980 में दशक से अपनी सार्वजनिक उपस्थित प्रकट की परन्तु 1970 के दशक के आखिर में आरम्भ हुआ इसमें इतिहास व राजनीति वैज्ञानिक वामपंथी विचार धारा या पृष्ठभूमि से आये थे। इसमें मुख्य रूप से इतिहासक रणजीत गुहा, ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, शाहिद अमीन डेविड हार्डोमेन और दीपेश चक्रवती तथा राजनीति विज्ञानी पार्थ चटर्जी, सुदीप्त कविराज थे। एक उभयनिष्ठ डोरी, जो आशीष नन्दी जैसे विद्वानों से मध्यवर्ती इतिहासकारों के प्रारम्भिक कार्य के प्रयास से जोड़ती है, उसका संबंध राष्ट्रवाद की समीक्षा राष्ट्रवादी इतिहास लेखन तथा प्रचलित चेतना से है। 1980 के दशक में प्रकाशित पुस्तक खेडों की श्रृंखला के माध्यम से पराश्रित इतिहासकारों में राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की मुख्य समीक्षा आरम्भ की।

इस खण्ड का इतिहास में सभी इतिहासकारों को सम्मिलित किया इस समीक्षा से उन्होंने यह ज्ञात करने का प्रयास किया जिसे रणजीत गुहा ने "इतिहास की अल्पध्वनि" कहा था उन्होंने यह समझाने का प्रयास किया जिन्होंने औपनिवेशिक अवधि की विचारधारा में राष्ट्रवादी या किमतों के संघर्ष में भाग लिया था उन्होंने धारा क्यों व किसी प्रेरणा कि भाग लिया दूसरे शब्दों में उन्होंने पराश्रित वर्गों की व्ययकिस्मत निष्ण और सुयोगी–स्वायतता प्राप्त करने का प्रयास किया। यहाँ प्रमुख बात यह है कि ये दोनों आधुनिक राजनीतिक चिन्तक धर्म व राजनीति को अलग–अलग करना नहीं चाहते। उनका मानना है कि धर्म व राजनीति का साथ होने से शासक आने दायित्वों का निर्वाह भली–भाँति कर सकता है। इस तरह एक तरफ हमारा संविधान भारत को पंथनिरपेक्ष घोषित करता है और दूसरी तरफ हमारे चिन्तक धर्म व राजनीति को एक साथ जोड़ कर देखते हैं और कि धर्म के बिना राजनीति अधूरी है। यह दोनों परस्पर विरोधाभाषी है। इस का इतिहास साक्षी है कि हमारी भारतीय सभ्यता ने न केवल सत्य धर्मों को फलने–फूलने का अवसर दिया अपितु इनकी परम्पराओं को आत्मसात किया है यही हमारी

सभ्यता की महानता को सिद्ध करती है। प्रत्येक धर्म, इंसानियत, सत्य, सर्वकल्याण, सदाचार, विनयता, दया, करूणा, प्रेम, सहयोग इत्यादि मूल्यों की बात करते हैं प्राचीन काल के ग्रंथों व चिन्तकों ने राजा का प्रमुख लक्ष्य जनता के हितों को पूरा करना व धर्म के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव न करते। जिन शासकों ने इस सिद्धांत की अनदेखी की उनको सकारात्मक परिणाम नहीं मिले। यह डॉ. सर्वपल्ली राधा कृष्णा का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा जिन्होंने यह कहा था कि "भारतीय राज्य की धार्मिक निरूपज्ञता को धर्मनिरपेक्षता व नास्तिक के साथ नहीं उलझाना चाहिए। यहाँ पंथनिरपेक्षता की परिभाषा भारत की प्राचीन धार्मिक परम्परा के अनुसार की गई है। यह व्यक्तिगत विशेषताओं को सामूहिक बुद्धि के लिए अधीन बनाकर नहीं बल्कि एक–दूसरे के साथ सौहार्द स्थापित करके विश्वास, मैत्रीभाव व एक–दूसरे के प्रति आदर व सम्मान की भावना का निर्माण करती है। यह मैत्रीभाव अथवा सहयोग एकता में विविधता के सिद्धांत पर आधारित है। एस. राधाकृष्णन "रिकवरी ऑफ फेथ 1950। यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत में धर्मनिरपेक्षता हमारी प्राचीन परम्पराओं के अनुसार दी है। जब इस दौर में ब्राह्मण्वादी विचार धारा हावी हुए जिनके चलते कई बुराईयां उत्पन्न हुई जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप भगवान महावीर व भगवान बुद्ध के विचारों का उदय। इसी तरह मध्यकाल में जब इस्लामिक शासकों का शासन स्थापित हुआ तब इस्लाम को राज धर्म बनाने की कोशिश हुए पर व इस समय की एक ऐसा उदार मार्ग उभरकर सामने आया जिसे सूफीवाद या अकबर का दीने इलाही आया जिन्होंने आपसी भाईचारा, सहिष्णुता, सौहार्द, सर्वधर्मी समकांड का संदेश दिया। सूफीवाद एक वह चिन्तन है जिसमें मानवीय गरिमा पर बल दिया गया। इस विचार धारा की आज की प्रासंगिकता है। ख्वाजा गरीब नवाज, निजामुद्दीन औलिया, हजरत समद दिवान, (बड़ी खाई) गविर पिया (कलियर) सूफी हमीदुदीन नागौरी (नागौरी) जैसे कई औलिया इकराम हुए जिन्होंने प्रेम के बल पर इस्लाम को बढ़ाया और जो यह मानते हैं कि इस्लाम तो केवल ताकत के दम पर बढ़ा है सूफीवाद इसका खण्डन करता है। इसी काल में व्यक्ति आंदोलन की शुरूआत हुई गुरूनानक देव, कबीर, रेदास जैसे सुधारकों का प्रार्दुभाव हुआ और उन्होंने समाज का पथ प्रदर्शन किया। गुरूनानक व कबीर दोनों के विचारों में एक बुनियादी समानता है कि उन्होंने न्याय व समानता पर बल देते हुए जाति बंधन व सत्य सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया। राजधर्म शासका का पहला धर्म है जो उसे इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वह अपने जन कल्याण के दायित्वों को हर हाल में पूरा करो। उसके किसी भी कार्य से जनता को कष्ट नहीं होना चाहिए यदि इसको पूरा करने में वह असफल रहता है तो उसने राजधर्म का पालन नहीं किया। इस तरह राजधर्म राजा के दायित्वों का स्पष्ट करता है।

सारांश– इस प्रकार इस अध्याय में उन विषय वस्तुओं को प्रस्तुत किया गया जिनसे हमारे आधुनिक सामाजिक व राजनीतिक चिन्तन की नींव पड़ी। हमारा प्राचीन चिन्तक इतने महान थे जिनकी बदौलत भारत को विश्व गुरू का दर्जा मिला। जिन्होंने अपने विचारों के माध्यम से जो एक व्यवस्थित सामाजिक ढाँचा, मूल्यों आधारित राजनीति, सुदृढ़ प्रशासनिक ढाँचा, शक्तिशाली सैन्य प्रबंध, राजधर्म पर आधारित शासक, लोककल्याणकारी राज्य का स्वरूप, व्यक्तिगत अधिकारी, जनमत की भावना का सम्मान जैसे विचारधाराएँ दी। जिनकी छाप आज भी न केवल भारत तक सीमित है अपितु सम्पूर्ण विश्व में इनका प्रभाव देखा जा सकता है। इसीलिए कौटिल्य को भारत का मैकालय कहा गया है। कौटिल्य ने व्यवहारिकता को दृष्टिगत रखते हुए अपने विचार अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में दिये जो आज भी प्रासंगिक है। भारत हमेशा से व्यापक सोच वाला राष्ट्र रहा है यहां संकुचित व संकीर्णता का कोई स्थान नहीं है और जब जब हमारी सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था में बुराईयाँ पैदा हुई तब तक कोई–न–कोई सुधार आये और उन्होंने पुनः समाज को सही दिशा पर चलने के लिए प्रेरित किया जैसे ब्राह्मणवाद के विरूद्ध प्राचीन काल में जैन व बौद्ध धर्म का उदय, मध्यकाल में इस्लामिक कट्टरवाद के विरूद्ध सूफीवाद व व्यक्ति आन्दोलन चला। इस तरह यह विलासिता आधुनिक काल में भी देखा गया किसी भी दर्शन व चिन्तन की बुनियाद उसकी पूर्ववृत्ति दर्शन व चिन्तन में निहित होती है। पराश्रित शब्द इटली के मार्क्सवादी एण्टोलियों गायस्की के लेखन में आया।

2.8 संयुक्त राज्य में मानव वैज्ञानिक अध्ययन

इस श्रेणी में अधिकांश वे मानव वैज्ञानिक आते हैं जिसमें बेनार्ड कोहन प्रमुख थे। मानव वैज्ञानिक अधिकांश रूप से संयुक्त राज्य अमरीका से है। बेनार्ड कोहन भारत के उपनिवेशी काल से लिखते रहे हैं। उनके अनुसंधानों में यह सिद्ध किया गया कि ये ज्ञान उपनिवेशी विश्व में राजनीतिक व्यक्ति परकता को कैसे बनाती है। यह ऐसा ज्ञान था जिसने भारत में सभ्य करने वाले ब्रिटेन के मिशन को बौद्धिक औचित्य प्रदान किया। जबकि रणजीत गुहा के शब्दों में जाति का सरकारी दृष्टिकोण, हिन्दुत्व का क्रिश्चयन मिशनरी दृष्टिकोण, स्थायी,

कालातीत, असीमित और आंतरिक रूप से अविभेदीकृत के रूप में अखण्ड है। इन सभी को सत्ता व ज्ञान की जटिलताओं से उत्पन्न किया गया था, ने भारत के बारे में न केवल ज्ञान उत्पन्न किया है अपितु ऐसा भारत भी बनाया है जो आवश्यक रूप से वैसा भारत है जो उपनिवेशी शासन के आगमन से पहले था।

2.8.1 एडवर्ड सैयद का प्राच्यवाद

अंत में, फिलिस्तीनी अमेरिकी विद्वान एडवर्ड सैयद का कार्य है जिसने कार्य के इन दो भिन्न भिन्न निकायों को संयोजन करना संभव बनाया है। 1978 में सैयद का प्रशंसनीय क्ष. प्राच्यवाद प्रकाशित हुआ। इसमें भूतपूर्व उपनिवेशों में और पश्चिम में अप्रवासी समुदायों में भी पश्चिम की चलती आ रही रिक्तता का विचार करने के भिन्न भिन्न प्रयासों को भारी प्रोत्साहन मिला। इस क्षेत्र में जो तब 1980 के दशक के लगभग मध्य में बहुत प्रभावशाली हुआ, सैयद ने दिखाया कि पूर्व या "प्राच्य" की कुछ संरचनाएँ यूरोप की अपनी छवि के लिए कैसे महत्वपूर्ण रही है। उन्होंने प्रमुख साहित्यिक पुस्तकों के अध्ययन से और राजनीतिक प्रलेखों, संसदीय भाषणों और अन्य स्त्रोतों से भी दिखाया, प्राच्य असाधारण यूरोपीय संरचना – पिछड़ा, अंधविश्वास,बर्बर और एक ओर अप्रासंगिक तो दूसरी ओर विदेशज और आदिकालीन कैसे था। फिर भी, इस बात पर बल देते हैं कि यह नहीं मान लेना चाहिए कि "प्राच्यवाद की संरचना केवल असत्यताओं का अथवा मिथकों के पुलन्दे से अधिक कुछ नहीं है," इसे "सिद्धान्त और पद्धति संस्था" के रूप में समझा जाना चाहिए। वे कहते हैं, "ज्ञान के ऐसे जटिल ओरिएण्ट का निस्संदेह, अधिक पुराना है, परन्तु "अठारहवीं शताब्दी के बाद की अवधि में ऐसे जटिल ओरिएण्ट का अविर्भाव हुआ जो मानवजाति सृष्टि के बारे में विश्व–जगत में अध्ययन के लिए संग्रहालयों में प्रदर्शन के िलए, उपनिवेशी कार्यालय में पुनर्निर्माण के लिए, मानव विज्ञान, जीव विज्ञान, भाषा विज्ञान, प्रजाति और ऐतिहासिक शोध निबंधों में सैद्धान्तिक सचित्र उदाहरण के लिए विकास, विद्रोह, सांस्कृतिक व्यक्तित्व, राष्ट्रीय अथवा धार्मिक महापुरूषों के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के उदाहरण के लिए उपयुक्त था।"

यह सरलता से देखा जा सकता है उपर्युक्त विद्वता की सभी श्रेणियाँ ज्ञान के उस ढाँचे को चुनौती देने के लिए भिन्न भिन्न तरीके में आरंभ हो चुके थे, जो हमारे इतिहास के बारे में हमारी समझ को प्रभावित किए हुए थे। प्रारम्भिक पराश्रित अध्ययन विचारधारा के अपवाद के साथ सभी अन्य पश्चिमी ज्ञान, विशेषकर विजित ज्ञान के बारे में स्पष्टरूप से आधारभूत प्रश्न पूछने लगे। यहाँ तक कि पराश्रित इतिहासकारों के मामले में, राष्ट्रवादियों और उनके अभिजातवर्गीय इतिहास लेखन के संबंध में उनके कठोर प्रश्नों और पराश्रित स्वायत्तता की तलाश उन्हें अंततः कुछ अत्यंत संवेदनशील प्रश्नों में ले गया। जिसमें राष्ट्रवाद पश्चिमी ज्ञान द्वारा संरचित किया गया था। इस अवस्था में यह भी उल्लेख करना आवश्यक होगा कि वे विभिन्न और असमान श्रेणियाँ साथ–साथ आ सकी क्योंकि यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका में एक अन्य बौद्धिक विकास हो रहा था। यहा था, जिसे, मौअे तौर पर, संरचनावादी पश्चधारा कह सकते हैं या जिसे पश्च आधुनिकतावाद कहा जाता है। इसने पश्चिमी दर्शन की सम्पूर्ण परम्परा की गहन आतंरिक समीक्षा आरंभ की। फिर भी, यह हमारी तात्कालिक चिन्ता नहीं है और हम इसके कुछ प्रासंगिक पहलुओं पर बाद में चर्चा करेंगे। आइए, अब हम "औपनिवेशिक कथन सिद्धान्त" के मुख्य दावों का विश्लेषण करें।

2.9 राष्ट्रवाद और औपनिवेशिक आधुनिकता

यद्यपि हमने विचारधारा की उन मुख्य धाराओं को प्रस्तुत किया है जिन पर औपनिवेशिक इतिहास के नए प्रश्न उठे हैं, शेष इकाई में हमारा मुख्य विषय प्रमुखतया पराश्रित इतिहासकारों और विद्वानों, जैसे कविराज और नन्दी के कार्य होंगे। पराश्रित अध्ययनों के शीर्षक के अंतर्गत नहीं है। यहाँ पर हमारा संबंध मुख्यतया कार्य की राशि से है – जिसे सुमित सरकार ने "विलम्बित पराश्रित अध्ययन" कहा था। प्राच्यवाद और औपनिवेशिक कथन के लिए सबसे अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति की आवश्यकता होती है। इसलिए औपनिवेशिक कथन और जिसे पार्थ चटर्जी ने "हमारी आधुनिकता" कहा है, उसके विशिष्ट लक्षणों का सम्यक विश्लेषण किया गया है। बेर्नार्ड के अनुवर्ती कार्य और उसके विद्यार्थियों जैसे निकलसन डिर्क और ज्ञान प्रकाश के कार्यो को भी मौटे तौर पर उसी श्रेणी के अंतर्गत रखा जा सकता है। अनुवर्ती चर्चा में हम कुछ प्रसंगों पर चर्चा करेंगे जो इस कार्य–राशि से उत्पन्न हुए हैं, न कि पूर्णतः काल क्रमानुसार।

हमने उल्लेख किया है कि पराश्रित अध्ययन के विद्वानों का पिछला कार्य पराश्रित स्वायत्तता की खोज से संबंधित था, अर्थात् पराश्रित चेतना और राष्ट्रवादी राजनीतिक अभिजात वर्गों से उनके विचलन के रूप में समझने का प्रयास कर रहे थे। यहाँ तक कि जब उन्होंने पश्चोयुक्त द्वारा संचालित आन्दोलनों में भी भाग लिया। इससे

स्वाभाविक रूप से यह ज्ञात करना आवश्यक हुआ कि औरपनिवेशिक दासता के संदर्भ में अभिजात वर्ग की चेतना कैसे बनी है अथवा बनाई गई थी। इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रवादी कथन, उसकी संरचना और मान्यताओं की तलाश तथा पराश्रित चेतना के रूपों की भी तलाश हुई। इन तलाशों के दौरान दो बातें स्पष्ट होनी शुरू हुई। पहली, कि राष्ट्रवाद केवल एक ऐसी अखंड वैचारिक संरचना नहीं है जो प्रत्येक आधुनिक समाज में होनी चाहिए। इस तथ्य से स्थिति जटिल हो गई थी कि उपनिवेशवाद की एजेन्सी द्वारा समाजों में, जैसा कि भारत के समाजों में, आधुनिकता का समावेश किया गया था। इसलिए इस आधुनिक होने के इच्छा ने स्वतंत्र और स्वशासी, अर्थात् भारतीय होने की इच्छा उत्पन्न की। प्रारंभ में राष्ट्रवादी अभिजात वर्गों को अधीनता की शर्त पर अपनी राजनीति करने के लिए विवश किया गया, जहाँ उन्होंने साथ–साथ आधुनिक विचारधारा द्वारा सम्मिलित व्यापक स्वतंत्रता और समानता के सिद्धान्तों की आकांक्षा की और पश्चिम से अपने मतभेदों को स्पष्ट करना आवश्यक किया। दूसरा, परिणामस्वरूप यह भी स्पष्ट हो रहा था कि इसलिए राष्ट्रवाद ने भी अत्यंत कठिन और सृजनात्मक बौद्धिकम हस्तक्षेप, राजनीति के युद्ध क्षेत्र में अपने मुख्य आधारतत्वों का निर्माण और सुरक्षण भी शामिल किया, जैसा कि पार्थ चटर्जी ने इसका उल्लेख किया। 1983 के प्रारंभ में एडर्सन के इस क्लसिकी इमेजिण्ड कम्यूनिटीज के प्रकाशन से अब अधिक समर्थनीय अन्वेषण की संभावनाएँ खुल गई कि राष्ट्रों की कल्पना कैसी की जाती है। प्रचुर अंतः दृष्टि सम्पन्न इस पुस्तक के प्रकाशन से यह विचार, कि राष्ट्रों के बारे में कोई वस्तु प्राकृतिक या शाश्वत है, समाजप्त हो जाती है। एण्डर्सन ने कहा, सभी राष्ट्र समुदाय हैं। हमें इस आम भ्रांति को स्पष्ट करना चाहिए। जब एंडर्सन सुझाव देता है कि राष्ट्र काल्पनिक समुदाय है, वह यह नही कहता है कि इसलिए राष्ट्र अवास्तविक हैं। इसके विपरीत वह दावा करता है कि वे वास्तविक है और ऐसा मनोभाव उत्पन्न करते हैं कि लोग इसके लिए मरने और मारने के लिए तैयार हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें सामूहित कल्पना के परिणामस्वयप अस्तित्व में लाया जाता है।

2.9.1. "मतभेद" के रूप में राष्ट्रवाद

आइए, अब हम राष्ट्रवाद और औपनिवेशिक आधुनिकता की कुछ विशेषताओं पर विचार करें, जैसा कि हम आज उपर्युक्त विद्वानों के कार्यों से इसे जानते हैं। राष्ट्रत्व और स्व–शासन प्राप्त करना, जैसा कि राष्ट्रवादियों ने समझा, आधुनिक होने का मात्र तरीका था। वही वास्तव में तरीका था जिसे उन्होंने ढूंढ़ा। बड़ा बौद्धिक प्रश्न जिसे उन्नीसवीं शताब्दी के बुद्धिजीवी वर्ग ने अपने आपसे किया था, "भारत पराधीन राष्ट्र क्यों हुआ? ब्रिटेन नाम के छोटे से द्वीप राष्ट्र ने इस विशाल भूभाग पर अधिकार कैसे किया? अब हम जानते है कि उनका उत्तर था कि इसका कारण था कि भारत उपनिवेशी अधीनता के पूर्व संध्या पर आंतरिक रूप से विभाजित था। यहाँ सैद्धान्तिक मतभेद और कलह, गहरे आंतरिक विभाजन थे जैसे जातियों में होते हैं और यहीं हैं जिनसे उपनिवेशन का प्रतिशोध करना देश के लिए असंभव था। आधुनिक विश्व में ये जारी रह सकते हैं। यदि हमें स्वतंत्र होना है तो हमें गहरे आंतरिक विभाजनों पर विजय पानी होगी और स्व–शासन का निर्माण प्रारम्भ करना होगा जो अपने केवल राष्ट्रत्व के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता था, उसके लिए आधुनिक समाज मौजूद था। फिर भी, यह कुछ ऐसा था जिसने उभरते हुए राष्ट्रवादी अभिजात वर्ग को कठिनाई में रखा। वे आधुनिक कैसे हो सकते थे और फिर भी यह पश्चिमी उपनिवेशी मालिकों के तरीकों की नकल करना मात्र नहीं था। आधुनिक और राष्ट्रत्व के लिए संघर्षरत होने के कारण, अर्थात् उपनिवेशी शासन से मुक्ति के लिए अधीन राष्ट्र को चाहिए कि यह शासकों से अपने मतभेद स्पष्ट करें। यह ऐसी आधुनिकता थी जो पश्चिमी आधुनिकता से पूर्णतः भिन्न थी, जैसा उन्होंने इसे तब देखा था। "तब भारतीय आधुनिकता की खोज की गई थी। भारत में राष्ट्रवाद का कथन ओजपूर्ण था। उदाहरण के लिए अपने निबंध "सेन्सस एण्ड आब्जेक्विअविटेशन" में कोहन ने जवाहर लाल नेहरू के 1943 के लेख का उल्लेख किया जिसमें नेहरू ने कहा था, "मैं पूर्व और पश्चिम का विचित्र मिश्रण हूँ, सभी जगह अनुपयुक्त हो गया हूँ, घर पर कहीं का नहीं..... वे दोनों (अर्थात् पूर्व औ पश्चिम) में अंग हैं और यद्यपि वे पूर्व और पश्चिम दोनों में मेरी सहायता करते हैं, परन्तु वे आध्यात्मिक सकाकीपन की भावना भी उत्पन्न करते हैं.....मैं अज़नबी हूँ और पश्चिम में विदेशी हूँ.....परन्तु अपने ही देश में भी कभी–कभी मैं प्रवासी की भावना का अनुभव करता हूँ।"

नेहरू की कृति से उपर्युक्त उद्धरण भारतीयों के आंतरिक संघर्षों को उजागर करता है, परन्तु ये सभी सामान्यतया उपनिवेश के बाद का राष्ट्रवाद हैं यदि हम याद करें कि नेहरू सभी राष्ट्रवादियों में सबसे अधिक प्रबल आधुनिकवादी थे, तो हम सोच सकते है कि अन्य राष्ट्रवादी नेताओं की क्या स्थिति हुई होगी। वास्तव में, यह चिन्ता का विषय है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में राष्ट्रवाद का औपचारिक उदय होने से काफी पहले यह

भारतीय समाज के अभिजात वर्ग में स्पष्ट था। उदाहरण के लिए, आशीष नन्दी ने अपने प्रारम्भिक लेख में उल्लेख किया कि अठारहवीं शताब्दी के अंत में बंगाल में सती की घटनाओं को पुनः प्रचलन हो गया था। सांख्यिकी साक्ष्य का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा कि यह केवल इस अवधि में था कि "धार्मिक अनुष्ठानों को अचानक लोकप्रियता मिलने लगी।" इससे पहले पश्चिमी प्रभाव के कारण मनोवैज्ञानिक रूप से इसमें कमी आ गई थी। और धार्मि अनुष्ठान लोकप्रिय हुए।" अतः इन समूहों ने "परम्परागत उच्च संस्कृति के प्रति स्वयं अपनी निष्ठा प्रदर्शित करने तथा अन्यों को भी दिशाने के लिए दबाव महसूस किया।" पश्चिमी सपंर्क से बंगाली संभ्रान्त वर्ग सबसे अधिक निकट होने के कारण इस चिन्ता से अत्यधिक चिन्तित थे, वे अपने आपको भिन्न महसूस करने लगे। वास्तव में, आधुनिकता का प्रश्न अभी भी इस समय के एजेण्डा में नहीं था। उस संबंध में दीपेश चक्रवर्ती के बंगाल में प्रारंभिक अध्ययन राष्ट्रवादी महिलाओं के पारिवारिक जीवन और स्थिति से संबंधित हैं। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के अधिकांश लेखक इस सबंध मे स्पष्ट थे कि "इस देश की महिलाएँ "असभ्य" आलसी, झगड़ालू" थी और इसलिए पारिवारिक खुशी के लिए ख्राब थी क्योंकि इनमें शिक्षा का अभाव था, उनका यह भी विश्वास था कि शिक्षा से महिलाओं में स्वतः अवाछित गुण आ सकते हैं। क्योंकि शिक्षा उन्हें "घंमडह, उग्र और अवज्ञाकारी" बना सकती है।" यह आधुनिक शिक्षा और पश्चिमी विचारधारा के बारे में स्पष्टतः भय था, प्रारंभिक अभिजात वर्गों द्वारा ये विचार व्यक्त किए जा रहे थे।

2.9.2. महिलाओं के बारे में राष्ट्र की चिन्ताएँ

महिलाओं के बारे में चिन्ता नन्दी के सती की खोज और चक्रवर्ती की पारिवारिकता की खोज दोनों में दिखाई देती है। इसलिए पार्थ चटर्जी कहता है कि यह "महिलाओं का प्रश्न है", जो प्रमुख राष्ट्रवादी हस्तक्षेप का स्थान बना है। चटर्जी उल्लेख करते है जिसे वह यह सुझाव देने के लिए महिलाओं के प्रश्न का राष्ट्रवादी संकल्प कहता है कि जिस तरीके में राष्ट्रवाद ने अपने मतभेद को निर्दिष्ट करने का प्रयास किया, वह आंतरिक प्रभुसत्ता के क्षेत्र का सीमांकन द्वारा था। महिलाओं के प्रश्न के संबंध में राष्ट्रवादी संकल्प क्या है? चटर्जी उल्लेख करता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में, राष्ट्रवाद के आविर्भाव से महिलाओं की प्रस्थिति पर केन्द्रित समाज सुधर के सभी महत्वपूर्ण प्रश्न (जैसे, विधवा विवाह, नारी शिक्षा, बाल विवाह का विरोध आदि) सार्वजनिक कथन के लुप्त हो गए। उसका तर्क है कि यह इसलिए होता है क्योंकि राष्ट्रवाद "आतंरिक" और बाह्य" क्षेत्र का सीमांकन कर और आतंरिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में स्वयं को प्रभुसत्ता सम्पन्न घोषित कर अपनी यात्रा आरंभ करता हैं। बाह्य क्षेत्र में इसका अधीनीकरण एक निश्चित तथ्य है परन्तु संस्कृति के आंतरिक क्षेत्र में यह पूर्ण प्रभुसत्ता का दावा करता है। यह औपनिवेशिक राज्य से बातचीत के मामले में महिलाओं का प्रश्न नहीं उठाना चाहता है। शिक्षित, सार्वजनिक जीवन में सक्रिय और साथ ही अपने पारिवारिक जीवन से पूर्णतः विज्ञ स्त्रियोंचित कर्तव्यों से पूर्णतः परिचित नई महिला का सृजन करने की योजना चलाना चाहता है। चटर्जी कहता है कि तब यह आंतरिक क्षेत्र ऐसा क्षेत्र बनता है जहाँ राष्ट्रवाद औपनिवेशिक, पश्चिमी आधुनिकता से आधुनिक नहीं हाता हैं। वास्तव में, जैसा कि बहुत से अध्ययनों से ज्ञात होता है कि सांस्कृतिक मतभेद बहुधा "अकथनीय" क्षेत्र के समूहों के बीच आंतरिक असमानता के प्रश्न के महत्व को कम करने का तरीका बन जाता है। तब चटर्जी कहता है कि समस्या यह है कि राष्ट्रवादी परियोजना में विरोधाभास प्रकट होता हैः आधुनिकता के लिए इसकी खोज कुछ रूप में आधुनिकता के विरूद्ध संघर्ष से स्पष्ट होती है। "राष्ट्रीय क्या है, यह सदैव धर्मनिरपेक्ष और आधुनिक नहीं था और लोकप्रिय तथा लोकतांत्रिक था प्रायः परम्परागत और कभी कभी कट्टरतापूर्ण आधुनिकता विरोधी था।"

2.9.3. सांस्कृतिक विखंडन और उदारवादी विचारधारा

सुदीप कविराज औपनिवेशिक आधुनिकता की विशेषताओं के बारे में अपनी रूपरेखा के अन्य तीन रोचक पहलुओं का परिचय देता है। पहला, वह कहता है कि आधुनिक उपनिवेशी शिक्षा ने अंग्रेजीऔर देशी दोनों को साथ लोकर भारतीय सांस्कृतिक जीवन में विखंडन शुरू किया। इन भिन्न भिन्न क्षेत्रों से उत्पन्न समस्याएँ भी बहुत अलग अलग थी। अंग्रेजी भाषी विश्व व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विचारों से अधिक सम्बद्ध थे, जबकि देशी भाषा–भाषी सरकार के रूप में लोकतंत्र से कम सम्बद्ध थे। देशी भाषा भाषी राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी वर्ग व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अपेक्षा "ब्रिटिश शासन से भारतीय लोगों की सामूहित स्वतंत्रता" की समस्या से अधिक चिन्तित थे। भारतीय राष्ट्रवाद अभिजात वर्गों को अधीनीकरण के संदर्भ में समानता, स्वतंत्रता और स्वायतता के अधिक उदार विचारधाराओं का सामना करना पड़ा और इसलिए राष्ट्रीय प्रभुसता से उनका उधिक तात्कालिक संबंध था इसलिए उन्होंने इन विचारों को अपने स्वयं के मुददों में अंतरित करना उचित समण। यहाँ हम दूसरी विशेषता देखते हैं, कविराज का तर्क है कि उदार विचारधारा का "भारतीय राजनीतिक तर्कों पर गहन और गंभीर प्रभाव"

था परन्तु यह प्रभाव ऐसा नहीं था जो उदार विचारों पर हावी हुआ हो परन्तु राष्ट्रवादियों पर हुआ है। यह छोटा या सतही मतभेद नहीं था परन्तु महत्वपूर्ण था जैसा कि कविराज उल्लेख करता है, राष्ट्रों और समाजों के बीच विचारों की समानता राष्ट्रीय समुदाय में आंतरिक समानता के विचार आड़े आ सकते हैं। इसलिए गांधीजी जैसे कुछ व्यक्ति भी सरलता से जाति प्रथा को उचित मान सकते हैं, ब्रिटिश से जब राष्ट्रीय समानता और स्वतंत्रता का दावा करते है।

2.9.4. भिन्न अनुक्रम और भिन्न आधुनिकता :–

कविराज के अनुसार, यह दूसरी विशेषता भी तीसरी से जुड़ी हुई है: भारत में आधुनिकता ने बहुत भिन्न अनुक्रम में पश्चिम की आधुनिकता का अनुसरण किया। कविराज कहता है कि आधुनिकता ऐतिहासिक समूह है जिसमें तीन विशिष्ट प्रक्रियाएँ है: पूंजीपति औद्योगिक उत्पादन, उदार लोकतन्त्र की राजनीतिक संस्थाएँ और ऐसे समाज का आविर्भाव जहाँ पुराने सामुदायिक बंधन समाप्त हो गए हों और वेयक्तिकता की प्रक्रिया आरंभ हो गई हों। इसका अभिप्राय है कि सबंध के पुराने रूपों में स्थान पर नए हित आधरित संघों का आविर्भाव हुआ है। यह है कि जिसे राजनीतिक सिद्धान्त में कहा जाता है, "सिविल समाज का स्थान"। पश्चिम के ऐतिहासिक प्रक्षेप पथ में लोकतन्त्र का आविर्भाव तब हुआ जब अन्य दो प्रक्रियाएँ उच्च मात्रा में विकसित हो गई थी। उदाहरण के लिए, श्रमजीवी वर्ग का प्रारंभिक आत्मनियंत्रण उस संदर्भ में हुआ, जहाँ लोकतांत्रिक प्रतिरोध की कोई संभावना नहीं थी। वास्तव में, लोकतांत्रिक आंकाक्षाएँ कम से कम आंशिक रूप से पूंजीपति औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया के परिणाम थे। दूसरी ओर, भारत मे लोकतन्त्र और संसदीय संस्थाओं से पहले अन्य दो प्रक्रियाएँ हुई थी। कविराज इस भिन्न अनुक्रम को उस प्रकार की जनवादी राजनीति से जोड़ता है जो भारत में और बहुत से उपनिवेशेत्तर देशों में राजनीतिक दृश्य पर शासन करने आता है।

यहीं वह समस्या है जिसे पार्थ चटर्जी ने "राजनीतिक समाज" संबंधी विचारधारा में हाल ही में व्यक्त की है। चटर्जी का तर्क है कि पश्चिम में जिसे सिविल सोसाइटी कहा जाता है, वह व्यक्तिवादी अधिकारधारी नागरिक का अधिकार क्षेत्र है, वह स्वछन्द प्रवेश और विकास तथा व्यक्तिगत स्वायतता के नियचमों द्वारा शासित होती है। उसका सुझाव है, गैर–पश्चिम समाजों को सिविल सोसाइटी के इस अधिकार क्षेत्र के बीच स्थायी कमी द्वारा व्यक्त किया गया जाता है जो पश्चिमी आधुनिकता के नियामक आदर्शो और समाज के उस विशाल क्षेत्र द्वारा शासित किया जाता है जो "जनसंख्या" के रूप में विकासात्मक राज्य से संबंधित होता है परन्तु राज्य की नीति इसमें हस्तक्षेप कर सकती है। यहाँ अधिकारों की किसी भी धारणा के बदले सरकार का उत्तरादायित्व होता है जो वह आधार प्रदान करता है जिससे इन समुदायों से समझौता करने का दावा कर सकते हैं। हम जैसा कि चटर्जी ने विस्तार से वर्णन किया है, इस अवधारणा पर लम्बी चर्चा नहीं कर सकते हैं, परन्तु यह नोट करना महत्वपूर्ण है कि उसके अनुसार "राजनीतिक समाज" के महत्वपूर्ण निर्धारक विशेषताओं में से एक ऐसा अधिकार क्षेत्र है जहाँ समुदाय के विचार अभी भी शक्तिशाली प्रभाव रखते हैं– परन्तु व्यक्तिक विचारों का प्रभाव नहीं होता है जो सिविल सोसाइटी के निर्धारक विशेषताओं को पारिभाषित करता है। चटर्जी और कविराज जैसे विद्वानों के तर्क है कि गैर पश्चिमी आधुनिकता की इस अनूठी विशेषता को "कमी" या "अल्प विकास" या "अधूरी आधुनिकता" के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए। बल्कि उन्हें विशिष्ट तरीके में देखा जाना चाहिए जिसमें उपनिवेशी संदर्भ में आधुनिकता बनाई गई है। इसका इतिहास पश्चिमी आधुनिकता से भिन्न है और भिन्न भविष्य होने की भी संभावना है।

2.10 राष्ट्रवाद, इतिहास और विजित ज्ञान

यह मानते हुए कि अभी तक हमने राष्ट्रवाद के बारे में विचार किया है कि केवल एक ही सत्य थी जो राष्ट्रवाद कहलाता था और वह भारतीय राष्ट्रवाद था। जैसा कि यह होता है न तो एक ही राष्ट्रवाद था और न ही उस मामले के लिए एक ही भारतीय राष्ट्रवाद था। उदाहरण के लिए हम जानते है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक प्रकार का भारतीय राष्ट्रवाद अपनाया था जिसे हम "धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद" कह सकते हैं। हम यह भी जानते हैं कि मुस्लिम लीग ने कम से कम लगभग 1940 से आगे पाकिस्तानी राष्ट्रवाद अपनाया। इसे प्रायः "दो राष्ट्र सिद्धान्त" कहा जाता है। यह विनायक दामोदर सावरकर, जैसे किसी व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किया गया, जो स्पष्ट रूप से हिन्दू भारतीय राष्ट्रवाद के लिए दृढ़ थे। उदाहरण के लिए, हम यह भी जानते हैं कि यह बंगाली राष्ट्रवाद, असमी राष्ट्रवाद, मलयी राष्ट्रवाद और इसी प्रकार के अन्य राष्ट्रवादों के राष्ट्रवाद अवधि के दौरान था। प्रश्न यह है कि यदि भारत नाम की कोई वस्तु/राष्ट्र पहले ही विधमान था तो हम इस तथ्य को

कैसे मान सकते है कि इतने अधिक भिन्न भिन्न तरीके में देखा? सुदीप कविराज अपने सुपरिचित निबंध "इमेजिनरी इंस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया" में इस प्रश्न के उतर देते हुए यह दावा करते हैं कि जिस भारत के बारे में आज हम किसी समस्या के बिना बात करते हैं, वह वास्तव में खोज नहीं थी, यह अन्वेषण था। इसे खोज कहकर जैसे नेहरू ने अपनी पुस्तक डिस्कवीर ऑफ इण्डिया में किया, हम इसका आशय यह निकालते हैं कि "यह पहले से ही यहाँ था", संभवतः अति प्राचीन समय से था। यदि आज आपसे पूछा जाता हैं, भारत क्या है, तो आप संभवतः उसकी भौगोलिक सीमाएँ, कश्मीर से कन्याकुमारी तक और बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक का वर्णन करेंगे। आप उसकी भिन्न भिन्न भाषायी, धार्मिक, जाति और जनजाति समूहों का जो इस भूमि में निवास करते हैं, उनका विवरण देंगे। आप संभवतः यह भी कहेंगे कि इस सबके होते हुए भी भारत "अनेकता में एकता" का प्रतिनिधित्व करता है। और फिर भी यदि आपको कहा जाता है कि उन्नीसवीं शताब्दी से पहले कोई भी व्यक्ति ठीक ठीक इस भूमि की भौतिक लम्बाई भी नहीं जानता था और कि हमारे पूर्वजों को कोई जानकारी नहीं थी कि प्रत्येक समुदाय में कितने लोगे थे। तब भारत का क्या चित्र था जिसका अनुमाप आप लगाएँगे? प्रारंभिक राष्ट्रवादियों ने अपने भारत का चित्र कैंसे खींचा होगा?

2.10.1 उन्नीसवीं शताब्दी में भारत का निर्माण

उदाहरण के लिए इस तथ्य को लें कि भारत के पहले अंतरिम मानचित्र (उस समय भारत का नाम भी विद्यमान नहीं था) 1782 और 1788 के बीच बंगाल में उपनिवेशी अधिकारी, जेम्स रेनेल द्वारा तैयार किया गया था। यह केवल 1818 तक हुआ था कि उपमहाद्वीप का विशाल भाग ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार में आ गया था। इस भूमि के भौगोलिक भाग का विचार उभरने लगा। यह केवल उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ था कि "भारत" नाम के भौगोलिक सत्ता के विचार को दृढ़ता मिली। मैथ्यू इडनी ने भारत के मानचित्रण का प्रलेखन और विश्लेषण किया। उसके अनुसार "भारत के एक समान और विस्तृत पुरालेख के निर्माण में ब्रिटिश ने क्षेत्र के राज्य क्षेत्रों की गुंजाइश और स्वरूप निश्चित किया। उन्होंने पहाड़ों के भौतिक प्राकृतिक दृश्यों के अंदर गाँवों, किलों की आबादी, सड़कों, सिंचाई योजनाओं और सीमाओं का पता किया और उनका मानचित्रण किया.....।" उन्नीसवीं शताब्दी में भारत की पहली जनगणना की गई और केवल 1881 में पहली विस्तृत जनगणना की गई। तब यह विचार था कि वहाँ रहने वाले लोगों के भिन्न–भिन्न समुदायों की जानकारी और उनकी संख्या उपल्बध हो सके। परन्तु यही सब कुछ नहीं था, यह केवल इतना भर नहीं था कि ब्रिटिश के उद्देश्यपरक तरीके में भूमि के बारे में सूचना संकलित की। भारतीय उपमहाद्वीप जैसे विशाल भूक्षेत्र की विशाल जनसंख की गणना करना और उसे अर्थमूलक बनाने के लिए उन्हें जनसंख्या को भिन्न–भिन्न समूहों में वर्गीकृत करना था। चूँकि समुदाय के बारे में कोई स्पष्ट मत नहीं था, इसलिए ब्रिटिश ने वर्गीकरण के प्रयोजन के लिए अपने ही तरीके अपनाए। बड़ी श्रेणियाँ, जैसे "हिन्दू और मुस्लिम" तथा वे जातियाँ भी (जिसमें हजारों जातियों को रखा गया) मुख्यतया जनगणना के लिए थे। यह यद्यपि धार्मिक प्रभुत्व नहीं था, जनगणना से पहले जातियाँ विद्यमान नहीं थी परन्तु ऐसे अस्पष्ट क्षेत्र थे जिनका आसानी से वर्गीकरण नहीं किया जा सकता था। इन सैकड़ो श्रेणियों को कम कर कुछ में ही किया जाना था। इस प्रयोजन के लिए उनकी सीमाएँ ठीक–ठीक परिभाषित की जानी थी। ऐसा करने में उपनिवेशी शासन ने, वास्तव में, नई श्रेणियाँ बनाई और उन्हें कुछ निश्चित तरीके में रखा, जैसा कि अब काफी ऐतिहासिक कार्य दिखाता है। यह ऐसा मामला नहीं है जिस पर यहाँ विस्तार से चर्चा कर सकते हैं परन्तु कुछ तथ्यों को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

कविराज ने अपने उपर्युक्त लेख में जिसे वह "अस्पष्ट" और "गिनती किए गए" समुदाय कहता है, इनके बीच अंतर किया है। कई तरीकों में एक तरीका है जिसमें गणना और वर्गीकरण ने उस तरीके को बदला जिसमें समुदाय विद्यमान है, इन तरीकों को कविराज ने इस अंतर में पाया कि आधुनिक पूर्व अवधि में व्यक्तियों ने अस्पष्ट समुदायों में अपनी पहचान कही भावना को तय नहीं किया था परन्तु उसका अभिप्राय यह नहीं था कि उनमें पहचान की कोई भावना ही नहीं थी। उसका तर्क है कि व्यक्ति उपयुक्त अवसरों पर अपने आपको वैष्णव, बंगाली कह सकते है या कायस्थ, ग्रामवासी आदि हो सकते है। परन्तु इनमें से कुछ भी उनकी पहचान का पूरा विवरण नहीं हो सकता है। उनमें से प्रत्येक विशिष्ट परिस्थितियों में अपना आचरण परिभाषित कर सकता है परन्तु यह एक तरीके में आधुनिक गणना किए गए समतुदायों की पहचान से पूर्णतः भिन्न था। यह केवल तब था जब एक ही पहचान नियम की गई थी कि वे यह पूछना शुरू करने लगे, जैसा आधुनिक समुदाय करते हैं, विश्व में कितने थे, सार्वजनकि संस्थाओं में उनका क्या प्रतिनिधित्व था, उनके साथ भेदभाव कैसे किया जा रहा था आदि। इसलिए जैसा कि दीपेश चक्रवर्ती दावा करते है 1890 के दशक तक हिन्दू और मुस्लिम नेता यह सिद्ध

करने के लिए एक दूसरे पर जनगणना आँकड़े उद्धत करते थे कि उन्हें ब्रिटिश शासन से उनके वैध लाभों का भाग (जैसे रोजगार और शिक्षा) प्राप्त करने का अधिकार था या नहीं"। इस दृष्टि से बहुसंख्यक और अल्संख्यक की आधुनिक धारणा और अन्य इसी प्रकार के प्रश्न केवल इस प्रकार के गणना में किए गए समुदायों से प्रस्तुत करना संभव होता है यह इस दृष्टिकोण से है कि ज्ञानेन्द्र पांडेय ने अपने कंस्ट्रक्शन ऑफ दी कम्यनलिज्म इन कालोनियल नार्थ इंडिया में कहा है, यद्यपि उपनिवेशवाद से पहले हिन्दुओं और मुसलमानों में साम्प्रदायिक संघर्ष थे, वे सामान्यतया बहुत से भिन्न भिन्न प्रकार से स्थानीय संघर्ष थे। वे आधुनिक दृष्टि से साम्प्रदायिक नहीं थे क्योंकि पहले स्थान में "समुदाय" का कोई अर्थ नही था। वह कहता है कि किसी भी दशा में उपनिवेशी व्यवहार और ज्ञान ने भारतीय समाज में इस अंतर को अनिवार्य रूप से अंकित करने से पहले अखिल भारतीय हिन्दुओं और मुसलमानों की कोई ऐसी भावना नहीं थी। उदाहरण के लिए हम देख सकते हैं कि मुसलमानों की आबादी हिन्दुओं की आबादी से अधिक बढ़ रही है, इस कथन ने केवल बहुसंख्यक और अल्संख्यक के विचार ने आकार लेना शुरू किया, इसे गणना और वर्गीकरण की पद्धति ने संभव बनाया।

प्रमुख लक्ष्यों में से एक जो तब उपनिवेशी सरकार की चर्चा से उभरा है, वह है, भारत के संबंध में हमारा विचार उसकी भौगोलिक सीमाएँ, उसकी जनसंख्या और उसका सास्कृतिक संयोजन आदि सभी उपनिवेशी राज्य द्वारा उत्पन्न किए गए ज्ञान द्वारा बनाए गए थे। सबसे अधिक महत्वपूर्ण क्या है कि राष्ट्रवादी राजनीति सहित सभी अनुवर्ती राजनीति को इस ज्ञान से मूर्त रूप मिला। राष्ट्रवादी आन्दोलन की प्रारंभिक प्रावस्था में यह, वास्तव में, स्पष्ट नहीं था कि राष्ट्रवाद क्या था? उपनिवेशी शासन की आलोचना ठीक ही थी। परन्तु तब भारत नाम के पूर्णतः परिभाषित राष्ट्र की ओर से यह आलोचना नहीं की गई थी। जैसा कि बहुत से अध्ययनों ने दिखाया है, प्रायः बंगाली राष्ट्रवाद या असमी राष्ट्रवाद था और ऐसा कोई अन्य जिन्हें उपनिवेश विरोधस अभिजात वर्ग की पहली पहचान की गई थी। चूँकि भारत का विचार अधिक गहरा हो गया था और इसकी सीमा रेखाएँ अधिक स्पष्ट रूप से परिभाषित हो गई थी, इसलिए राष्ट्रवाद शीघ्र ही नए भावी राष्ट्र के आदर्श उम्मीदवार के रूप में यह भारत अपनाया गया।

2.10.2 राष्ट्रवादी कल्पना और भारत का इतिहास

तथापि एक समस्या थी। राष्ट्र के रूप में किसी प्रकार की वैधता के लिए सत्ता का दावा इतनी जल्दी कोई कैसे कर सकता है? राष्ट्रत्व के इसी विचार के लिए आवश्यक है कि नया राजनीतिक समुदाय प्राचीन इतिहास का दावा करें। इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी के बहुत बड़े भाग के लिए प्रारंभिक राष्ट्रवादियों ने भारत के इतिहास की खोज करने के लिए अथक परिश्रम किया। जैसा कि कविराज कहता है, इस अवधि में विशेषकर बंगाल में, "इतिहास सभी जगह प्रकट हुआ है।" महत्वपूर्ण विचारकों, जैसे बंकिमचन्द्र चट्टोपध्याय ने दावा किया कि "हमारा इतिहास होना चाहिए।" वास्तव में, बंकिम इसे अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है कि यहाँ तक कि जब वे चिड़ियों का शिकार करते थे, साहेब (अर्थात् ब्रिटिशर्स) तब भी अपना इतिहास लिखते हैं, परन्तु हाय, बंगालियों को काई इतिहास नहीं है।" ध्यान दें कि उस अवस्था में भी बंकिम केवल बंगाल और अपने राष्ट्र के रूप में बंगाली की ही सोच रहा था, फिर भी इतिहास होने की इच्छा सशक्त थी।" इतिहास के लिए इस खोज का क्या अभिप्राय है कि बंगालियों और भारत का कोई अतीत नहीं था? निश्चय ही यह ऐसा मामला नहीं था। परन्तु जैसा कि सभी आधुनिकता पूर्व संस्कृतियों में अतीत से संबंध भिन्न प्रकार का था। यह क्या था, उसने ही अतीत के पिछले विवरणों से आधुनिक तात्पर्य में भिन्न इतिहास बनाया। यदि हम उन विवरणों को देखे जो उपनिवेश पूर्व अवधि में उपलब्ध हैं तो वे या तो राजाओं की वंशावालियाँ है या ये किसी खास घटनाओं के मौखिक संप्रेषित कहानियाँ है। यदि इतिहास होना ह" तो इसके लिस समुदाय होना चाहिए, गणनायुक्त समुदाय होना चाहिए जिसका इतिहास होना चाहिए। अधिक प्रमाणिक और दृढ़ता से परिभाषित समुदाय या लोग होने चाहिए जिनका तब इतिहास लिखा जा सके। यह भावना तब उठी जब "भारत" का विचार ठोस वास्तविकता बना, उपर्युक्त उपनिवेशी सरकार की पद्धतियों के आभारी हैं। भिन्न–भिन्न वर्णो के राष्ट्रवादियों के अधिकांश प्रयास इस दिशा में थे कि राजनीतिक समुदाय को परिभाषित किया जाए ताकि भारत कहे जाने वाले भू–भाग के भीतर सभी विविध तत्वों का समावेश किया जाए। और इस भारत का इतिहास होना चाहिए। भारत का इतिहास लिखने के संसाधन कहाँ से आए थे?

2.10.3 प्राच्यवाद और उपनिवेश का अपना ज्ञान

यह सुविदित है कि भारत के बारे में शैक्षिक जानकारी, अर्थात् उसका इतिहास अठारहवीं शताब्दी के अंत में और उन्नीसवीं शताब्दी में महान प्राच्यविदों के प्रयासों से लिखा गया था। ब्रिटिश प्राच्यविदों, जैसे विलियम

जॉन द्वारा 1784 में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की स्थापना को इस प्रयास में मील के पत्थर के रूप में माना जा सकता है। उदाहरण के लिए ओ.पी. केजरीवाल का "दी एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल एण्ड दी डिस्कवरी ऑफ इंडियाज पास्त" भारत के अतीत के उत्खनन में अग्रणीय संस्था का हाथ है, केजरीवाल ने जब 1834 में एशियाटिक सोसाइटी के काम की देखभात करनी आरंभ की, उस समय तक प्राचीन सम्राटों जैसे समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त मौर्य के नामों को कोई भी व्यक्ति नहीं जानता था। यह यहाँ तक कुछ उतेजना के साथ उल्लेख करना तो दूर की बात है, लोगों के लिए उनके नाम, तब तक अज्ञात थे, जब तक सोसाइटी का कार्य प्रकाश में नहीं आया।" आगे वह कहता है कि उसके लिए यह देखना आश्चर्यजनक था कि यहाँ तक कि कुछ अन्य ज्ञात राजवंशों, जैसे पलास, सेना, गौरवरी, बलभी और अन्य उन्नीसवीं शताब्दी तक अज्ञात थे, एशियाटिक सोसाइटी के विद्वानों द्वारा प्रकाश में लाया गया। यहाँ पर भारत के इतिहास खोज संबंधी उन्नीसवीं शताब्दी के प्राच्य विद्वानों द्वारा कि गए विशाल कार्य पर चर्चा करना संभव नहीं है। हमारे लिए ध्यान देना आवश्यक क्या है, वह है कि यदि ठीक उन्नीसवीं शताब्दी तक जिसे हम आज भारत के "प्राचीन राष्ट्र" के रूप में जानते है, उसका स्पष्ट भौगोलिक रूप नहीं था, जो उसमें रहते थे, उनकी भिन्न–भिन्न संस्कृतियाँ और समुदायों का विववरण हमारे पास नहीं था, इतिहास नहं था तब क्या जिसने यह कहानी संभव बनाई जिसे हम आज मानते है– कि "भारत" एक प्राचीन राष्ट्र है जिसका गुप्त और मौर्य साम्राज्य के समय स्पष्ट स्वर्ण युग था और आदि? विद्वानों द्वारा यहाँ पर प्रश्न उठायागया था जिस विषय पर हम ऊपर चर्चा कर रहे हैं, वह भारत है जो अन्य राष्ट्रों की भांति अपेक्षाकृत नए और आधुनिक सता हैं। अन्य राष्ट्रों की भांति, यह सामूहिक कल्पना का कार्य है जिसने उन्नीसवं शताब्दी के उतरार्द्ध से आगे कार्य किया जिसने महान और प्राचीन सभ्यता का वर्णन प्रस्तुत करने के लिए प्राच्य विद्या के विद्वानों द्वारा किए गए काग्र का बहुत निपुणता से अपनाया। यह राष्ट्रवादियों की कल्पना थी जिसने राष्ट्र का इतिहास तैयार किया था जिसमें भिन्न–भिन्न सताओं के सभी अलग अलग इतिहास थे जो.....

इसलिए जब उन्नीसवीं शताब्दी के राष्ट्रवादियों जैसे बंकिमचन्द्र ने इतिहास की आवश्यकता सिद्ध की, वास्तव में उन्होने इस आधुनिक बुद्धिवादी प्रकार के इतिहास की आवश्यकता पर जोर दिया। इसलिए दृष्टान्त के बारे कुछ अन्य सोचना उचित है। कविराज के दावा में भारत के इतिहास में सातवाहन या सिन्धु घाटी सभ्यता के इतिहास के समावेशन में कुछ विदेशीपन शामिल है। या वर्तमान भौगोलिक सीमाओं के आधार पर क्या हम तब सिन्धु घाटी सभ्यता और मोहनजोदड़ो का दावा कर सकते है क्योंकि वे इस समय पाकिस्तान में है? दूसरे शब्दों में, सम्पूर्ण पिछले इतिहास को वर्तमान भारत के राष्ट्रीय इतिहास के भाग के रूप में दावा करने का प्रयास किस प्रकार तर्क संगत है?

अब यह तथ्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी से पहले हमारे पास कोई इतिहास नहीं था" इसका अभिप्राय यह नही समझा जाना चाहिए कि हम में अतीत से कोई भावना या संबंध नहीं था। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के राष्ट्रवादियों ने भी इसे हमारे पिछड़ेपन के चिन्ह या "कर्मो" के रूप में देखा जिसने यह सिद्ध किया कि हम आधुनिक नहीं थे। यहाँ एक महत्वपूर्ण दृष्टान्त ध्यान में रखा जाना चाहिए। एक तरीका जिसमें पश्च संरचनावाद ने पश्चिमी संरचनावाद की सहज बुद्धि ने यह प्रश्न किया कि एकमात्र और रेखीय विकास के रूप में "मानव इतिहास" की उसकी धारणा को चुनौती देकर ज्ञानोदय हुआ है। उदाहरण के लिए, हम जानते है कि निचले स्तर से उच्चतक स्तर में प्रगति की कहानी के रूप में मानव इतिहास की कहानी आधुनिक ऐतिहासिक चेतना का आधार रही है। संरचनावाद–पश्च ने अन्य बातों को साथ–साथ इस विचार को चुनौती दी कि अतीत के बारे में केवल एक ही तरीका हो सकता है और वह है ऐतिहासिक तरीका। फिर प्रश्न यह नही है कि यहाँ विस्तार से चर्चा करें बल्कि यह ध्यान रखना उपयोगी है कि इस प्रकार की ऐतिहासिक आत्मचेतना आधुनिक परिकलित समुदायों की विशेषता है जो लगातार अपनी और अन्य के संबंध में सामूहिक स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता महसूस करते है। यदि आधुनिक पूर्व समुदाय अपने अतीत के बारे में कोई तर्क सम्मत जानकारी देना आवश्यक नहीं सकझते हैं तो इसका केवल एक मात्र कारण हैं कि विश्व में उनके अस्तित्व के तौर तरीके ऐसे है कि वे क्या हैं, यह दिखाना आवश्यक नहीं मानते है। इस प्रकार के समुदायों में समय की धारणा का काल और जीवनकाल के बीच को स्पष्ट अंतर नहीं करते है। कई तरीकों में एक तरीके का इतिहास और ऐतिहासिक काल की इस समझ को उपनिवेशों में जीवन प्रभावित किया है, यह अभी प्रभावित कर रहा है, वह सभी समाजों के खास ऐतिहासिक यात्रा प्रारम्भ करता है, जैसे कि वे एक ही सत्व हो। उस कहानी में यूरोप ऐसा स्थान प्रतीत होता है जहाँ इतिहास है, क्योंकि यह प्रगति के मानदंड में सबसे आगे है। तब सभी समाजो ने अपने आधार पर यूरोपीय इतिहास का प्रतिदान किया। उपर्युक्त कार्यों से एक शिक्षा यह है कि हमें अपना इतिहास स्वयं लिखना

शुरू करना चाहिए न कि यूरोप के इसे और इसके इतिहास को नकारते हुए सार्वदेशिक प्रस्थिति को स्वीकार करना चाहिए जिसको इसने अर्जित किया है।

2.11 सारांश

इस इकाई में प्राच्यवाद (प्रारंभिक चिंतन) की अवधारणा और आधुनिकता के प्रश्न तथा भारत में इसकी औपनिवेशिकता पर चर्चा की गई है। यह अब तुलनात्मक रूप से विफल अध्ययन है और पूर्व उपनिवेशों तथा उपनिवेशी मालिकों दोनों के लिए नई और गहरी जानकारी प्रदान की है। उदाहरण के लिए यह विचार कि अकेला यूरोप का इतिहास संदर्भ का विषय नहीं का सकता है तब हैं, भारत का विचार औपनिवेशिक भारत के राष्ट्रवादी इतिहासकारों द्वारा कैसे संकल्पिक और विकसित किया गया था।

2.6 अभ्यास प्रश्न

1. औपनिवेशिकता आधुनिकता के प्रश्न पर विद्वानों में भिन्न भिन्न विचारधाराओं की चर्चा कीजिए।
2. प्राच्यवाद और औपनिवेशिक कथन के संबंध में राष्ट्रवाद की चिन्ता स्पष्ट कीजिए।
3. उदार विचारों के संदर्भ में राष्ट्रवाद और उसकी विशेषताओं की चर्चा कीजिए।
4. उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के निर्माण की आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
5. प्राच्यवाद और उपनिवेश के आत्म ज्ञान की चर्चा कीजिए।

अध्याय:-03
आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताएँ

संरचना

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 मुख्य विशेषताएँ

3.3.1 आधुनिक भारत की विचारधारा की दो अवस्थाएँ

3.3.2 समाज सुधार व पुर्नजागरण

3.3.3 सुधारकों की दो धाराऐं

3.3.4 जाति बंधनों पर प्रहार

3.3.5 सामाजिक व धार्मिक कर्मकाण्ड का विरोध

3.3.6 नारी स्वतन्त्रता व गरिमा पर आधारित

3.3.7 मूर्ति पूजा का विरोध

3.3.8 हिन्दू धर्म में आस्था व पुर्नत्थान

3.3.9 राष्ट्रवाद का आध्यात्मिकरण

3.3.10 धार्मिक सहिष्णुता व हिन्दू

3.3.11 सामाजिक सुधारों हेतु पश्चिम की ओर देखना

3.3.12 सामाजिक सुधार कानून क माध्यम से

3.4 सारांश

3.5 अभ्यास प्रश्नावली

3.1 उद्देश्य

भारतीय राजनीतिक चिन्तन के प्राचीन व मध्यकालीन विचारों को जानने के पश्चात् आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन को जानने का अवसर मिलेगा। इस अध्याय का प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार है–

- भारतीय सामाजिक व धार्मिक आयामों के विशेष सन्दर्भ में आधुनिक राजनीतिक को जानना।
- भारत में पुर्नजागरण व समाज सुधार की दिशा को समझना।
- भारत में राष्ट्रवाद के उदय को जानना।

3.2 प्रस्तावना

जैसा कि पूर्व के अध्याय में हम यह अध्ययन कर चुके है कि चिन्तन किसी भी समाज व राष्ट्र का आईना होता है जो हमें इस बात की इंगित करता है कि उस समाज व राष्ट्र का इतिहास कैसा रहा और वर्तमान में किस चुनौतियों के दौर से गुजर रहा है और उसका भविष्य किस प्रकार संवारा जा सकता है। चिन्तन एक वह माध्यम रहा है जिसने समाज व राष्ट्र को सही पथ पर चलने के लिए प्रेरित किया तथा निहित चुनौतियों से आगाह करते हुए उनसे निपटने के साधन प्रस्तुत किये है। इस बात का इतिहास साक्षी है कि जब–जब किसी समाज व राष्ट्र के समक्ष गम्भीर संकट आया है तब–तब उन्हें उस गम्भीर संकट से उभारने के लिए चिन्तक या सुधारक प्रकट हुए है। यही बात भारतीय समाज पर लागू होती है। इस अध्याय में हम आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तकों के उन आयामों को जानने का प्रयास करेगें जिनकी बदौलत भारत में सामाजिक व राजनीतिक क्षेत्र मे पुर्नजागरण आया। समाज में निहित बुराईयों, आडम्बरों, कर्मकांडों, जातिबंधन, सत्तीप्रथा, महिला उत्पीडन जैसे अमानवीय मान्यताओं पर न केवल प्रहार किया अपितु राजा राम मोहन राय के द्वारा इन कुप्रथाओं पर प्रतिबंध लगाने के लिए कानून का ही सहारा लिया जिसके परिणामस्वरूप 1829 में सत्ती प्रथा निषेध कानून

लार्ड विलियम बेडिंग द्वारा लाया गया। यह एक ऐसा दौर था जब सत्ती प्रथा के विरोध में आवाज उठनी तो दूर की बात सोचना भी, सामाजिक दृष्टि से अपराध माना जाता था। इस तरह सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार व उनके विरूद्ध वातावरण बनाना किसी चुनौती से कम नहीं था। प्राचीन काल में समाज का व्यवस्थित करने के लिए स्थापित व्यवस्थाओं पर बुराईयों की मोटी परत जम गई थी। वर्णव्यवस्था पर जन्म का बंधन इतना हावी हो गया कि समाज जाति की संकुचित जाल में फंस गया, यह जाल इतना जटिल है कि आज तक हम उससे निकल नहीं पा रहे है। यद्यपि आधुनिक समाज के तमाम सुधारकों ने इसका न केवल विरोध किया परन्तु समाज व राष्ट्रीय एकता के लिए घातक माना।

आधुनिक चिन्तन सामाजिक पुर्नजागरण तक सीमित नहीं था। यह ऐसा दौर था जब राजनीतिक रूप से नव चेतना व नव जागरण की शुरूआत हुई। जिसकी कि इस अध्याय में जानने की कोशिश की जाएगी। कहने के लिए हम 18वीं व 19वीं सदी में अंग्रेजों की गुलामी में थे ओर उससे मुक्ति के लिए राजनीतिक चेतना की आवश्यकता थी परन्तु मेरा यह मानना है कि निःसन्देह हम अंग्रेजों की गुलामी में थे परन्तु राजनीतिक रूप से प्राधिनता का दौर 11वीं सदीसे शुरू हो गया था जब भारत पर विदेशी आक्रमण होना शुरू हुए। आधुनिक पुर्नजागरण तत्कालीन अंग्रेजी हुकूमत से निजात पाने का एक आन्दोलन, अवश्य था, परन्तु हमें यह नही भूलना चाहिए कि हमारे स्वतंत्रता संग्राम का संबंध लगभग 900 वर्षों की विदेशी दासता से मुक्ति का आन्दोलन था। इस स्वतन्त्रता संग्राम व पुर्नजागरण की शुरूआत बंगाल से हुए। जिसमें कई उतार–चढ़ाव देखे गए। इसके लिए जितने भी चिन्तक हुए उनका अपना–अपना चिन्तन व दृष्टिकोण था परन्तु सभी का एक ही ध्येय था कि भारत में राजनीतिक चेतना आये और गुलामी की बेड़ियों से मुक्ति मिले।

किसी भी समाज राष्ट्र में पुर्नजागरण अचानक शुरू होने वाली प्रक्रिया है जो कई तत्वों व प्रसंगों से समाहित होने का परिणाम है। पुर्नजागरण किसी भी क्षेत्र के लिए हो सकता है। जैसे यूरोप में इसाई धर्म में व्यापत बुराईयों को दूर कने के लिए मार्टिन लूथर के नेतृत्व में जो धर्म सुधार आन्दोलन हुआ वह भी इसी का प्रतीक है। आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन बढाने, कारखानों में नवीन तकनीकी व मशीनों का प्रयोग करने के लिए जो औद्योगिक क्रांति (1820–1840) आयी वह भी इसी का रूप है। ठीक इसी तरह भारत में 16वीं व 17वीं शताब्दी में सामाजिक व राजनीतिक क्षेत्र में परिवर्तन लाने के लिए शुरू किये गये । अभियान व चिन्तन इसी पुर्नजागरण का ही रूप है। इस तरह पुर्नजागरण की आवश्यकता हर स्तर, हर समय, हर समाज व हर राष्ट्र की होती है। और होनी भी चाहिए। जिस तरह मानव शरीर में निहित अवशिष्ट पदार्थो का निकलना शरीर के स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है ठीक उसी प्रकार समय समय पर समाज में होने वाली विकृतियों को दूर करना आवश्यक है।

3.3 मुख्य विशेषताएँः–

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन हमारे प्रत्येक क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन से सरोकार रखता है। ये परिवर्तन समय की मांग भी था, जिसकी प्रमुख विशेषताऐं इस प्रकार हैः–

1. आधुनिक भारत की विचारधार की दो अवस्थाएं	7 मूर्ति पूजा का विरोध
2. समाज सुधार व पुर्नजागरण	8 हिन्दू धर्म में आस्था व पुर्नत्थान
3. सुधारकों की दो धाराएं	9 राष्ट्रवाद का अध्यात्मिकरण
4. जाति बंधनों पर प्रहार	10 धार्मिक सहिष्णुता व हिन्दू
5. सामाजिक व धार्मिक कर्मकाण्डों का विरोध	11 सामाजिक सुधार हेतु पश्चिम की ओर देखना
6. नारी स्वतन्त्रता व गरिमा पर आधारित	12 सामाजिक सुधार कानून के माध्यम से

3.3.1 आधुनिक भारत की विचाराधारा की दो अवस्थाऐंः–

मुख्य रूप से आधुनिक भारत की विचारधारा या चिन्तन की दो अवस्थाऐं दिखायी देती है। पहली का संबंध सामाजिक या हिन्दू पुनरूद्धार से था। जिसमें मुख्य तौर पर समाज व हिन्दू धर्म में व्याप्त बुराईयों, कर्मकाण्डों पर प्रहार किया गया और यह सिद्ध किया गया कि इनके चलते समाज किस तरह घोर अंधकार में है और अपने गौरवशाली इतिहास को समाप्त कर रहा है, जिसके कारण समाज न केवल खोखला हुआ अपितु

इसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ गया। सामाजिक सुधार की शुरूआत भी बंगाल से हुए इसलिए इसे बंगाल का आन्दोलन कहा गया। परन्तु धीरे–धीरे इसका प्रभाव सम्पूर्ण भारत में फैला जिसकी परिणित कई रूपों में हुए। हर वही दूसरी का संबंध राजनीतिक पुर्नजागरण से है। जिसका मुख्य व तत्कालीन उद्देश्य ब्रिटिश शासन से मुक्ति पाना था क्योंकि इस शासन के कारण न केवल राजनीतिक दमन हो रहा था अपितु धार्मिक व आर्थिक क्षेत्र पर भी बुरा प्रभाव पड़ रहा था। धार्मिक रूप से हिन्दू धर्म में व्यापक बुराईयों के चलते शासन के संरक्षण में ईसाई धर्म का व्यापक प्रचार–प्रसार किया गया तथा आर्थिक रूप से भी दमन किया और भारतीय संसाधनों को ब्रिटेन भेजा गया। इस तरह भारत हर स्तर पर खोखला हो चुका था उससे निजात पाने के लिए राजनीतिक चेतना अत्यन्त जरूरी थी। जिसमें राजाराम मोहन राय, विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, गोखेले, रानाडे, तिलक, गांधी, नेहरू व अम्बेडकर जैसे चिन्तकों का योगदान रहा। जिन्होंने अपने चिन्तन के माध्यम से राजनीतिक चेतना का दीज प्रज्जवलित किया। जिसका प्रभाव केवल स्वतन्त्रता के पश्चात स्थापित अपने संविधान व संवैधानिक ढांचे पर पड़ा। यू कहें कि हमारी सम्पूर्ण संविधान निर्माण की प्रक्रिया, संवैधानिपक ढांचा व संविधानवाद इन चिन्तकों के विचारों पर केन्द्रीत था।

3.3.2 समाज सुधार व पुर्नजागरणः–

19वीं शताब्दी में बंगाल में बौद्धिक क्रियाकलापों का तीव्र गति से उदय हुआ। यंग बंगाल आन्दोलन के प्रर्वतक एंग्लो इंडियन "हेनरी विलियम डेरेजिओ (1809–1831) थे। यह आन्दोलन वर्ष 1828 ई. में बंगाल में चला था इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य प्रेस की स्वतंत्रता, जमींदारों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का विरोध तथा उच्च सरकारी पदों पर भारतीयों को नियुक्ति दिलाना। इसके पश्चात् बंगाल के अनेक युवा, पत्रकार, विचारक व समाज सुधारक जैसे ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, राजाराम मोहन राय, कैशवचन्द्र सैन, माइकिल मधुसूदन, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, स्वामी विवेकानन्द जैसे चिन्तको ने पुर्नजागरण को एक

प्रारम्भिक चिन्तन और औपनिवेशिक आधुनिकताः–

इस इकाई में हमारे द्वारा प्रारम्भिक चिन्तन व औपनिवेशिक आधुनिकता को जानने का प्रयास करेंगें। इसके पूर्व हमारे द्वारा आधुनिक राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक चिन्तन का अध्ययन किया गया। जिसमें यह ज्ञात किया गया कि भारतीय चिन्तन की नींव किसी प्रकार रखी गई और यह चिन्तन किसी तरह पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करता है। मध्यकाल में मुस्लिम शासकों का शासन व इस दौरान के चिन्तन को जाना गया। इसमें भारत में औपनिवेशिकता के दौर को जानने का प्रयास किया जाएगा। भारत में मुगल शासन के अन्त के बाद किस तरह से यूरोपीयन जातियों का साम्राज्य स्थापित हुआ। जिसमें मुख्य रूप से अंग्रेजों का साम्राज्य था जो न केवल भारतीय उपमहाद्वीप तक सीमित रहा अपितु विश्व के एक बड़े भू भाग पर इस साम्राज्य स्थापित हुआ और यहां तक कहा गया कि ब्रिटेन का सूरज कभी अस्त नहीं होता अर्थात् इनका साम्राज्य इतना फैला हुआ था कि कही न कही सूरज अवश्य रहता है। पुर्नजागरण व औद्योगिक क्रांति के पश्चात यूरोप की जातियों में व्यापक परिवर्तन व जागरूकता आयी। यह उसी का परिणाम है कि इनका क्षेत्राधिकार पूरी दुनिया मे फैला जिसका प्रभाव भारत सहित अन्य चिन्तन पर पड़ा। पाश्चात्य चिन्तन में जातिबंधन, छुआछुत, महिला उत्पीड़न जैसी संकीर्ण विचारधाराओं का कोई स्थान नहीं था। जिस तरह राजनीतिक रूप से न्याय, समानता, समता मूलक समाज, विधि का शासन, लोकतंत्र, स्वतंत्रता, लोककल्याण, धर्मनिरपेक्ष उदार समाज, संविधानवाद, मुक्त समाज, अभिव्यक्ति व विकास को आधार बताया जिसका प्रभाव भारतीय चिन्तन पर भी पड़ा। भारत में पुर्नजागरण के प्रवर्तक को दिशा दी। इसी तरह पश्चित भारत में पुर्नजागरण की शुरूआत हुए जिसका श्रेय बाल शास्त्री जम्भेकर, ज्योतिराज गोविन्द राव फूले, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, गोपाल गणेश आगरकर, स्वामी दयानन्द सरस्वती को जाता है। जिनको समाज के विरोध का भी सामना करना पड़ा, उस समय सत्ती प्रथा, बहु विवाह, महिला उत्पीड़न, पर्दा प्रथा, शिशु हत्या अपनी चरम सीमा पर भी। यह प्रथाऐं समाज के प्रतिष्ठा के प्रतीक बन चुकी थी। मूर्ति प्रजा, कर्मकाण्ड, ने तो सम्पूर्ण समाज को तहस नहस कर दिया था। क्योंकि समाज के तथाकथित ठेकेदारों ने समाज की परम्पराओं की व्याख्या अपनी सुविधानुसार की जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि समाज में घोर अंधकार छा गया और मनुष्य के जीवन में निखार लाने वाला समाज जीवन के समस्त चुनौतिया पेश कर रहा था। सभी सुधारकों ने जाति बंधन व छुआछुत का विरोध किया परन्तु डॉ.अम्बेडकर का विचार अन्य विचारकों से भिन्न था। यद्यपि अन्य विचारक हिन्दू धर्म में रहकर बुराईयों को दूर करना चाहते थे वही **डॉ. मीमराव अम्बेडकर का कहना था कि हिन्दू धर्म में जन्म लेना उनके बस में नहीं था परन्तु हिन्दू धर्म में न मरना उनके बस में है" अर्थात् उन्होंने हिन्दू धर्म में बुराईयों के चलते इसे त्याग कर बौद्ध धर्म किया।**

3.3.3 सुधारकों की दो धाराएँः–

आधुनिक भारतीय चिन्तन में हमें दो प्रकार की धाराएँ दिखायी देती है। एक उस धारा के विचारक है जो ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति लचीला रूख रखते है तथा इसे भारत के लिए वरदान मानते है। इस कड़ी में राजा राममोहन राय का प्रमुख नाम है उन्होंने यूरोप वासियों को भारत बसने का न केवल समर्थन किया अपितु उनका तर्क था कि ऐसा हाने से दो संस्कृतियों के बीच मेलजोल बढ़ेगा। इसके अलावा यूरोपीयन समाज भारतीय समाज की तुलना में काफी सभ्य है व बुराईयों रहित है उनके सम्पर्क में आने से हमें भी उच्च आदर्श अपनाने की प्ररेणा मिलेगी। वहीं दूसरी तरफ वे विचारक थे जो किसी भी रूप में ब्रिटिश शासन का समर्थन नहीं करते थे। विरोध करना व उस व्यवस्था से मुक्ति पाना उनकी प्राथमिकता में थी। वे किसी भी रूप में ब्रिटिश साम्राज्य को देखना नहीं चाहते थे वे इसे भारत में शोषण व दमन का प्रतीक मानते थे। उनका केवल एक ही ध्येय था, हर सम्भव तरीके से एक ऐसी शासन व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जिसमें सत्ता केवल और केवल भारतीयों में निहित रहे। आगे के अध्यायों में इन विचार पर विस्तृत अध्ययन करेंगें।

3.3.4 जाति बंधनों पर प्रहारः–

जब वर्णव्यवस्था कर्मप्रधान होने की बजाए जन्म प्रधान हो गई तब भारत में जाति बंधन अपने विकराल रूप में धारण कर चुकी थी। जिसके चलते ऊच नीच व जाति बंधनों का बढ़ावा मिला तथा स्वघोषित उच्च जातियों ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना शुरू किया और अन्य जातियों को न केवल हीन भाव से देखा गया अपितु उनका शोषण व्यापक पैमाने पर किया जाने लगा। जिसमें सबसे ज्यादा बुरा प्रभाव शुद्र अर्थात् दलितों पर पड़ा। जिसके चलते यह समुदाय इतना अधिक पिछड़ गया कि वह आजादी के बाद विशेष अवसर देने के बाद भी नहीं उभर सकता। जाति की मानसिकता हमारे समाज व राष्ट्र के लिए नासूर बनी हुई है। इसी के कारण छुआछुत जैसे अमानवीय कृत्यों को बढ़ावा मिला। जाति व्यवस्था ने हमारे सम्पूर्ण समाज को तहस नहस कर दिया था समाज जाति बंधों के कारण चार नहीं अपितु चार हजार भागों में विभाजित हो गया। जातियों के बीच आपसी अविश्वास, घृणा जैसी भावना घर कर गई। जो हमारी सामाजिक व राष्ट्रीय एकता के लिए अत्यन्त जरूरी थी। इसलिए जितने भी सुधारक हुए उन्होंनें जाति बंधनों का विरोध किया जैसे ज्योतिबा फुले व डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का नाम प्रमुख है।

3.3.5 सामाजिक व धार्मिक कर्मकाण्डों का विरोधः–

दोषपूर्ण सामाजिक व धार्मिक व्यवस्थाओं के चलते कई प्रकार के कर्मकाण्ड व रूढ़ियों हावी हो गई थी। समाज के चन्द स्वार्थी तत्वों के द्वारा इन कर्मकाण्डों को इस तरह प्रस्तुत किया गया मानो कि यह वास्तव में हमारे धर्म व समाज के आधार है जिनकी जरूरत है। इनका समस्त सुधारकों के न केवल विरोध किया अपितु इन्हें समाज व धर्म के अस्तित्व के लिए घातक माना। जैसे मूर्ति पूजा का सनातन धर्म में कोई स्थान नहीं है परन्तु इसे इस तरह प्रस्तुत किया गया है जैसे मूर्ति पूजा धर्म का अभिन्न अंग है। जिसका राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती व विवेकानन्द जैसे विचारकों ने विरोध किया तथा एकेश्वरवाद का समर्थन किया।

3.3.6 नारी स्वतन्त्रता व गरिमा पर बलः–

यद्यपि प्राचीन में नारी का समाज में सम्मानजनक स्थान था। धार्मिक व सामाजिक आयोजनों में उनके महत्वपूर्ण भूमिका थी। सनातन धर्म के 16 संस्कारों में से अधिकांश महिलाओं के बिना सम्भव नहीं है और यदि इन संस्कारों को पूरा करने में व्यक्ति सफल नहीं होता है तो उसे जीवन मरण के बंधन से मुक्ति नहीं मिल सकती अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु कालान्तर में विशेष रूप से जो भी सामाजिक कुरीतियां उत्पन्न हुई वे केवल और केवल महिलाओं के लिए बनी। जिनका प्रतिकूल असर महिलाओं के स्थिति पर पड़ा जैसे आक्रमणकारियों के बुरी नजर से बचाने के लिए पर्दा प्रथा, सत्ती प्रथा, विधवा विवाह पर रोक व विधवा के प्रति सामाजिक तिरस्कार की भावना, बहुपत्नी विवाह, बेमेल विवाह, कन्या हत्या जैसी बुराईयां पैदा हुई। इन सभी पर आधुनिक राजनीतिक सामाजिक व राजनीतिक विचारकों ने अपने विचारों के माध्यम से विरोध किया। जैसे सत्ती प्रथा का विरोध व कानून बनाने में मदद ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के द्वारा विधवाओं के पुर्नविवाह का समर्थन, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी पुस्तक "सत्यार्थ प्रकाश" में नारी शिक्षा का समर्थन किया। इस दौरान महिलाओं के प्रति उदार रवैया रखना हीनभाव से देखा जाता था और महिलाओं को समाज के दोयम दर्जा था। ऐसे में महिलाों के हित में विचार रखकर उनकी गरिमा को बहाली की बात कहीं गई।

3.3.7 मूर्ति पूजा का विरोधः–

वैदिक काल व सनातन धर्म में मूर्ति पूजा का कोई स्थान नहीं परन्तु दोषपूर्ण मान्यताओं के चलते मूर्ति पूजा ने इतनी गहरी जड़े जमाई जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्ति पूजा सनातन धर्म का आधार है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मूर्ति पूजा का विरोध करते हुए एकेश्वर वाद का समर्थन किया और यह विचार दिया कि मूर्ति पूजा हमारे धर्म को कमजोर बना रही है।

3.3.8 .हिन्दू धर्म में आस्था व पुर्नत्थान पर बलः–

इस समय अधिकांश विचारकों की हिन्दू धर्म में दृढ़ आस्था थी परन्तु वे धर्म में व्यापत बुराईयों को दूर करना इनकी प्राथमिकता में था। जैसे राजाराम मोहन राय ने बहुदेववाद, बली प्रथा व अन्य धार्मिक आडम्बरों का विरोध किया और इन्हें समाप्त करने के लिए जीवन पर्यन्त संघर्ष किया। स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय संस्कृति व धर्म की महानता का प्रचार–प्रसार पश्चिम के देशों तक किया तथा धर्म व विज्ञान के समन्वय पर बल दिया। इसी तरह दयानन्द सरस्वती ने शुद्धि आन्दोलन के माध्यम से जिन लोगों ने हिन्दू धर्म का त्याग कर मुस्लिम या ईसाई धर्म अपना लिया है, उन्हें शुद्धि आन्दोलन के माध्यम से पुनः हिन्दू धर्म में शामिल करना। इस तरह से विद्वान हिन्दू धर्म को केवल धर्म तक न मानका जीवन दर्शन का आधार मानते थे।

3.3.9 राष्ट्रवाद का आध्यात्मिकरण :–

स्वामी विवेकानन्द ने राष्ट्रवाद के आध्यात्मिकरण पर सर्वाधिक बल दिया। स्वामी जी ने "धर्म को भारत की आत्मा कहा है।" उनका मानना था कि राष्ट्र का खोया हुआ गौरव उसे पुनः लौटाना है तो हमें भारत के धर्म को पुनप्रतिष्ठित करना होगा। उन्होंनें कहा कि धर्म ही निरन्तर भारतीय जीवन का आधार रहा है, इसीलिए भारत में सभी प्रकार के सुधार धर्म के माध्यम से किये जा सकते है। भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माण अतीत की ऐतिहासिक विरासत की सुदृढ़ नींव पर ही करना है। भारत की एकता व अखण्डता बनाये रखने में एक महत्वपूर्ण भावनात्मक शक्ति का कार्य किया है। भारत में जब जब राजनीतिक सत्ता कमजोर हुई है तब तब धर्म ने अपनी सुदृढ़ता से अपना सहयोग दिया है। इस प्रकार धर्म का भारत की आत्मा बताकर राष्ट्रवाद की नींव रखी।

3.3.10 धार्मिक सहिष्णुता व हिन्दू :–

धार्मिक सहिष्णुता सदैव से भारतीय धर्म व संस्कृति के साथ जुड़ी हुई रही है। इसीलिए यहां हमने विश्व के दूसरे धर्मों व संस्कृतियों को न केवल गले लगाया अपितु उन्हें पूरा सम्मान दिया आपसी सामंजस्य से समाज विकास कर सकता है। राजाराम मोहन राय "मानवता की सेवा को सच्ची सेवा" मानते थे। इसी तरह स्वामी विवेकानन्द वेदान्त मनुष्य की दैविकता में विश्वास करते है। प्रत्येक मनुष्य को एक ही परमात्मा की संतान है। हम सब एक परमात्मा के अंश है। मनुष्यों के बीच यदि संबंध है तो वह प्रेम व सेवा का है।

3.3.11 सामाजिक सुधार हेतु पश्चिम की ओर देखनाः–

यह विडम्बना ही कहेंगे कि जिस समाज व संस्कृति ने एक लम्बे समय तक विश्व के अन्य समाजों व संस्कृतियों का नेतृत्व किया जिसकी पहचान सिरमोर पर भी परन्तु दोषपूर्ण व्यवस्थाओं के कारण उसकी प्रतिष्ठा धूमिल हो चुकी थी। ऐसे में अनेकों आधुनिक सुधरको ने समाज को सही दिशा पर लाने के लिए पश्चिम के मूल्यों को अपनाने पर बल दिया हालांकि गई विचारक इससे सहमत नहीं थे कि हमें अपने समाज में सुधार पश्चिमी मापदण्डोंनुसार करें। जैसे राजा राम मोहन राय यूरोप वासियों को भारत में बसाना चाहते थे। वे भारत के अतीत व पश्चिम के वर्तमान के आधार पर एक नवीन भारत का निर्माण करना चाहते थे। इसी तरह विवेकानन्द पूर्व व पश्चिम में समन्वय स्थापित करना चाहते थे।

3.3.12 सामाजिक सुधार कानून के माध्यम सेः–

इस काल में पहली बार सामाजिक बुराईयों को समाप्त करने के लिए कानून का सहारा लिया गया जैसे 1829 में सतीप्रथा निषेध कानून व 1930 से बाल विवाह रोकने के लिए शारदा एक्ट बने। इससे पहले समाज से जुड़े प्रावधानों को समाज पर छोड़ दिया जाता था परन्तु इस काल में दण्डात्मक प्रावधान कर इन्हें समाप्त करने की पहल की गई।

3.4 सारांशः–

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आधुनिक सामाजिक व राजनीतिक चिन्तन हमारे देश के गौरव व अस्तित्व के साथ जुड़ा हुआ है। जहां सामाजिक रूप से दोषपूर्ण मान्यताओं के कारण हमारे समाज की प्राचीन गौरवशाली पहचार धूमिल हो कर अस्पृश्यता बन गया था, समाज विखण्डित हो गया था, छुआछुत व जाति बंधनों के कारण समाज का आपसे वैमन्सय बढ़ा जो समाज की एकता को ध्वस्त करने वाला सिद्ध हुआ। इसलिए सभी चिन्तकों ने इनका विरोध कर समाज को पुनः सही दिशा की ओर लाने का मार्ग प्रशस्त किया। इसी तरह राजनीतिक रूप से इस काल में राष्ट्रवाद की भावना को बल मिला। जिस पर हम अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगें कि राष्ट्रवाद उस समय हमारी जरूरत था कि हम गुलामी की बेड़ियों से मुक्त होकर स्वतन्त्र भारत का निर्माण करें।

3.5 अभ्यास प्रश्नावलीः–

1. आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. पुर्नजागरण ने किस प्रकार आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन का मार्ग प्रशस्त किया, विवेचना कीजिए
3. हिन्दू धर्म सहिष्णुता का प्रतीक है, सिद्ध कीजिए।
4. आधुनिक भारत में समाज सुधार की धाराओं को स्पष्ट कीजिए।
5. नारी गरिमा की आधुनिक भारत मे आवश्यकता क्यों बनी?
6. जाति बंधन किस प्रकार भारतीय समाज के लिए घात हैं, सिद्ध कीजिए।
7. कानून के माध्यम से समाज सुधार कितना कारगर सिद्ध हुआ?
8. आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के अग्रदूत किसे माना जाता है?
9. सत्ती प्रथा विरोधी कानून पहली बार कब व किससके सहयोग से बना?
10. विधवाओं के पुर्नविवाह की सर्वप्रथम पहल किसने की?
11. जाति बंधनों में विरोधी कोई दो चिन्तकों के नाम बताओं।
12. "राष्ट्रवाद के आध्यातिमकरण का संबंध किस सामाजिक सुधारक से है?

अध्याय-4
दयानन्द सरस्वती

संरचना

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 जीवन परिचय

4.4 रचनाएं

4.5 स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचार

4.5.1 स्वतन्त्रता संबंधी विचार

4.5.2 प्रबुद्ध राजतन्त्र का सिद्धान्त

4.5.3 लोकतंत्र एवं लोकतांत्रिक आदर्शों में विश्वास

4.5.4 लोक कल्याणकारी राज्य का समर्थन

4.5.5 कानून का शासन

4.5.6 प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण

4.5.7 शासन के संस्थागत स्वरूप तथा शक्ति संतुलन का स्वरूप

4.5.8 न्याय व दण्ड व्यवस्था

4.5.9 मानवतावाद एवं अन्तर्राष्ट्रीय का समर्थन

4.5.10 सापेक्ष अहिंसा का समर्थन

4.5.11 अन्तर्राष्ट्रीय संबध

4.6 दयानन्द और भारतीय राष्ट्रवाद

4.6.1 हिन्दु पुरूत्थानवाद के समर्थक

4.6.2 अन्ध–विश्वासों एवं परम्पराओं का विरोध

4.6.3 व्यक्तिगत और सामाजिक चरित्र निर्माण

4.6.4 निर्भीकता और कर्त्तव्य पालन का सन्देश

4.6.5 राष्ट्र की स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम

4.6.6 स्वदेशी भाषा को प्रोत्साहन

4.6.7 स्वदेशी के प्रयोग पर बल

4.6.8 दलितोद्धार का समर्थन

4.6.9 जाति–पांति का खण्डन

4.7 स्वामी दयानन्द के सामाजिक विचार

4.7.1 व्यक्ति और समाज एक–दूसरे के पूरक

4.7.2 सामाजिक बुराईयों का विरोध

4.7.3 कर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था का समर्थन

4.7.4 आश्रम व्यवस्था का समर्थन

4.7.5 नारी गरिमा का समर्थन

4.7.6 वैदिक मूल्यों का समर्थन

4.7.7 छुआछूत का विरोध

4.8 स्वामी दयानन्द के धार्मिक विचार

4.8.1 धर्म की उदार व्याख्या

4.8.2 एकेश्वरवाद में विश्वास

4.8.3 मूर्ति पूजा का विरोध

4.8.4 इस्लाम एवं ईसाई धर्म के प्रति दृष्टिकोण

4.8.5 शुद्धि आन्दोलन

4.9 सारांश

4.10 अभ्यास प्रश्नावली

4.1 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य यह कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारतीय संस्कृति एवं वेदों को अपनाते हुए जो विचार एवं चिन्तन प्रस्तुत किया उसे जानना है ताकि भारत के प्राचीन गौरवशाली इतिहास व दर्शन की जानकारी प्राप्त कर सकेंगें। इसके अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे–

- स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचार जो स्वतन्त्रता लोकतन्त्र विधि के शासन, विकेन्द्रीकरण तथा अन्तरराष्ट्रीयवाद से युक्त है,
- दयानन्द सरस्वती को भारत में राष्ट्रवाद को अग्रदूत कहा जाता है, उसे भी जान सकेंगे। उन्होंने स्वशासन, स्वदेशी तथा स्वभाषा पर बल देकर भारतीय राष्ट्रवाद में एक नवीन जान डाल दी थी,
- सामाजिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्द ने कर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था, आश्रम, नारी गरिमा तथा वैदिक मूल्यों की पुनर्स्थापना पर बल दिया, जिनको अपनाना हमारे लिए आज भी लाभप्रद है अतः इसके संबंध में भी उचित जानकारी हासिल कर सकेंगे,
- धार्मिक क्षेत्र में उन्होंने हिन्दू, धर्म की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने औचित्य को स्वीकार किया उसके संबंध में भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

4.2 प्रस्तावना

आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती, भारतीय संस्कृति के वैदिक संरक्षक थे, जिन्होंने सर्वप्रथम "वेदों की ओर लौटो" का सन्देश दिया था। उन्होंने हिन्दू धर्म को नवजीवन प्रदान किया। वे एक साथ ही सन्त, समाज सुधारक और देशभक्त थे। उन्होंने भारत की खोई आत्मा को जाग्रत किया और उसे राष्ट्रीय जीवन की प्रमुख शक्ति बना दिया। भारतीय जनता जिस प्रकार से पश्चिमी संस्कृति की ओर भाग रही थी, उसे भारतीय संस्कृति की खोई हुई प्रतिष्ठा कायम हुई अपितु विश्व भी हमारी महानता से अवगत हुआ। रामधारी सिंक तिलक में प्रत्यक्ष, वैसे ही संस्कृति के क्षेत्र में भारत का आत्माभिमान स्वामी दयानन्द में निखरा.....सत्य ही, शरणारूढ़, हिन्दुत्व के जैसे निर्भीक नेता स्वामी दयानन्द हुए, वैसा और कोई नहीं।" रोमां रोलां के शब्दों में, "दयानन्द इलियड अथवा गीता के प्रमुख नायक के समान थे, जिसने हरक्युलिस की शक्ति के साथ हिन्दू अन्ध–विश्वासों पर प्रबल प्रहार किये। वस्तुतः शंकराचार्य के बाद इतनी महान् बुद्धि का सन्त दूसरा नहीं जन्मा।"

4.3 जीवन परिचय

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म 1 फरवरी, 1824 को काठियावाड़ की मोरवी रियासत (गुजरात) के टंकारा नाम स्थान पर एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। उनका परिवार शिव भक्त था। स्वामी दयानन्द के बचपन के दो नाम थे। (1.) दयाल जी (2.) मूलशंकर। उनका प्रथम नाम ज्यादा प्रचलित था। पिता और परिवार की स्वामी दयानन्द से यह उम्मीद थी कि वे परिवार के धार्मिक संस्कारों को अपनावे। उन्होंने अपनी आयु के 14 वर्ष तक धार्मिक संस्कारों को पूरी निष्ठा के साथ अपनाया। लेकिन 14 वर्ष की आयु में उनके जीवन में एक महत्वपूर्ण मोड़ आया। बात शिवरात्रि की है जब उन्होंने अपने पिता के आदेश के अनुसार शिवरात्रि का व्रत रखा और जागरण में मन्दिर गये। जब सभी भक्त सो गये, तब स्वामी दयानन्द सरस्वती ने देखा की एक चुहा शिवलिंग पर चढ़ रहा है और वहॉ रखा प्रसाद खा रहा है, तब इस घटना ने स्वामी जी के मन को झकझोर कर रख दिया और मूर्ति पूजा

से उनका विश्वास उठ गया और यह दृढ़ निश्चय किया कि "मैं सच्चे शिव का दर्शन करूंगा।" इसी दौरान उनके जीवन में दो और घटनाएं घट गई, पहले बहन की मृत्यु और दो वर्ष बाद चाचा की अकाल मृत्यु का होना।

इन घटनाओं के कारण स्वामी दयानन्द ने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय किया। इसके बाद मूलशंकर गुरू की तलाश में निकल पड़ते। अक्टूबर 1860 ई. में उन्हें मथुरा में गुरूविरजानन्द जी मिले और 14 नवम्बर,1860 ई. को उन्होंने गुरू विरजानन्द के सम्मुख सहज समर्पण कर दिया। यह समर्पण समस्त विश्व के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुआ, अब उन्हें स्वामी दयानन्द नाम दिवस गया। लगभग तीन वर्ष तक गुरू के चरणों में बैठकर उन्होंने साधना के साथ ज्ञानार्जन किया। 1863 ई. में धर्मोपदेश के लिए विदा करते हुए गुरू ने सन्देश दिया, "देश का उद्धारा करो। सत् शास्त्रों को उद्धार करो। मत–मतान्तरों की अविद्या की मिटाओं और वैदिक धर्म फैलाओं।"

गुरू के आदेशों और उपदेशों को लेकर स्वामीजी सम्पूर्ण देश की यात्रा पर निकल पड़े। धर्म प्रचार और यात्रा कम में अक्टूबर 1874 में स्वामी जी बम्बई पहुँचे और 10 अप्रैल 1875 के दिन बम्बई (डॉ. मालिक चन्द्रजी की वाटिका 'चिरगांव') प्रथम आर्य समाज की स्थापना की। इसके दो वर्ष बाद लाहौर में आर्य समाज की स्थापना हुई। स्वामी जी को अपने विचारों का प्रचार–प्रसार करने के लिए आर्य समाज जैसा प्रभावशाली मंच मिल गया। जिसकी शाखाएं भारतवर्ष में फैल गयी।

एक तरफ स्वामीजी का ध्यान आर्य समाजों के संगठन की तरफ केन्द्रित था, दूसरी तरफ वे वैदिक धर्म और संस्कृति के प्रचार में नहीं रहे। 17 मई, 1883 को वे जोधपुर पहुँचे और जोधपुर नरेश जसवन्त सिंह को वेश्या नन्हीबाई के प्रेम में लिप्त देखा तब उन्होंने नरेश को प्रताड़ित किया। तब उस वेश्या ने षडयन्त्र रचकर स्वामीजी के दूध में विष मिला दिया। 30 अक्टूबर,1883 को उनका देहावसान हो गया।

4.4 रचनाएँ

स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रमुख रचनाएं इस प्रकार है–

- ऋग्वेदादिभाष्य– भूमिका
- सत्यार्थ प्रकाश
- संस्कार–विधि
- गो करूणा–विधि
- वेदांग प्रकाश
- सत्य धर्म–विचार
- आर्यभिविवद
- व्यवहार भातु
- अष्टाध्यायी भाष्य

4.5 स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचार

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक राजनीतिक चिन्तन के रूप में विधिवत रूप के किन्हीं राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया। लेकिन धार्मिक तथा सामाजिक जीवन के साथ राजनीति भी उनका विषय रहा है। उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों ने स्वामी जी को व्यापक रूप से प्रभावित किया। उन्होंने वेदों तथा मनुस्मृति में वर्णित राजनीतिक सूत्र को अपने राजनीतिक चिन्तन का आधार बनाया। उनके राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख बातें निम्नलिखित है–

4.5.1 स्वतन्त्रता संबंधी विचारः–

व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा कि हमें राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए मानसिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना आवश्यक है। उन्होंने अपनी रचनाओं में देश की दासता पर गहरी चिन्ता व्यक्त की। "सत्यार्थ प्रकाश" के इस कथन से स्पष्ट है कि विदेशी राज चाहें कितना अच्छा क्यों न हो स्वदेशी राज चाहे कितना कमियाँ क्यों न हो, अच्छा है।

उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज का भी मुख्य नियम था कि प्रत्येक को अपनी उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए। बल्कि सभी की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

4.5.2 प्रबुद्ध राजतन्त्र का सिद्धान्त :–

स्वामी दयानन्द के राजनीतिक दर्शन वेदों और मनुस्मृति के विचारों का सम्मिश्रण था। उन्होंने इन दोनों के विचारों को अपना आधार बनाया। मनुस्मृति से उन्होंने ऐसे राज्य की धारणा ग्रहण की जो "धर्मानुकूल आचारण के सिद्धान्त" पर चलें तथा वेदों से उन्होंने "सभाओं तथा राजाओं के चुनाव" के सिद्धान्त को ग्रहण किया है। दयानन्द सरस्वती ने ऐसी उम्मीद जताई है कि राजा धर्म के अनुकूल आचरण करे, राजा का चुनाव एक सभा द्वारा किया जाए, राजा के निश्चित गुण होना आवश्यक है, राजाओं को चाहिए कि वह जन इच्छाओं के आधार पर कार्य करें, राजनीतिक सत्ता धर्म की सत्ता के अधीन रखी जाए और राजा सभा के सहयोग से अपने कार्यों को सम्पादित करें। इस प्रकार स्वामीजी ने राजतंत्र में राजा का चुनाव, राजा का धर्म, जनता तथा मंत्रियों का नियन्त्रण तथा सत्ता के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को लागू करके "गणतंत्रात्मक शासन पद्धति" का ही समर्थन किया है।

4.5.3 लोकतंत्र और लोकतांत्रिक आदर्शों में विश्वास :–

उनके लोकतंत्र संबंधी विचार प्राचीन भरतीय राजनीतिक परम्पराओं के अनुकूल था। उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज का संगठन भी निर्वाचन पर आधारित था। उनके अनुसार जिस राजतन्त्र में शासन प्रजा से स्वतन्त्र होता है, वहाँ प्रजा का पतन हो जाता है। उनके अनुसार शासन न्याय प्रिय, अन्याय का अन्त करने वाला तथा दुष्टों का दमन करने वाला होना चाहिए।

4.5.4 लोक कल्याणकारी राज्य का समर्थनः–

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा राज्य का लोककल्याणकारी स्वरूप अपनाने पर बल दिया गया है। लोककल्याणकारी राज्य में जनता की स्थिति केन्द्रिय होती है। जो व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पन्न होने वाली तमाम जनउपयोग क्रियाओं का संचालन करता है। वे राज्य को मुनष्य जीवन के चार पुरूषार्थ धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष को प्राप्ति का साधन मानते थे। बिमान बिहारी मजूमदार के अनुसार "स्वामी दयानन्द के राज्य के उद्देश्यों को जितना व्यापक स्वरूप दिया है वैसा प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक समय के किसी भी अन्य राजनीतिक विचारक ने नहीं दिया।"

4.5.5 कानून का शासनः–

स्वामी जी ने अनुसार राजा और प्रजा दोनों को ही कानून की सत्ता के अधीन रहना चाहिए। केवल कानून ही सच्चा राजा है। कानून न्याय प्रदान करता है और व्यवस्था बनाये रखता है। कानून का कार्यान्वयन यदि सही ढंग से होता है तो जनता सुखी होगी। कानून के शासन से तात्पर्य यह है कि कानून की नजरों में सभी व्यक्ति समान है और कानून के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा। वे मानवीय कानून की तुलना में ईश्वरीय कानून को श्रेष्ठ मानते है।

4.5.6 प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण :–

स्वामी दयानन्द ऐसे विशाल राज्य का निर्माण चाहते थे जिसकी मूलभूत इकाई गाँव है। सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने लिखा है कि राज्य में दो, तीन, पांच, सौ गाँवों के बीच एक प्रशासनिक कार्यालय रखा जाए, जिसमें आवश्यकतानुसार योग्य सरकारी अधिकारी हो। जो राज्य के सब कार्यों को पूर्ण करे। एक–एक गाँव में एक–एक प्रधान पुरूष रखे। उन्हे 10 गाँवों के ऊपर दूसरा 20 गाँवों पर तीसरा 100 गाँवों पर चौथा 1000 गाँवों के ऊपर एक प्रमुख रहे। इन सब इकाईयों को एक–दूसरे को साथ जोड़ दिया जाए।

4.5.7 शासन के संस्थागत स्वरूप तथा शक्ति सन्तुलन का स्वरूप :–

दयानन्द के अनुसार शासन का अन्तिम स्त्रोत ईश्वर है। वे शासन की शक्ति इस प्रकार के निकायों– धमार्थसभा, विधानसभा, राजार्थ सभा में निहित करने पर बल देते थे। ये तीनों सभाएँ क्रमशः न्यायपालिका, व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के रूप में कार्य करेगी। ये सभाएँ एक–दूसरे के कार्यों में किसी प्रकार का गतिरोध उत्पन्न नहीं करेंगी अपितु आपसे तालमेल के साथ कार्यों को सम्पादित करने का प्रयास करेंगे।

4.5.8 न्याय व दण्ड व्यवस्थाः–

स्वामीजी के न्याय व्यवस्था तथा दण्ड व्यवस्था संबंधी विचारों पर भी मनुस्मृति का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि दण्ड शक्ति के समुचित प्रयोग के द्वारा ही शासन सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखता है तथा उसमें आवश्यक सुधार लाता है। उन्होनें लिखा है कि न्यायिक अधिकारियों का आचरण धर्म के अनुकूल तथा पक्षपात रहित हो। वे न्यायपालिका को स्वतन्त्र आचरण के लिए स्वच्छन्द न छोड़कर उस पर शासन का नियन्त्रण रखना चाहते थे ताकि भ्रष्ट न्यायाधीशों को देश का निष्कासन का दण्ड दिया जा सके। बी. बी. मजूमदार के अनुसार "शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को मिटाने के उनके सुझाव आधुनिक समय के भ्रष्टाचार निरोधक विभाग के समान दिखाई देते है।"

4.5.9 मानवतावाद एवं अन्तरराष्ट्रीयवाद का समर्थनः–

दयानन्द सरस्वती महान् मानवतावादी तथा विश्व बन्धुत्व के महान् समर्थक थे। उन्होंने कहा– "मेरा उद्देश्य मानव मात्र की मुक्ति करना है।" उन्होंने लिखा है कि "समाज का प्राथमिक उद्देश्य मनुष्य जाति की शारीरिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक दशा को सुधार कर समस्त विश्व का कल्याण करना है।" स्वामी जी द्वारा स्थापित "परोपकारिणी" नामक संस्था का यही उद्देश्य था। उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार की भांति माना। उनका मत था कि यदि विश्व के कुछ लोग कष्ट में है तो सारा विश्व खुश नहीं रह सकता। अतः वे सम्पूर्ण विश्व के मानव मात्र की समृद्धि की कामना करते है।

4.5.10 सापेक्ष अहिंसा का समर्थन :–

उन्होंने व्यावहारिक या सापेक्ष अहिंसा का समर्थन किया। वे अपराधियों को कठोर दण्ड देना, राज्य और जनहित के लिए आवश्यक मानते थे, ताकि कोई व्यक्ति कानून के उल्लंघन को दुस्साहस न कर सके।

4.5.11 अन्तरराष्ट्रीय संबंध :–

दयानन्द के राज्य की सुदृढ़ता पर विशेष बल देते हुए संगठित "चक्रवती साम्राज्य" की परिकल्पना की है। उन्होंने शासक को यह परामर्श दिया है कि अन्य राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करे और इसकी बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा करे। उन्होंने मनु की तरह षाडगुण्य नीति का समर्थन करते हुए साम, दाम, दण्ड और भेद के साधन अपनाने पर बल दिया। स्वामीजी ने गुप्तचर विभाग के निर्माण तथा योग्य दूतों की नियुक्ति का भी परामर्श दिया। राजा को चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करने से पीछे नही हटे अपनी सेना को साधनों से युक्त संगठित एवं शक्तिशाली बनाये रखे।

4.6 दयानन्द और भारतीय राष्ट्रवाद

दयानन्द न तो राजनीतिक दार्शनिक थे और न ही प्रत्यक्ष रूप से भारत के स्वतन्त्रता से जुड़े रहे। लेकिन उनकी रचनाओं मुख्यतया "सत्यार्थ प्रकाश" और "ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका" के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उनका सम्पूर्ण चिन्तन राष्ट्रवाद की भावना से ओत–प्रोत था। इससे भारतीय राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन मिला जो आगे चलकर स्वतन्त्रता संग्राम एवं राष्ट्रीय एकीकरण के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ।

4.6.1 हिन्दू पुनरूत्थानवाद के समर्थक

कोई भी देश स्वाधीनता के लिए सभी संघर्ष कर सकता है जबकि देशवासियों के ह्यदयों में स्वधर्म और स्वदेश के प्रति स्वाभिमान का भाव हो। दयानन्द सरस्वती का विचार था कि "किसी विदेशी पंथ को अंगीकार कर लेने से राष्ट्रीय भावना, जिसका वे पोषण करना चाहते थे, संकट में पड़ जायेगी। उन्होंने वैदिक धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया और इस बात पर बल दिया कि धर्म ही स्वतंत्रता की प्रेरणा देता है। इस प्रकार देश की स्वतन्त्रता के लिए कर्म करने के पुरूषार्थ का सन्देश दिया।

4.6.2 अन्ध विश्वासों एवं परम्पराओं का विरोध

स्वामी दयानन्द सरस्वती का मानना था कि अन्ध विश्वासों एवं परम्पराओं ने हमारी शक्ति को क्षीण कर दिया है। हम इनके

हिन्दू पुनरूत्थानवाद	राष्ट्रवाद के अग्रदूत स्वामी दयानन्द सरस्वती के राष्ट्रवाद से प्रेरित इन	स्वदेशी भाषा को प्रोत्साहन
अंधविश्वासों एवं परम्पराओं का विरोध		स्वदेशी के प्रयोग पर बल

व्यक्तिगत और सामाजिक चरित्र का निर्माण	विचारों से भारत के स्वतंत्रता संग्राम एवं संवैधानिक सुधार आंदोलन को नवीन दिशा मिली	दलितोद्धार का समर्थन
निर्भीकता और कर्त्तव्य पालन का सन्देश		जाति–पांति का खण्डन
राष्ट्र की स्वतंत्रता के प्रति प्रेम		स्व–त्रि स्वदेशी, स्वभाषा, स्वशासन

बन्धनों में इस प्रकार जकड़ गए हैं कि इसके कारण हमारा ध्यान राष्ट्र की स्वतन्त्रता एवं उन्नति की तरफ न जाकर संकीर्णता की ओर जाता है। इनके कारण ऐसा लगता है कि हमारा समाज विभिन्न खण्डों में विभाजित हो गया है। उन्होंने मूर्ति–पूजा का विरोध करते हुए एकेश्वरवाद का समर्थन किया उनका मानना था कि मूर्ति पूजा न तो वेदों के अनुकूल है और न ही यह धार्मिक कार्य है। इसी प्रकार उन्होंने बाल विवाह, बहु–पत्नी विवाह, विधवा विवाह निषेध, पर्दा–प्रथा, महिला वर्ग में अशिक्षा, समुद्री यात्रा निषेध, सती–प्रथा आदि का विरोध किया क्योंकि वे जागृत एवं शक्तिशाली समाज का निर्माण चाहते थे।

4.6.3 व्यक्तिगत और सामाजिक चरित्र निर्माण

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि भारत के पतन के मुख्य कारण पारस्परिक फूट, धार्मिक भेद, जीवन में शुद्धता का अभाव, शिक्षा की कमी, बाल विवाह, असत्य तथा अन्य बुरी आदतें, वेदाध्ययन की अवहेलना तथा अन्य कुरीतियाँ हैं। उन्होंने भारतीयों को प्रोत्साहित किया कि वे अपने व्यक्तिगत और सामाजिक चरित्र को सुधारें।

4.6.4 निर्भीकता और कर्तव्य पालन का सन्देश

दयानन्द अत्यन्त निर्भीक थे और उन्होंने सदैव इस बात पर बल दिया कि निर्भीकता को एक नैतिक गुण के रूप में विकसित किया जाना चाहिए। केवल निर्भीकता, राजनीतिक रूप धारण कर लेने पर, एक ऐसी शक्ति बन जाती है, जो उत्पीड़न व निरंकुशता का सामना कर सकती है। अतः निर्भीकता, मानव अधिकार प्राप्ति का आधार है।

4.6.5 राष्ट्र की स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम

दयानन्द स्वतन्त्रता के प्रति तीव्र अनुराग था, यह अनुराग व्यक्ति और देश दोनों की स्वतन्त्रता के प्रति था। वे कहते थे कि इस देश में पहले मानसिक पराधीनता आयी और उसके बाद राजनीतिक पराधीनता। अतः राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने से पहले हमें मानसिक स्वाधीनता लानी होगी। सत्यार्थ प्रकाश में लिखा हे कि "विदेशी राज से चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज चाहे उसमें कितना ही त्रुटियाँ क्यों न हों, अच्छा है।"

4.6.6 स्वदेशी भाषा को प्रोत्साहन

दयानन्द ने सभी भाषाओं के आन्दोलन को प्रोत्साहन देकर भी राष्ट्रवाद के उत्थान में योग दिया। यद्यपि वे वेदों के प्रकाण्ड पण्डित तथा संस्कृत के विद्वान और जन्म से गुजराती थे, लेकिन फिर भी सत्यार्थ प्रकाश को हिन्दी में लिखा। उन्होंने हिन्दी को सम्पर्क भाषा के रूप में स्वीकार किया। उसे राष्ट्रीय एकता का माध्यम बनाया।

4.6.7 स्वदेशी के प्रयोग पर बल

स्वामी जी मानते थे कि भारत के कमजोर होने के पीछे आर्थिक कारण हैं, क्योंकि अंग्रेजों की दमनकारी नीतियों ने स्वदेशी उद्योगों को नष्ट कर दिया और हम भी विदेशी वस्तुओं को अपनाने में गर्व की अनुभूति कर रहे थे। अतः उन्होंने भारत को आर्थिक दृष्टि से सबल और आत्मनिर्भर बनाने के लिए स्वदेशी के प्रयोग पर बल दिया। इस प्रकार स्वधर्म, स्वभाषा और स्वदेशी के माध्यम से वे स्वराज्य के अग्रदूत बने।

4.6.8 दलितोद्धार का समर्थन

भारत की दोषपूर्ण सामाजिक व्यवस्थाओं के चलते समाज का एक बड़ा वर्ग दलित वर्ग अभाव की जिन्दगी जी रहा था। अतः स्वामी जी ने इस वर्ग के उत्थान का प्रयास किया। उनका मानना था कि दलितों की अनदेखी करके कोई भी समाज अपनी उन्नति नहीं कर सकता। दलितों के साथ भेदभाव, छुआछुत, शोषण, अन्याय तथा अत्याचार करना आम बात थी। अतः उन्होंने दलितों को समानता एवं न्याय दिलाने का बीड़ा उठाया।

4.6.9 जाति–पांति का खण्डन

स्वामी दयानन्द के वर्ण व्यवस्था के मूल आधार पर करारा प्रहार किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि जाति मनुष्य के जन्म के आधार पर नहीं वरन् गुण कर्म के आधार पर होनी चाहिए। उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज में जाति–पांति का कोई स्थान नहीं है।

4.7 स्वामी दयानन्द के सामाजिक विचार

स्वामी दयानन्द सरस्वती को एक समाज सुधारक के रूप में जितनी ख्याति मिली उतनी किसी अन्य क्षेत्र में नहीं मिलीं। स्वामीजी मानव मात्र एवं सम्पूर्ण समाज की सेवा में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि जब तक भारतीय समाज में कुरीतियाँ एवं अंधविश्वास हावी रहेगें तब तक भारत में राजनीतिक जागृति एवं राष्ट्रीय एकीकरण संभव नहीं है। इनके अभाव में समाज का वास्तविक स्वरूप ही समाप्त हो गया है। स्वामी जी ने सामाजिक समस्याओं पर गम्भीरता पूर्वक विचार प्रस्तुत करते हुए समाज सुधार की योजना प्रस्तुत की। स्वामी दयानन्द सरस्वती के सामाजिक विचार निम्नलिखित हैः–

4.7.1 व्यक्ति और समाज एक–दूसरे के पूरक

स्वामी दयानन्द ने विश्वास व्यक्ति किया कि व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक है। व्यक्ति का सर्वांगीण विकास समाज में रहकर ही सम्पन्न हो सकता है और विकास की स्थिति को व्यक्ति तक ही सीमित कर देना एक भ्रान्त धारणा है। समाज एवं संगठित इकाई है। हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए कि विकास का लाभ समाज के प्रत्येक सदस्य को मिले, तभी एक आदर्श समाज का निर्माण होगा।

4.7.2 सामाजिक बुराईयों का विरोध

जैसा कि यह विदित है कि उनके समय भारतीय समाज में बाल विवाह, सत्ती प्रथा, बहुपत्नी विवाह, विधवा विवाह निषेध आदि कुरीतियाँ प्रचलित थी। उन्होंने बाल विववाह को नैतिक और शारीरिक दृष्टि से अहितकर मानते हुए विरोध किया। सत्यार्थ प्रकाश में लिखा कि 16 वर्ष से कम आयु की कन्या 25 वर्ष से कम आयु का युवक सन्तान पैदा करने के योग्य नहीं होता है। अतः इससे कम आयु में विवाह नहीं होना चाहिए। इसके अलावा उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि यदि सुखमय पारिवारिक जीवन बनाना है तो इसके लिए स्त्री–पुरूषों को विवेक के अनुसार जीवन साथी चुनने की छूट दी जाए।

4.7.3 कर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था का समर्थन

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जन्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था का विरोध किया और इसे समाज में बुराईयों की जड़ माना। उनका मानना था कि वर्ण व्यवस्था का निर्धारण तो कर्म एवं गुण के आधार पर होना चाहिए। सभी मनुष्य समान हैं। जैसे कोई व्यक्ति अपराधी के घर जन्म लेने मात्र से अपराधी नहीं हो सकता। उसी प्रकार कोई व्यक्ति केवल इस आधार पर ब्राह्मण नहीं हो सकता कि वह ब्राह्मण के घर मे पैदा हुआ है। समाज में जाति के आधार पर प्रचलित छुआछुत का भी उन्होंने विरोध किया।

4.7.4 आश्रम व्यवस्था का समर्थन

प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन का अनुसरण करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आश्रम व्यवस्था का समर्थन किया। इसके तहत एक व्यक्ति की आयु 100 वर्ष मानते हुए जीवन को चार भागों में बांटा गया– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। उनका मानना था कि आज के समाज में जो "घातक प्रतिस्पर्द्धात्मक स्थिति है, आश्रम व्यवस्था को अपनाने पर उस पर अंकुश लगेगा और सामाजिक जीवन में व्यवस्था स्थापित होना सम्भव है।

4.7.5 नारी गरिमा का समर्थन

दयानन्द के नारी की गरिमा का प्रबल समर्थन किया। उस समय हिन्दू समाज में नारी को हीन भाव एवं कमजोर रूप में देखा जाता था, जिसका उन्होंने विरोध किया। उनका मानना था कि वैदिक काल में नारी की स्थिति अच्छी थी। नारी को पुरूषों के समान अधिकार प्राप्त थे। नारी पुरूष के समान शिक्षा प्राप्त करती थी। यज्ञों में भाग लेती तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों में उसकी भागीदारी थी। लेकिन मध्यकाल में नारी की स्थिति चिन्ताजनक हो गई। तब पुरूष प्रधान समाज अपनी प्रतिष्ठा के नाम पर नारी

के साथ अनुचित प्रतिबन्ध एवं मनमानी मान्यताएँ थोंपने लगा। स्वामीजी ने अपने ग्रन्थ "सत्यार्थ प्रकाश" में लिखा है कि "जो तुम स्त्रियों के वेद पढ़ने का निषेध करते हो, तो वह तुम्हारी मुर्खता, स्वार्थता औ निर्बुद्धिता का प्रभाव है।" इस प्रकार उन्होंने स्त्री–पुरूषों की समानता पर बल दिया। उनका यह कदम 19वीं सदीं के लिए एक

क्रांतिकारी कदम था। नारी शिक्षा पर विशेष बल देते हुए फिरोजपुर में कन्या महाविद्यालय तथा मेरठ में कन्या विद्यालय की स्थापना की।

4.7.6 वैदिक मूल्यों का समर्थन

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार यदि हम वैदिक मूल्यों और आदर्शों को सामाजिक जीवन का आधार बनाएं तो एक सुसंस्कृत एवं सुसभ्य समाज का निर्माण कर सकते है। किन्तु इसका अभिप्रायः यह नहीं है कि उनका दृष्टिकोण संकुचित एवं संकीर्ण था। उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति के गुणों की भी प्रशंसा की थी। उनका कहना था कि जो गुण एवं अच्छाईयां पाश्चत्य समाज में है जैसे बाल विवाह निषेध, दहेज निषेध, पर्दा प्रथा निषेध, स्त्री–पुरूष की विवेकानुसार जीवन साथी चुनने की छूट आदि को अंगीकार करना चाहिए।

4.7.7 छुआछूत का विरोध

समाज में जाति–पांति के बन्धन के कारण कथित रूप से उच्च जाति के लोग शुद्र या दलितों के साथ छुआछूत जैसा अमानवीय व्यवहार करते थे। जिसको स्वामी जी ने पाप के समान माना और इस बुराई को समाज के लिए नरक के समान बताया। अतः उन्होंने किसी भी रूप में होने वाली छूआछूत का विरोध किया।

4.8 स्वामी दयानन्द के धार्मिक विचार

स्वामी दयानन्द सरस्वती मूलतः धार्मिक प्रवृति के पुरूष थे। धर्म के प्रति आस्था तो उनमें प्रारंभिक काल से थी, वे हिन्दू धर्म को सर्वोच्च के रूप में स्वीकार करते थे। उनका कहना था कि हिन्दू धर्म के साथ–साथ जीवन का कौशल है लेकिन हिन्दू धर्म में व्याप्त आडम्बरों एवं अन्ध विश्वासों के कारण धार्मिक भावना पर गहरा आघात लगा था। अतः उन्होंने हिन्दू धर्म में व्याप्त अन्ध विश्वासों का विरोध किया और इन्हें धर्म को पतन की राह पर ले जाने वाला बताया। धर्म में विद्यमान बुराईयों को दूर करने का सफल प्रयास किया। अपने इन्हीं प्रयासों को मूर्त रूप देने के लिए आर्य समाज की नींव रखी। स्वामी जी के प्रमुख धार्मिक विचार निम्नलिखित हैं:–

4.8.1 धर्म की उदार व्याख्या

उनके अनुसार ईश्वर के प्रति निष्ठा रखते हुए उदार एवं शाश्वत, मानवीय मूल्यों को ग्रहण करना ही धर्म है। वे धर्म में नैतिक मूल्यों को प्राथमिकता देते थे। उनके शब्दों में, ईश्वर के प्रति वेदों में जो कुछ करने का आदेश दिया है, वही धर्म है।

4.8.2 एकेश्वरवाद में विश्वास

स्वामीजी का कहना था कि ईश्वर एक है, बल्कि समाज के कुछ स्वार्थ प्रवृति के तत्व बहु ईश्वर की बात करते हैं। जैसे परमात्मा में अन्तःगुण, कर्म और स्वभाव है, वैसे ही उनके कई नाम है, लेकिन ईश्वर एक ही है। दयानन्द के विचारों में, ओम शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है। उन्हें ईश्वर की सर्व–व्यापकता व अनन्य सत्ता में विश्वास था।

4.8.3 मूर्ति पूजा का विरोध

स्वामी जी के मन में मूर्ति पूजा का विरोध का विचार तो 14 वर्ष की आयु में आ गया था। जब शिव रात्रि पर चुहे को ऊछल कूद करते देखा, तभी उन्होंने मूर्ति पूजा का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया और मूर्ति पूजा को वेदों एवं धर्म दोनों के आधार पर गलत साबित करवाया।

4.8.4 इस्लाम एवं ईसाई धर्म के प्रति दृष्टिकोण

इस समय हिन्दू धर्म में व्याप्त बुराईयों के कारण अन्याय व अत्याचार से ग्रस्त हिन्दू धर्म को मानने वाले मुस्लिम एवं ईसाई धर्म को ग्रहण कर रहे थे। इसके अलावा इन धर्मों के द्वारा अपनी ओर से दलित लोगों को लालच भी दिया जा रहा था। अतः स्वामी जी ने हिन्दू धर्म की रक्षा का बीड़ा उठाया व दुगुनी शक्ति के साथ इस्लाम एवं ईसाई धर्मावलम्बियों पर प्रहार करने का प्रारम्भ कर दिया। लेकिन इस्लाम एवं ईसाई धर्म के प्रति उनके विचार न तो संकीर्ण थे, न ही द्वेष भाव से युक्त थे। दयानन्द ने तो धार्मिक संकीर्णता से ऊपर उठकर वैदिक धर्म का प्रचार किया।

4.8.5 शुद्धि आन्दोलन

स्वामी दयानन्द ने घोषणा की कि जिन हिन्दुओं ने हिन्दू धर्म का त्याग करके अन्य धर्म ग्रहण कर लिया है वे पुनः हिन्दू धर्म ग्रहण करना चाहे तो कर सकते है। अन्य धर्म वाले भी हिन्दू धर्म ग्रहण कर सकते है। इस प्रकार हिन्दू धर्म को पुनः स्थापित करने के लिए स्वामी जी द्वारा शुद्धि आन्दोलन चलाया गया।

4.9 सारांश

इस प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक सुधारक के रूप में भारतीय समाज के उन तमाम क्षेत्रों को झकझोरा जो पतन की ओर अग्रसर हो रहे थे। विचारों के माध्यम से स्वदेशी, स्वभाषा, स्वशासन को बढ़ावा देकर राष्ट्रवाद की भावना को प्रोत्साहन दिया। हिन्दू धर्म में हीनता की भावना आ गई थी, उनसे धर्म मुक्त करवाया। भारत का सामाजिक ढाँचा विखण्डित हो गया था, उसे पुनः सुधारने का प्रयास किया। स्वामीजी ने अपने विचारों को वास्तविकता का स्वरूप प्रदान करने के आर्य समाज की स्थापना की, जो आज भी समाज सेवा की दिशा में भगीरथ कार्य कर रहा है।

4.10 अभ्यास प्रश्नावली

1. "स्वामी दयानन्द सरस्वती राष्ट्र के अग्रदूत थे।" इस कथन को सिद्ध करते हुए राष्ट्रवाद में उनका योगदान बताओ।
2. दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डालिए।
3. स्वामी दयानन्द के धार्मिक एवं सामाजिक चिन्तन पर लेख लिखिए।
4. स्वामी जी का भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में क्या योगदान रहा?
5. दयानन्द सरस्वती के अनुसार "विधि का शासन" क्या हैं?
6. स्वामी दयानन्द के प्रबुद्ध राजतंत्र संबंधी विचारों को स्पष्ट कीजिए।
7. स्वामी दयानन्द किस प्रकार अन्तरराष्ट्रीय वाद के पोषक थे?
8. स्वामी के राष्ट्रवाद के विचारों में ऐसे कौन से तथ्य थे, जो संपूर्ण राष्ट्र को एक मंच पर लाने में सहायक सिद्ध हुई?
9. सामाजिक विचारों में दयानन्द सरस्वती का केन्द्र बिन्दु क्या थे?
10. स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों पर मनु का प्रभाव किस सीमा तक दिखाई देता है?
11. स्वामी दयानन्द सरस्वती का बचपन का क्या नाम था?
12. स्वामी जी का जन्म कब और कहाँ हुआ?
13. मूर्ति पूजा के विरोध का क्या कारण था?
14. स्वामी दयानन्द सरस्वती के गुरू का क्या नाम था?
15. स्वामी जी की दो प्रमुख रचनाओं का नाम बताओ?
16. प्रबुद्ध राजतंत्र का सिद्धान्त क्या हैं?
17. स्वदेशी, स्वभाषा और स्वराज किसके विचारों का आधार था?

अध्याय-05
ज्योतिबा फूले

संरचना

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 ज्योतिबा फूले सामाजिक कांतिकारी के रूप में

5.4 राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया : एक आलोचनात्मक मूल्यांकन

5.5 सारांश

5.6 अभ्यास प्रश्नावली

इस अध्याय का प्रमुख उद्देश्य निम्न है–

- ज्योतिबा फूले के योगदान को जानना
- शिक्षा क्षेत्र में विकास का पर्याय कैसे बने विशेष रूप से महिला शिक्षा
- भारत की तत्कालीन स्थिति के मद्देनजर मूल्यांकन रखना

5.2 प्रस्तावना

इस अध्याय में हम भारत में राष्ट्रवाद के उदय पर चर्चा करेंगे तथा राष्ट्रवाद की आवश्यकता किसलिए भी, को जानने का प्रयास किया जाएगा।

आधुनिक समय में भारत में राष्ट्रवाद को गति देने में सामाजिक सुधार आन्दोलन की मुख्य भूमिका रही। इसे भारत के पुर्नजागरण भी कहा लाता है और यह केवल सामाजिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रहा अपितु भारत में राजनीतिक चेतना का उदय हुआ। यह चेतना हमारे स्वतन्त्रता संग्राम के लिए निर्णायक सिद्ध हुआ।

भारत में राष्ट्रवाद की भावना का संबंध, यूरोपीयन जातियों विशेष रूप से अंग्रेजों के साथ जुड़ा हुआ है। इसलिए हमें यह जानना होगा कि अंग्रजी साम्राज्य की स्थापना की शुरूआत 31 जनवरी 1600 को महारानी विक्टोरिया के उस आदेश के माध्यम से हुई जब भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की गई। जिसका मूल उद्देश्य भारत में ब्रिटेन के व्यापार को फैलाना। लगभग दस दशकों तक इनकी गतिविधियां केवल व्यापारिक क्रियाकलापों तक सीमित थी। इस समय भारत में मुगत साम्राज्य था परन्तु 1707 में औरंगजेब की मृत्यु के बाद बदलती राजनीतिक परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए राजनीतिक नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयास शुरू किया। 1756 के प्लासी के युद्ध के पश्चात् बंगाल की राजनीति पर अंग्रेजो का आधिपत्य स्थापित हो गया और धीरे–धीरे उनका प्रभाव सम्पूर्ण भारत में फैलने लगा। अंग्रेजो के लिए यह एक स्वर्णिम अवसर था। इसलिए उन्होंनें अपने साम्राज्य फैलाने के हर संभव नीति का प्रयोग किया। उसी दौरान भारत में सामाजिक क्षेत्र में पुर्नजागरण शुरू हुआ। जिसके प्रथम सुधारक के रूप में राजा राम मोहन राय जाने जाते है। यद्यपि अनेक सुधार ब्रिटिश साम्राज्य को भारत के लिए अनुकूल मानते थे और उनसे प्रेरणा लेने की बात करते थे। परन्तु धीरे धीरे भारत में अंग्रेजो के प्रति असंतोष पैदा होने लगा। जिसकी पहली चिंगारी 1857 की क्रांति के रूप में दिखायी देती है। यद्यपि भारत के इस प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम को अंग्रेज दबाने में सफल होते है परन्तु इसने अपने पीछे कई महत्वपूर्ण सवाल छोड़ दिये। ब्रिटिश शासन इस बात को जान चुका था कि यदि भारत में लंबे समय तक शासन करना है तो महत्वपूर्ण परिवर्तन करने होंगें। इसीलिए सबसे पहला कदम भारत से ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त कर ब्रिटिश शासन का सीधा नियन्त्रण स्थापित किया गया। इसके लिए 1858 का एक्ट लाया गया परन्तु इससे भारत में शोषण व दमन की प्रक्रिया ओर तेज हो गई। वहीं दूसरी ओर भारत में धीरे–धीरे राष्ट्रवाद की भावनाएं बढ़ रही थी। कुछ छोटे–छोटे संगठन उभरकर सामने आये परन्तु इनका दायरा बहुत सीमित था। इसी बीच लार्ड रिपन भारत के गर्वनर जनरल बन कर आये। उनकी छवि एक उदारवादी की थी परन्तु अन्य अंग्रेजी अधिकारियों के चलते उन्हें अपनी कदम पीछे हटाने पड़े।

ए. ओ ह्राम जो एक अंग्रेजी अधिकारी थे उन्होनें 1883 को कलकता विश्वविद्यालय के छात्रों के नाम एक चिट्ठी लिखी जिसमें उन्होनें भारत की दुर्दशा का चित्रण करते हुए भारतीयों को एक ऐसा संगठन बनाने की बात कहीं जो भारत में होने वाले अत्याचारों का विरोध कर सके। इसी सिलसिलें में एक सम्मेलन का आयोजन बम्बई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत महाविद्यालय में 25 दिसम्बर से 31 दिसम्बर 1885 के बीच आयोजित किया गया। इसके पहले अध्यक्ष डब्ल्यू.सी. बेनर्जी चुने गये। इस तरह कांग्रेस की स्थापना 31 दिसम्बर 1885 को की गई। यद्यपि शायद कांग्रेस के संस्थापकों ने यह नहीं सोचा होगा कि आगे चलकर यह संगठन भारत के लिए इतना महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। ऐसा माना जाता है कि कांग्रेस की स्थापना एक "सेफ्टी वाल्व" के रूप में हुई थी अर्थात् इस समय के आते–आते अंग्रेजो के प्रति असंतोष काफी बढ़ चुका था अतः उस असंतोष को कम करने के लिए पढ़े लिखे लोगों का यह संगठन बनाया गया जो कुछ हद तक भारतीय जनता की भावना को सरकार तक पहुँचा सके। इस तरहह कांग्रेस की स्थापना से भारतीयों में एक नवचेतना का संचार किया।

इससे पूर्व 1832 में भारत में मैकाले की शिक्षा पद्धति को भारत में लागू किया। यद्यपि इसका एक मात्र उद्देश्य भारत में सस्ते बाबु तैयार करना परन्तु इस पद्धति से जब भारत में शिक्षा प्रारम्भ की गई थी उससे भारतीयों को उदारवादी दर्शन, स्वतन्त्रता, मसानता, न्याय को जानने का अवसर मिला तथा फ्रांस की राज्य क्रांति तथा अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम व अन्य विश्व में प्रमुख घटना चक्र के बारे मं जानकारी मिली जिससे भारतीयों में इस भावना का संचार हुआ कि वे अभी तक क्यों इनसे वंचित हैं? इस तरह राष्ट्रवाद का बीजारोपण हो गया । और धीरे–धीरे भारत में अंग्रेजो के विरूद्ध होने वाले आन्दोलन तेज होने लगे।

ज्योतिबा फुलेः (1827–90) की भी दयानन्द सरस्वती की तरह एक सामाजिक संगठन बनाने की इच्छा थी जो व्यक्ति की योग्यताओं और क्षमताओं को व्यक्ति के जन्म के बजाय व्यवसा और धार्मिक स्तर के आधर पर प्रदर्शित करे। तृतीय रत्न नाटक जो 1855 में प्रकाशित हुआ था, उनकी विचारधारा का सशक्त प्रदर्शन था। यह नाटक एक चालाक ब्राह्मण द्वारा एक अनपढ़ और अंधविश्वासी दंपत्ति के शोषण किए जाने के बारे में है और बाद में इस दंपत्ति को एक ईसाई मिशनरी द्वारा ज्ञान दिया जाता है। इन नाटक मे तीन महत्वपूर्ण बातें स्पष्ट हैं। पहला, ब्राह्मण प्रभुत्व की आलोचना करते हुए उन्होंने हिन्दू धर्म के अत्याचारी स्वरूप के बारे में व्यापक बात कही कि अपने वर्तमान स्वरूप में इसने शुद्रों पर वैचारिक आधिपत्य थोपा और शुद्धिकरण के अनेक अनुष्ठान सुझाए। इसने अछूतों को गरीब बना दिया। दूसरे, लालची ब्राह्मण के चंगुल से दंपत्ति को बचाने वाले ईसाई मिशनरी (प्रचारक) की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हुए, ज्योतिबा फुले के संभवतया धर्मांतरण को शोषणकारी हिन्दू धर्म से छुटकाकरा पाने का एकमा. व्यावहारिक उपाय माना है। फुले स्वयं धर्म परिवर्तन के बारे में बात नहीं करते परन्तु उन्होंने चितपावन, ब्राह्मण विदुषी पंडित रमाबाई के धर्म परिवर्तन का समर्थन करके अपन तर्कों का समर्थन किया है। फुले के लिए ईसाई धर्म न केवल ब्राह्मणवादी उत्पीड़न से छुंटकारा पाने का एकमात्र उपाय था बल्कि मोक्ष प्रदान करने वाला धर्म भी था। तीसरे, इस कहानी पर बल देते हुए, एक अन्य प्रमुख वैचारिक बिन्दु भी था जो हिन्दू समाज में ब्राह्मण प्रभुत्व को बनाए रखने में शिक्षा के महत्व से संबंधित था। उनका मानना था कि शिक्षा विशेषकर अंग्रेजी में साहित्य में शिक्षा तक पहुँच ने ब्राह्मणों को एक सामाजिक समूह के रूप में सामाजिक संसाधन प्रदान किए। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण समकालीन सामाजिक, राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में छाए रहे। अतः ब्रिटिश शासन की बदली हुई परिस्थितियों में नए कौशल प्राप्त करके ब्राह्मणों ने समय की आवश्यकताओं के अनुसार अपनी भूमिकाओं को फिर से परिभाषित किया और अपने प्रभुत्व को कायम रखा। दूसरे शब्दों में, अंग्रेजी भाषा में शिक्षित होने के कारण ब्राह्मण एक सामाजिक समूह के रूप में उभरे जिसे ब्रिटिश सरकार अपना प्रशासन चलाने में उनकी स्पष्ट भूमिका की उपेक्षा नहीं कर सकी।

फुले ने किस प्रकार की ऐतिहासिक भूमिका निभाई? पूर्व राष्ट्रवादियों की तरह उन्होंने जो मूल संदेश दिया, वह ब्राह्मणवादी शोषण से मुक्त समाज के उनके मॉडल से संबंधित था। उनके लिए ब्रिटिश शासन एक गुप्त वरदान था जिसने ब्राह्मणों के जातीय प्रभुत्व के आधार पर प्रहार किया था। मूलतया विदेशी शासन में इस आयाम के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि फुले ने उपनिवेशवाद के शोषणकारी स्वरूप को कम आंक कर देखा है। यह भी संभव है कि फुले ने उस समाज में जिसमें ब्राह्मणों का प्रभुत्व था शुद्रातिशुद्र (अछूत) को सम्मानजनक स्थान दिलाने के अपने उद्देश्य को उच्च प्राथमिकता दी। फुले स्वयं हिन्दू धर्म ग्रंथों के इतने विरोधी नहीं थे जितने कि वे मौजूदा हिन्दू व्यवस्था बनाए रखने वाले मूल्यों और विचारों के खिलाफ थे। दूसरे शब्दों में, ब्राह्मणवादी विमर्श के प्रति अपने विरोध को विवेकपूर्वक व्यक्त करके, फुले संभवतया हिन्दू धर्म के विरूद्ध कार्यवाही से दूर होने के प्रयास कर रहे थे। उनके विचार में, हिन्दू धर्म का मूल श्रुतियों (वेदों) और स्मृतियों में है और ब्राह्मणों ने अपने प्रभुत्व को कायम रखने के लिए इन्हें तोड़ा–मरोड़ा (विकृत) है। इस प्रकार,

यह व्याख्या कि वर्ण व्यवस्था (चार विभिन्न समूहों में समाज का विभाजन) ईश्वर द्वारा दी गई है और उचित है, उनके अनुसार शेष समाज पर ब्राह्मणों के प्रभुत्व को कायम रखने की ब्राह्मणों की "स्वार्थपूर्ण इच्छा" का परिणाम थी। अतः उन्होंने न केवल हिन्दू व्यवस्था और उसके सैद्धान्तिक साहित्य को भी अस्वीकार किया बल्कि शूद्रों पर ब्राह्मणवादी आधिपत्य को पोषित करने वाले हिन्दू समाज के विभाजनकारी स्वरूप के विरूद्ध अति विश्वास के साथ बहस की। उन्होंने यह तर्क भी प्रस्तुत किया कि समाज का विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग अर्थात् ब्राह्मणों ने धार्मिक पुस्तकों और विकृत प्रथाओं के हवाले से अपने प्रभुत्व को उचित ठहराने का प्रयास किया। उन्होंने हिन्दू धर्ममीमांसा की आलोचना की और अवतार की उनकी इस अवधारणा को चुनौती दी कि जब समाज का पूरी तरह नैतिक पतन हो जाता है तो परिवर्तन के लिए अवतार हाता है। अवतार की हिन्दू अवधारणा में फुले ने एक और षड़यंत्र पाया जिसे हिन्दू समाज में फूट से बचने के लिए "अच्छे और बुरे" का धार्मिक रूप से उचित ठहराया गया रूप बताया। विभाजनकारी हिन्दू समाज की जड़ों पर प्रहार करते हुए उन्होंने समान व्यवस्था बनाने के अपने उद्देश्य को आधार मानकर ब्राह्मणवादी देवी देवताओं और विश्वासों के साथ स्वयं कभी समझौता नहीं किया। दूसरे शब्दें में, हिन्दू धर्म के ब्राह्मणवादी प्रदर्शन को शूद्रों के दृष्टिकोण से चुनौती देते हुए, फुले ने इतिहास के वैकल्पिक विमर्श और उसके रहस्योद्घाटन पर सफलतापूर्वक एक संवाद प्रस्तुत किया।

फुले के लिए साक्षरता (ज्ञान) और विशेषकर अंग्रेजी शिक्षा ब्राह्मणवादी प्रभुत्व को मूलरूप से दूर करने में सर्वाधिक उपयोगी थी। उनका मानना था कि मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को मूल रूप से बदलने में साक्षरता न केवल एक सशक्त माध्यम है, बल्कि इससे लिंग (महिला पुरूष) समानता भी आएगी। शायद फुले पहले राष्ट्रवादी थे जिन्होंने गंभीरतापूर्वक महिला साक्षरता का बीड़ा उठाया और विशेष रूप से अपने प्रयास से 1842 में कन्या विद्यालय स्थापित किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संबंध में राममोहन राय की तरह उन्होंने आधुनिक समतावादी समाज की भौमिक और संस्थागत आधारशिला रखने के लिए ब्रिटिश शासन की प्रशंसा की है। हालांकि फुले पश्चिमी विविधता के उदारवाद से प्रभावित थे, परन्तु लोगों की आवश्यकताओं और माँगों के प्रति वह अंग्रेजी की प्रतिक्रिया से खुश नही थे। अन्य पूर्व राष्ट्रवादियों की तरह फुले को विदेशी शासन का समर्थन करने के लिए जिसने प्रेरित किया, वह पूरी तरह से नई सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था की रचना में विदेशी शासन की भूमिका थी जिसकी सहायता से वे शूद्रों पर ब्राह्मणों के मौजूदा वर्चस्व को समाप्त करना चाहते थे।

फुले की प्रतिक्रिया में एक अन्य विशिष्ट आयाम जो उन्हें पूर्व राष्ट्रवादियों से बिल्कुल अलग करता है अपने विचारों को व्यवहार में लागू करना है। सत्यशोधक समाज 1873 में अस्तित्व मे आया जिसकी स्थापनी इसी उद्देश्य को दिमाग में रखकर की गई थी। समाज न केवल कन्याओं की औपचारिक शिक्षा, विधवा विवाह के समर्थन और नशाखोरी के खिलाफ अभियान में संलग्न था बल्कि इसने हिन्दू समाज के स्वरूप और धर्म ग्रंथों विशेषकर वेदों जिन पर यह आधारित थ, जबरदस्त बहस को जन्म दिया। अतः फुले गांधी से एक कदम आगे थे। महात्मा गांधी ने जो सामाजिक आर्थिक मुद्दे उठाए थे, उन पर फुले ने तब चर्चा की थी जबकि ब्रिटिश शासन दमनकारी दिखाई नहीं देता था जबकि वह बाद में दमनकारी हो गया। रूढ़िवादी हिन्दू धर्म जिसने अधिकांश लोगों को उनके उचित और वैध अधिकारों से वंचित कर रखा था, उसके खिलाफ तर्कसंगत ढंग से तर्क प्रस्तुत करके, फुले ने धर्म और धार्मिक ग्रंथों के नाम पर सही ठहराई गई मौजूदा ब्राह्मणवादी प्रथाओं और मूल्यों की एक सशक्त सामाजिक समीक्षा प्रस्तुत की।

5.4 राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया : एक आलोचनात्मक मूल्यांकन

पूर्व राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया की अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि राष्ट्र की संकल्पना किस ढंग से की गई है। इन राष्ट्रवादियों ने मुस्लिमों का कोई उल्लेख नहीं किया है, अतः प्रतीत होता है कि इन्होंने प्रस्तावित राष्ट्र के संघटकों की स्पष्ट पहचान की है। उपनिषदों अथवा वेदों जैसे हिन्दू परम्परागत ग्रंथों पर विशेष रूप से बल देकर पूर्व राष्ट्रवादियों ने प्रारम्भिक चरण में राष्ट्र के लिए प्रेरणा स्त्रोतों की पहचान की जिसने इस्लाम और इसके समर्थक ग्रंथों के विरोध में वैचारिक आवाज को स्पष्ट रूप से तेज किया। अतः राष्ट्र का उनका विचार संकुचित था क्योंकि उनकी राष्ट्र की अवधारणा में मुस्लिम शामिल नहीं थे। गिरती हुई सामंतवादी संस्कृति जिसका समर्थन मुस्लिम शासकों ने किया था इसका पता यूरोपीय आधुनिकता के मूल्यों की बढ़ती हुई स्वीकृति के ऐतिहासिक संदर्भ से चलता है। बंकिम जिसके मुस्लिम शासन पर उग्र विचार थे, उनको छोड़कर किसी भी पूर्व राष्ट्रवादी चिंतक ने इस मुद्दे पर स्पष्ट शब्दों में अपनी राय व्यक्त नहीं की। राष्ट्रवादी अभियान आरंभ करने का उनका उद्देश्य हिन्दुओं को मजबूत करना और नया जीवन देना था जो सहज विभाजक स्वरूप के कारण एक समूह बनाने में असफल रहे। चाहे वह दयानन्द सरस्वती हो अथवा बंकिमचन्द्र, अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करते समय एक जाति (मूलवंश) के रूप में हिन्दुओं को एक करने का विचार निर्णायक ढग से किया गया प्रतीत होता है।

फारसी साहित्य और इस्लामी संस्कृति में रूचि होने के कारण राममोहन राय के विचार बंकिम से अलग थे। चूँकि फुले, विभाजक हिन्दू समाज के आलोचक थे, उन्होंने सुधारवादी भाषा में तर्क प्रस्तुत किया तथा मुस्लिमों का उल्लेख करना प्रासंगिक नहीं समझा। फुले के विचार में, ब्रिटिश शासन अच्छा था क्योंकि इससे हिन्दू धर्म में मौजूद प्राचीन प्रथाओं पर नियंत्रण करने के लिए बौद्धिक संसाधन प्राप्त हुए।

अब स्पष्ट है कि राष्ट्र की संकल्पना करने में, इन चिंतकों ने उचित ऐतिहासिक भूमिका निभाई। अतः मुस्लिम शासकों और उनके शासन के प्रति उनकी उदासीनता और आलोचनात्मक टिप्पणियों के कारण उन्हें पक्षपाती कहना बिल्कुल गलत होगा। राष्ट्र के लिए ब्रिटिश शासन सर्वाधिक उपयुक्त बताकर उन्होंने दो प्रकार से समर्थन किया: पहला ज्ञान दर्शन जो हिन्दू धर्म और परम्परागत धर्मग्रंथों जिन पर यह आधारित थ, आलोचनात्मक ढंग से आंकलन (मूल्यांकन) करने का एक वैकल्पिक वैचारिक दृष्टिकोण प्रदान किया। दूसरे, राष्ट्र के सभ्यता संबंधी संसाधनों पर बल देकर, इन चिंतकों ने एक ऐसा मॉडल की बौद्धिक खोज की भी संकल्पना की जो ऐसे क्षेत्रों के लिए सामाजिक–सांस्कृतिक रूप से समर्थक हो जिनके लिए इसकी संकल्पना की गई थी। इस अर्थ में राष्ट्र के विचार की यद्यपि संकुचित रूप से रचना की गई थी, तथापि प्रतीत होता है कि यह मौजूदा ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम था।

अंत में एक बात और उनकी प्रतिक्रिया बिल्कुल भी राजनीतिक नहीं थी। जबकि दयानन्द सरस्वती आर्य समाज के लिए राजनीति से दूर रहे, राममोहन राय हिन्दू समाज में कुरीतियों को दूर करने में लगे रहे। बंकिम के ऐतिहासिक उपन्यास आनन्दमठ में शासक के विरूद्ध संन्यासी विद्रोह के लिए अपने समर्थन में राजनीतिक संदेश निहित था। यद्यपि राज्य और राज्य सत्ता को उनके विचार बहुत अधिक विकसित नहीं है परन्तु की आध्यात्मिक श्रेष्ठता के लिए उनके तर्क ने पूर्व राष्ट्रवादियों पर उनकी बौद्धिक श्रेष्ठता सिद्ध की है। फुले ने भी राजनीतिक संदर्भों में सत्याशोधक समाज की भूमिका नहीं बताई। उनके लिए मुख्य बात बहुसंख्यक शुद्रों पर ब्राह्मण प्रभुत्व को चुनौती देना था। इस स्पष्ट प्राथमिकता के आधार पर फुले ने समाज की भूमिका का उल्लेख किया। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश विरोधी कदम की ओर ध्यान दिलाने के लिए स्पष्ट राजनीतिक भूमिका से बचना उस संदर्भ में शायद रणनीति के तौर पर ठीक था। इसका अर्थ है कि इन राजनीतिक चिंतकों द्वारा शुरू किए गए अभियान को हानि न पहुँचे, इन्होंने एक ऐसा कार्यक्रम स्वीकार कर लिया ताकि सरकारी हस्तरक्षेप के बिना इनका वैचारिक अभियान चलता रहे। इन सबके बावजूद जब राष्ट्रवादी अंग्रेजी शासन से भिड़े तब इनके द्वारा दिए गए विचारों ने लागों को कार्रवाई करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने न केवल उग्रपंथियों (उग्रवादियों) को प्रेरित किया बल्कि उन्होंने गांधी और उसके अनुनायियों को बौद्धिक संसाधन उपलब्ध कराए। अतः पूर्व राष्ट्रीय चिंतन का एक अभिन्न अंग है जो बिल्कुल भिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में अलग ढंग से संरचित है तथा यह सब इस बात पर भी निर्भर करता है कि राष्ट्रवादी दृष्टिकोण में क्या महत्वपूर्ण था।

5.5 सारांश

पूर्व राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया चाहे राजा राममोहन राय, बंकिम अथवा फुले से जुड़ी थी, इसका प्रमुख उद्देश्य अपना आधार खो चुके हिन्दू समाज के व्यापक सुधार करना था। हिन्दू समाज के विभाजित स्वरूप को देखते हुए उन्होंने तर्क दिया कि राष्ट्र के लिए इसकी जड़ों पर प्रहार करना अत्यावश्यक है, तभी यह फलफूल सकता है। ब्रिटिश के उदार मूल्यों से आकृष्ट होकर, राममोहन राय ने विदेशी शासन का स्वागत किया और शिक्षा के बुनियादी विचारों से ओत प्रोत करके इसे हिन्दू समाज के मूलरूप से परिवर्तित करने का एक महत्वपूर्ण कदम बताया। गीता में अटूट विश्वास के कारण, बंकिम ने अनुशीलन धर्म में मरणासन्न राष्ट्र को एकजुट करने का एक उपयुक्त उपाय पाया। जबकि दयानन्द सरस्वती ने अपने को बाकियों से अलग रखा और विशेष रूप से वेदों का सहारा लिया। सुधार पर अपने विचार व्यक्त करने में फुले पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित हुए। उनके लेखन में अस्पष्ट अवधारणा है और उन्होंने हिन्दू समाज के विभाजक स्वरूप को अंग्रेजों की विजय का कारण बताया है। बंकिम ने भौतिक पहचान की भावना (बोध) भरने में हिन्दुओं के आध्यात्मिक संसाधनों पर बल दिया है। दिलचस्प बात यह है कि राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती और ज्योतिबा फुले के लेखन में एक ही बात कही गई। अवधारणा पर विशेष बल देते हुए कार्यक्रम मुख्य रूप से छाया रहा तथा एक वैकल्पिक राष्ट्रवादी संवाद विकसित करने के लिए "हममें" और "उनमें" के बीच अंतर बाद में भी चलता रहा।

5.6 अभ्यास प्रश्नावली

1. ज्योतिबा फूले के प्रमुख विचारां का उल्लेश कीजिए।

अध्याय:-06

नरमपंथी व उग्रपंथी विचारधारा का महत्व व योगदान

सरंचना

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रस्तावना

I. उदारवादी युग (1885–1906)

6.3 उदारवादियों का कांग्रेस में कार्यक्रम (1885–1906)

6.4 उदारवादी विचारधारा व कांग्रेस

6.5 कांग्रेस द्वारा औपनिवेशिक साम्राज्य की मांग

6.6 उदार राष्ट्रवादियों के सिद्धान्त विचारधारा व कार्य पद्धति

6.6.1 ब्रिटिश शासन एक वरदान

6.6.2 ब्रिटिश शासन की न्यायप्रियता में विश्वास

6.6.3 उदारवादियों का लक्ष्य स्वशासन की प्राप्ति न कि पूर्ण राज्य

6.6.4 संवैधानिक उपायों के औचित्य में विश्वास

6.6.5 राजनीति का आध्यात्मिकरण

6.6.6 आदर्श व यथार्थ का सुन्दर मेल

6.6.7 पाश्चात्य शिक्षा की उपयोगिता में दृढ़ विश्वास

6.6.8 हिन्दू–मुस्लिम एकता में पक्का विश्वास

6.6.9 देश की सवा सर्वोच्च उद्देश्य

6.6.10 मानव प्रगति के लिए स्वतन्त्रता जरूरी

6.7 उदारवादियों की सफलताएँ तथा भारतीय राजनीति में योगदान

6.7.1 यथार्थवादी नीति को अपनाना

6.7.2 ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीतियों का पर्दापाश करना

6.7.3 भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा

6.7.4 राष्ट्रीय जागरण की बढ़ोतरी में सहायक

6.7.5 स्वतन्त्रता संग्राम का आधार तैयार करना

6.7.6 1892 व 1909 का सुधार अधिनियम

II. उदारवादी (गरम दल) व भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन

6.8 उदारवादियों व उग्रवादियों के सिद्धान्तों में अन्तर

6.8.1 स्वराज्य को लेकर अन्तर

6.8.2 कौन्सिल में स्थान को लेकर अन्तर

6.8.3 ब्रिटिश शासन को लेकर भिन्नता

6.8.4 बहिष्कार पर असहमति

6.8.5 सामाजिक सुधारों के तरीके में अन्तर

6.9 उग्रवादी आन्दोलन के प्रारम्भ होने के कारण

6.10 सारांश

6.11 अभ्यास प्रश्नावली

6.1 उद्देश्यः–

इस अध्याय में यह जानने का प्रयास किया जाएगा कि भारत का स्वतन्त्रता संग्राम किस प्रकार अपने लक्ष्य तक पहुँचा तथा इस लक्ष्य को हासिल करने में किन किन विचारधाराओं और स्वतन्त्रता सेनानियों का योगदान रहा। इस अध्याय का प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैः–

- भारत के स्वतन्त्रता संग्राम की विभिन्न धाराओं को जानना।
- स्वतन्त्रता संग्राम किस प्रकार हमारे संवैधानिक विकास यात्रा में सहायक बना।
- नरमपंथी और गरमपंथी दोनो विचारधाराएँ किस प्रकार हमारे स्वतंत्रता संग्राम को लक्ष्य तक पहुँचाने में सफल रही।

6.2 प्रस्तावनाः–

भारत में अंग्रेजो के प्रति असंतोष व उनकी जन विरोधी नीतियों का विरोध अब हर स्तर पर होने लगा। किसान, व्यापारी, और विद्यार्थी, सामन्त इत्यादि के द्वारा अपने अपने साधनों से विरोध करना शुरू कर दिया था। इस तरह मुख्य रूप से देखा जाए तो भारत के स्वतंत्रता संग्राम की तीन धाराऐं दिखाई देती हैः– 1. नरमपंथी, 2. उग्रपंथी, 3. क्रांतिकारी। इन तीनों का अपना विरोध का महत्व है। जिनकी बदौलत हमें लम्बी गुलामी के पश्चात आजादी मिली। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारी आजादी लम्बे संघर्ष व लाखों लोगों के त्याग, समर्पण व बलिदानी का परिणाम हैं जिसमें ऐसे हजारों बेनाम शहीद हो गये, उनकी कुर्बानी हमारे लिए सदैव स्मरणीय रहेगी जिसके परिणामस्वरूप आज हम अपनी व्यवस्था व शासन के अनुसार देश का संचालन कर रहे है।

I. उदारवादी युग (1885–1906)

भारत में वैधानिक आन्दोलन की शुरूआज कांग्रेस की स्थापना से होती है जो 31 दिसम्बर 1885 को अस्तित्व में आयी। अपने प्रारम्भिक काल में अंग्रेजो के प्रति बहुत ही उदार रूख था। 1886 को कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी ने कलकत्ता अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में यह मांग की कि विधान परिषदों में सरकार सदस्यों का नामजद न कर चुनाव करें क्योंकि मनोनीत या नामजद सदस्य जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते। प्रतिनिधियों के चुनाव से सरकार को भी लाभ होगा। इससे सरकार पर गलत नीतियों के आरोप की बजाए जन प्रतिनिधियों पर लगेगा।

6.3 उदारवादियों का कांग्रेस में कार्यक्रम (1885 से 1906)

प्रारम्भिक दौर में उदारवादी विचारधारा का संबंध सीधे कांग्रेस से था। कांग्रेस अपनी स्थापना 1885 से लेकर 1905 तक प्रतिवर्ष कांग्रेस के अधिवेशन आयोजित किये गये। जिनमें न केवल कांग्रेस का दायरा बढ़ा अपितु उसने अपने प्रत्येक अधिवेशन में समय व बदलती हुए परिस्थितियों के अनुसार सरकार के समक्ष विभिन्न मांगे रखी जो इस प्रकार हैः–

1. वाइसराय व गर्वनर की विधान परिशदों का विस्तार कर अधिक से अधिक भारतीयों को प्रतिनिधित्व दिया जाएं व सदस्यों का चुनाव करवाया जाएं।
2. सेना पर किये जाने वाले खर्चों में कटौती की जाए।
3. भारत सचिव की भारत परिशद को समाप्त किया जाए।
4. स्थानीय संस्थाओं को अधिक प्रभावशाली बनाया जाए व सरकारी नियंत्रण कम किया जाएं।
5. नमक पर कर कम किया जाएं।
6. पुराने उद्योगो को पुर्नजीवित किया जाए और कुछ नये उद्योग स्थापित हो जिससे कृशि पर दबाव कम हो और बेराजगारी दूर हो सके।
7. भारतीयों के हितो की विदे ाों में रक्षा की जाएं।

8. जमीदारों के भोशण से किसानों की रक्षा।
9. भूमिकर में कमी।
10. प्रेस की स्वतन्त्रता व सरकारी नियंत्रण की समाप्त की मांग।
11. कृषि बैंक खोलकर किसानों को सस्ते ऋण दिये जाएं।
12. भारत में गरीबी की समस्या के समाधान हेतु ठोस नीति बनाई जाए।
13. तकनीकी व सैन्य शिक्षा हेतु कॉलेजो की स्थापना।
13. भारतीय नागरिक सेवाओं की परीक्षा भारत में ही हो।
14. न्यायापालिका और कार्यपालिका को अलग किया जाए।

6.4 उदारवादी विचाराधारा व कांग्रेसः–

इसके संबंध में कांग्रेस को चार भागों के बांटा जा सकता हैः–

पहला युग– (1885–1906)

द्वितीय युग– (1906–1919)

तृतीय युग – (1919–1929)

चतुर्थ युग – (1929–1947)

6.5 कांग्रेस द्वारा औपनिवेशिक स्वराज की मांगः–

अंग्रेजी सरकार के द्वारा कांग्रेस की उपरोक्त मांगों पर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा था। उसके परिणामस्वरूप कांग्रेस के भीतर ही एक नया वर्ग बढ़ा रहा था जो उदारवादी मार्ग पर चलने के लिए इच्छुक नहीं था। **1906 के कलकत्ता अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय उद्‌बोधन में दादा भाई नौरोजी ने पहली बार कहा, "कांग्रेस का उद्‌देश्य संयुक्त राज्य अमेरिका तथा उपनिवेशों की तरह ही स्वशासन प्राप्त करना है।"** परन्तु सरकार का रूख उदारवादियों की मांगों के प्रति सकारात्मक नहीं था लेकिन फिर भी गोखले व मदनमोहन मालवीय जैसे नेता अपनी रणनीति पर कायम थे और कांग्रेस के भीतर इस उदारवादी विचारधारा के प्रति असंतोष बढ़ रहा था और बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय व विपिन चन्द्रपाल जो आगे चलकर बाल–लाल–पाल के रूप मे प्रसिद्ध हुए उनके विचारों में उदारवादियों के तरीके भीख मांगने के समान है। इसकी बजाए हमें लोगों को संगठित कर करना होगा ताकि स्वराज्य की मांग पूर्ण हो सके।

6.6 उदार राष्ट्रवादियों के सिद्धान्त (विचारधारा व कार्यपद्धति)

1885 से 1906 तक कांग्रेस पूर्णतया उदारवादियों के हाथ में थी। उदारवादियों में प्रमुख नेता गोपाल कृश्ण गोखले, दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी व सर फिरोजशाह मेहता थे। इस काल अवधि मे उनके द्वारा जो क्रियाकलाप के प्रति गहरी आस्था रखते थे तथा इसी भाासन के दौरान वे सुधार चाहते थे। उदारवादियों के प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैः–

6.6.1 ब्रिटिश शासन एक वरदान हैः–

उदारवादी नेता ब्रिटिश शासन को एक वरदान मानने थे। जिसके अनेक कारण थे।

अ) अंग्रेजो के आने से पूर्व भारत में अशांति थी।

ब) राजनीति रूप से भारत कई भागों में विघटन हो चुका था।

स) वे ब्रिटिश शासन को भारत के भौतिक व नैतिक कल्याण का साधन मानते थे।

इस तरह उदारवादी विशेष रूप से गोपाल कृष्ण गोखले मानते थे कि भारत में जो अशांति अराजकता चल रही थी। उसके अंग्रेजी सरकार ने कुछ समय में समाप्त कर दिया।

6.6.2 ब्रिटिश शासन की न्यायप्रियता में विश्वासः–

गोखले व अन्य उदारवादियों के द्वारा ब्रिटिश राज को वरदान मानते। जिसको का एक कारण यह भी था कि ब्रिटिश शासन की न्यायप्रियता में उनका अटूट विश्वास था। ब्रिटेन की लोकतांत्रिक संस्थाओं व शिक्षा पद्धति को वे भारत के लिए उपयोगी मानते थे। कांग्रेस ने अपने पूना अधिवेशन में यह स्पष्ट किया कि भारत की प्रगति

ब्रिटिश साम्राज्य की छत्र छाया में ही हो सकती है। इस तरह उदारवादियों के ब्रिटिश शासन के प्रति सम्मान व अटूट आस्था थी।

6.6.3 उदारवादियों का लक्ष्य स्वशासन की प्राप्ति न कि पूर्ण स्वराज्यः–

गोखले व अन्य उदारवादी भारत को ब्रिटिश शासन के अधीन अधिराज्य बनाना चाहते थे। भारत को भी वही दर्जा मिले जो कनाडा व आस्ट्रेलिया जैसे अन्य अधिराज्यों को प्राप्त है। वे भारत के ब्रिटिश साम्राज्य की छत्र छाया में ही भारत का विकास सम्भव है। 1907 के इलाहाबाद अधिवेशन में भी कांग्रेस ने यह अपना लक्ष्य तय किया।

6.6.4 संवैधानिक उपायों के औचित्य में विश्वासः–

गोखले मानते थे कि तत्कालीन परिस्थितियों में संवैधानिक परिस्थितियों में संवैधानिक उपाय आन्दोलनात्मक तरीको से अधिक श्रेष्ठ है। वे अपनी मांगे मनवाने के लिए प्रार्थना पत्र शिष्टाचार भेंट, शिष्टमंडल के साथ मिलना, अनुरोध जैसे साधनों में विश्वास करने थे। आन्दोलन, व हिंसक प्रदर्शनों में कोई विश्वास नहीं था।

6.6.5 राजनीति का आध्यात्मिकरणः–

गोखले व अन्य उदारवादी राजनीति को किसी प्रसिद्धि या पद अथवा धन की प्राप्ति के रूप में नहीं अपनाया अपितु देश की सेना के लिए अपनााया है। इसी आधार पर गांधी जी ने गोखले को अपना राजनीतिक गुरू माना था और कहा था कि "गोखले ने मुझे इस बात की शिक्षा दी भी कि प्रत्येक भारतवासी को जो अपने देश प्रेम का दम भरता हो सदा राजनीतिक क्षेत्र में काम करने का ध्यान रखना चाहिए। इस तरह उदारवादी सही व सत्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सही व सत्य साधनों में विश्वास रखते थे।

6.6.6 आदर्शवाद और यथार्थवाद का सुन्दर मेलः–

गोखले यर्थाथवादी थे। वे तत्कालीन परिस्थितियों को मद्देनजर रखते हुए अपने विचारों को प्रस्तुत किया और कहा कि उत्तेजना की आंधी में राष्ट्र का निर्माण सम्भव नहीं है। अतः तत्कालीन परिस्थितियों को समझे बिना गोखले की स्वशासन की मांग को समझना कठिन है क्योंकि जहां वे एक तरफ भारत को ब्रिटिश साम्राज्य का अभिन्न अंग रखना चाहते थे वहां दूसरी तरफ भारतीयों के लिए अपने देश पर शासन करने का अधिकार चाहते थे।

6.6.7 पाश्चात्य शिक्षा की उपयोगिता में दृढ़ विश्वासः–

गोखले ने कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में कहा था कि 1883 में इंग्लैण्ड को दो भागों में से एक को चुनना था। एक तो यह था कि भारत की जनता को अज्ञानता तथा अन्धविश्वास के गढ़े में ही पड़े रहने दिया जाए और दूसरा यह था कि उसके लिए पाश्चात्य ज्ञान के द्वार खोल देना और ऐसा करके धीरे–धीरे स्वयं अपनी उदार परम्पराओं के स्तर तक उठाकर ले आना। अपनी उदारतम प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर उन्होंने इस देश के लोगो को पाश्चात्य ज्ञान प्रदान करने का निर्णय किया। इस प्रकार गोखले पाश्चात्य शिक्षा को भारत के लिए वरदान मानते थे। पाश्चात्य शिक्षा में जिस तरह उदारता, स्वतन्त्रता, समानता व सभी बंधनों से मुक्ति पर बल दिया गया है वह हमारे समाज की मांग है। जिसकी बदौलत भारतीय समाज में व्यापत बुराईयों व विषमताओं को समाप्त किया जा सकता है। जाति बंधनों, महिला–पुरूष में असमानता जैसे संकीर्ण मानसिकता कोसमाप्त करने में मदद मिल सकती है।

6.6.8 हिन्दू–मुस्लिम एकता में पक्का विश्वासः–

हिन्दू मुस्लिम उस समय में भी दो प्रमुख धर्म थे। अंग्रेजी शासन से पहले लंबे समय तक मुस्लिम शासको का शासन रहा जिसका प्रभाव हमारे सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक जैसे तमाम पहलुओं पर पड़ा। इस दौरान दोनो धर्मो में आपसी संबंध में मजबूत हुए परन्तु अंग्रेजी शासन कालमें इनकी आपसे संबंधों पर बुरा प्रभाव पड़ा व अंग्रेजो **की "फूट डालो राज करो"** की नीति का शिकार बरे। उदारवादी गोखले हिन्दू–मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे। उनका मानना था कि यदि भारत को इन महान जातियां में मतभेद बने रहे तो भारत का भविष्य अन्धकारमय है। इसलिए वे इस बात पर जोर देते थे कि हिन्दू–मुस्लिम दोनो को सहिष्णुता, आपसी भाईचारा संयम एक दूसरे के प्रति आदर पर बल देते थे।

6.6.9 देश की सेवा ही सर्वोच्च उद्देश्यः–

राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने के लिए गोखले भारतीयों की सर्वांगीण उन्नति पर विशेष बल देते थे। वे कहते थे कि जब तक भारतीयों की नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक योग्यताओं का विकास नहीं होता तब तक वे अपने राष्ट्र की उन्नति में पूर्ण योग नहीं दे सकती। उनका मानना था कि नैतिक उत्थान, उँच चरित्र, कठोर परिश्रम तथा त्याग से भारतीय अपने देश का भविष्य उज्जवल बना सकता है इन्हें व्यवहारिक रूप देने के लिए

गोखले ने 12 जून 1905 को भारत सेवक संघ की नींव रखी। इन्हीं आदर्शो का अनुसरण करते हुए गोखले ने "नाइटहुड" की उपाधि के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। उन्होंने भारत परिषद के सदस्य के रूप में पद ग्रहण करने से भी इंकार किया क्योंकि वे इसे देश सेवा में बाधा मानते थे।

6.6.10 मानव प्रगति के स्वतन्त्रता जरूरीः–

गोखले व उदारवादी स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे। मानव जाति की आमतौर पर और पराधीन जाति की खासतौर पर प्रगति स्वतन्त्रता के बिना सही नहीं हो सकती थी। अतः तत्कालीन परिस्थितियों में जितनी भी स्वतन्त्रता संभव हो वे चाहते थे। उन्होनें लार्ड कर्जन की दमनकारी नीतियों का विरोध किया।

6.7 उदारवादियों की सफलताएँ तथा भारतीय राजनीति में योगदान

भारत के स्वतन्त्रता संग्राम व राष्ट्रीय आन्दोलन को सही दिशा व गति देने के लिए उदारवादियों का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है। ये इसकी तीन धाराओं में से एक है इस विचारधारा भारत में राजनीतिक चेतना व जागरूकता का दीप प्रज्जवलित किया। जो आगे चल कर राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए निर्णायक सिद्ध हुए। इससे पहले तक भारत में ऐसी कोई विचारधारा नहीं थी जो इस आन्दोलन को व्यवस्थित रूप दे सके। इससे प्रारम्भिक स्तर पर सीमित रूप में ही सही बाद में यह एक व्यापक रूप में स्थापित हुए। जहां पहले केवल शिक्षित लोग ही उदारवादियों से जुड़े हुए थे परन्तु धीरे धीरे समाज का हर वर्ग इस विचारधारा के साथ जुड़ने लगा। उदारवादियों के केवल ब्रिटिश शासन का समर्थक ही माना जाता था परन्तुं धीरे धीरे उदारवादी खुलकर अंग्रेजो की दमनकारी नीतियों का विरोध करने लगे। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उदारवादी (नरम दल) के लोगो ने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को जो वैचारिक धरातल दिया उसी की नींव पर स्वतंत्रता संग्राम की रणनीति बनी । आगे चलकर कांग्रेस व गांधी जी के नेतृत्व में जो भी आंदोलन हुए उन पर इनका प्रभाव देखा जा सकता है।

6.7.1 यर्थाथवादी नीति को अपनानाः–

कांग्रेस की नीतियाँ तत्कालीन परिस्थितियों में अत्यन्त यथार्थवादी थी। 1885 से 1905 तक की कालावधि में कांग्रेस इतनी सुदृढ़ संस्था नहीं बनी जो शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य से मुकाबला कर सके। कांग्रेस कुछ शिक्षित लोगों तक ही सीमित थी। उस समय अंग्रेजो के विरूद्ध आंदोलन को सोचना दूर की बात थी। इस प्रकार उस समय की राजनीतिक स्थितियों को ध्यान में रखकर कदम उदारवादियों के द्वारा उठाए गए।

6.7.2 ब्रिटिश शासन की दमनकारी नीतियों का पर्दापाश करनाः–

दादाभाई नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले तथा अन्य उदारवादियों के निरन्तर जनता के सम्मुख अपने भाषणों में ब्रिटिश सरकार की शोषणकारी नीतियों का पर्दापाश किया। उन्होंनें अंग्रेजो के द्वारा भारत में **"धन चूसने"** के सिद्धांत का प्रतिपादन किया और यह कहा कि 3 करोड़ से 4 करोड़ पौंड धन प्रतिवर्ष इंग्लैण्ड भारत से खींच रहा है। जिसके कारण भारत की आर्थिक स्थिति बेहद कमजोर हो चुकी है। दमनकारी नीतियों के चलते हमारे निरन्तर पड़ने वाले अकाल के कारण किसानों की स्थिति और खराब हो चुकी थी। गोखले ने अपने बजट भाषणों में सरकार की शोषणकारी नीतियों की कड़ी आलोचना की।

6.7.3 भारतीयों को राजनीतिक शिक्षाः–

कांग्रेस की स्थापना से पूर्व भारत में राजनीतिक शिक्षा का नितान्त अभाव था। भारतीय स्वतन्त्रता, अधिकारों, समानता के बारे में अनभिज्ञ थे परन्तु जब पाश्चात्य इतिहास, साहित्य दर्शन, राजनीति को पढ़ने व अनुभव करने का अवसर मिला तो उदारवादियों ने इसका प्रचार प्रसार किया जिससे भारतीयों राजनीतिक शिक्षा का संचार हुआ।

6.7.4 राष्ट्रीय जागरण की बढ़ोतरी में सहायकः–

उदारवादियों ने भारतीयों के लिए 1905 तक स्वराज की मांग की और अनेक अधिकारों की मांग ब्रिटिश शासक के समक्ष रखी। 1906 में उन्होंने औपनिवेशक स्वराज की मांग की। उस समय ब्रिटिश का दमन अपनी चरम सीमा था। 1857 की क्रांति को कुचलना था जो अब भी पूरी तरह जारी था। लार्ड कर्जन व लार्ड लिटन ने दमनकारी नीतियां अपनाई उस समय भारतीय संस्थाओं के द्वारा औपनिवेशिक शासन की मांग करना अपने आप में बहुत बड़ा साहसिक कार्य था। उनके इस कार्य से राष्ट्रीय जागरण का मार्ग प्रशस्त हुआ।

6.7.5 स्वतन्त्रता संग्राम का आधार तैयार करनाः–

यद्यपि कांग्रेस अपनी स्थापना के बीस वर्षो तक कोई आन्दोलन शुरू नहीं किया परन्तु उनके भाषणों, सरकार पर दबाव बनाने की रणनीति के कारण राजनीतिक चेतना का विकास हुआ।

(अ)**विदेशी कपड़ो का बहिष्कार– बनारस अधिवेशन में गोखले ने पहली बार विदेशी कपड़ो के बहिष्कार करने की घोषणा की** उन्होंने कहा कि जब कोई अन्य नीति नहीं बचे तब इस बहिष्कार की नीति का प्रयोग करना चाहिए। जनता की शिकायतों की ओर शासन का ध्यान आकर्षित करने का यह महत्वपूर्ण साधन है।

(ब)**स्वदेशीः–** इसमें उच्च कोटि की राष्ट्रभक्ति छीपी हुई है। गोखले ने **बनारस अधिवेशन** में ही देश में निर्मित वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिए जिससे भारतीय उद्योगो को सम्बल मिलेगा तथा ब्रिटिश वस्तुओं की मांग घटने से उनकी अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल असर पड़ेगा।

6.7.6 1892 व 1909 का सुधार अधिनियमः–

कांग्रेस के निरन्तर प्रयासों के परिणामस्वरूप 1892 में ब्रिटिश संसद ने एक सुधार अधिनियम पारित किया जो 1861 के परिषद अधिनियम से बहुत आगे बढ़ा हुआ था परन्तु कांग्रेस इस अधिनियम से संतुष्ट नहीं थी और वे निरन्तर सुधारों की मांग कर रहे थे।

लार्ड कर्जन की गलत नीतियों से आन्दोलन बल पकड़ रहा था। 1904 में बंगाल विभाजन से जनता में भारी आक्रोश था, जापान द्वारा रूस को हारने के कारण भारतीयों का मनोबल चरम सीमा पर था। अतः जन भावना के बढ़ते दबाव का कांग्रेस की नीतियों के परिणाम स्वरूप 1909 का (मार्ले–मिण्टो सुधार) अधिनियम पारित किया गया। जिसके माध्यम से भारतीयों की शासन में आंशिक भागीदारी बढ़ाने का कदम उठाया गया।

II. उग्रवादी (गरम दल) व भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन

1885–1906 के बीच कांग्रेस ने अनेक मांगे की थी। इन मांगो को ब्रिटिश सरकार ने पूरा किया अपितु दमन व शोषणकारी नीतियां जारी रही। जिसके परिणामस्वरूप कांग्रेस के भीतर असंतोष की चिंगारी दिखाई दी जो न केवल ब्रिटिश सत्ता का मुखर विरोधी व प्रबल मोर्चा बनाना चाहते थे अपितु उदारवादियों की नीतियों व साधनो को भीख मांगने के समान मानते थे। उनका कहना था कि इन साधनों से हम हमारे स्वराज प्राप्त के लक्ष्य को हासिल नहीं कर सकते। इसलिए बालगंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल व लाला लाजपत राय (जो आगे चलकर बाल–पाल–लाल) के नाम से जाने गई ने कांग्रेस की नीतियों का विरोध किया और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को दूसरी प्रमुख धारा उग्रवादी (गरम दल) की शुरूआत की जो किसी भी कीमत पर स्वदेश, स्वभाषा, स्वराज की स्थापना करना चाहते थे। इसलिए संगठित आंदोलन प्रदर्शन बहिष्कार को अपनाकर सरकार को झुकाना चाहते थे।

6.8 उदारवादियों तथा उग्रवादियों के सिद्धान्तो में अन्तर

6.8.1 स्वराज को लेकर अन्तरः– जहां उदारवादी ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया में सुधार करवाकर स्वायतता चाहते थे वहीं उग्रवादी पूर्ण स्वराज्य की मांग करते थे। तिलक ने तो यहां तक कहा कि "स्वराज मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा"।

6.8.2 कौन्सिल में स्थान को लेकर अन्तरः– उदारवादी कौन्सिल में लाने के लिए अधिक स्थान और अधिकारों की मांग करने से वही उग्रवादी चुने हुए सदस्यों और अधिक अधिकार देने की मांग कर रहे थे। उनका मानना था कि सदन के प्रमुख मुद्दो जैसे बजट पर उनकी राय ली जानी चाहिए।

6.8.3 ब्रिटिश शासन को लेकर भिन्नताः– उदारवादी ब्रिटिश शासन को भारत के लिए वरदान मानते थे और यह भारत के लिए ईश्वर का बहुत बड़ा उपहार व कृपा है। जो हमारे समाज में निहित बुराईयों को समाप्त करने में मददगार बनेगा वहीं दूसरी ओर उग्रवादियों की भारतीय सभ्यता व संस्कृति विश्व में सबसे श्रेष्ठतम है जिसने मानवता का पाठ पढ़ाया तथा अन्य संस्कृतियों का नेतृत्व किया है।

6.8.4 बहिष्कार पर असहमतिः– उग्रवादी ब्रिटिश शासन को आर्थिक मोर्चे पर चुनौती देने के लिए इंग्लैण्ड से निर्मित कपड़े व अन्य वस्तुओं का प्रयोग न करने व पूर्णतया स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने का समर्थन किया। जिसके पक्ष में उनका तर्क था कि इससे राष्ट्रवाद को तो प्रोत्साहन मिलेगा साथ ही भारतीय कुटीर उद्योगों को

पुर्नजीवीत होने का अवसर मिलेगा परन्तु उदारवादी इस पर सहमत नहीं थे। वे अंग्रेजो के द्वारा किये जा रहे आर्थिक शोषण की कड़े शब्दों में निंदा करते थे।

6.8.5 सामाजिक सुधारों के तरीके पर अन्तरः– उदारवादी ये मानते थे कि भारतीय समाज में व्यापत बुराईयों को समाप्त करने के लिए ब्रिटिश समाज को कदम उठाना चाहिए और इस दिशा में उसके द्वारा किया गया हर प्रयास स्वीकार्य था परन्तु उग्रवादी व तिलक ये मानते थे कि सुधारों के नाम पर भारतीयों पर लादना किसी भी रूप से स्वीकार्य नहीं है।

6.8.6 अधिकारों की प्राप्ति के साधन में अन्तरः– उदारवादी अधिकारों की प्राप्ति हेतु अंग्रेजो से मांग करना ही अपना कर्तव्य समझते थे परन्तु उग्रवादी क्रांतिकारी या हिंसात्मक आन्दोलन की बजाए अहिंसात्मक आंदोन के माध्यम से अधिकार हासिल करना चाहते थे। उनका मानना था कि सब बुराइयों का कारण विदेशी सत्ता है। इससे मुक्ति के बाद ही हमारी बुराइयों का खात्मा हो सकेगा। अरविन्द घोष ने भी कहा था कि, "हमारा वास्तविक भात्रु कोई बाहरी वस्तु नहीं बल्कि हमारी अपनी शिथिलता और कायरता है। एक अधीन राश्ट्र स्वतंत्रता के द्वारा ही अपनी उन्नति के द्वार खोलता है और स्वतंत्रता के लिए बलिदान की आवश्यकता है। राजनीति की आराम की कुर्सी पर बैठकर विदेशी सत्ता नहीं हिलाई जा सकती। अपने पराक्रम और भाक्ति से ही विदेशी भाासन का विरोध किया जा सकता है।" इस उददेश्य की पूर्ति हेतु विपिनचन्द्र पाल ने "वन्दे मातरम" समाचार पत्र की शरूआत की। लाला लाजपत राय ने कहा कि "भारत के देश हित कर सकते है। अंग्रेजी जनता भारतीय के राजनीतिक प्रश्नों पर कोई रूचि नहीं रखती और न ही भारतीयों की चिन्ता करती है।

उपरोक्त विवचेना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दोनों विचारधाराओं ने जो दिशा हमारी स्वतंत्रता संग्राम को दी वह सदैव महत्वपूर्ण रहेगी ऐसा नहीं है कि उदावादियों का आन्दोलन व्यर्थ था और वे ब्रिटिश सत्ता के भक्त थे। उदारवाद उग्रवादी दोनो ही राष्ट्र भक्त थे। दोनो के तरीके व कार्यो से लाभ हुआ। शुरूआती दौर में उदारवादी विचारधारा ही प्रभावी थी। यदि इस समय अंग्रेजो का समर्थन नहीं किया जाता तो कांग्रेस पनप नहीं सकती थी और उस समय भारत की राजनीतिक रूप से इतना परिपक्त नहीं था कि वह पूर्ण स्वराज्य के अनुरूप भाासन का संचालन कर सका। ब्रिटिश सरकार से कौंसिल में प्रतिनिधित्व की मांग करना व बजट भाषणों में नीतियों का विरोध करना भी उस समय के अनुसार महत्वपूर्ण कार्य था। जब उग्रवादी गतिविधियां अहिंसात्मक आन्दोलन के रूप में मुखर होने लगी तब अंग्रेजी सरकार को संवैधानिक सुधारों की दिशा मे ठोस कदम उठाने शुरू किये जिसके परिणामस्वरूप 1909 का अधिनियम लाया गया।

6.9 उग्रवादी आन्दोलन के प्रारम्भ होने के कारण

अब हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि वे कौन से कारण है जिनकी बदौलत भारत में उग्रवादी आन्दोलन शुरू हुआ। यहां हमें यह समझना होगा कि धीरे–धीरे इंग्लैण्ड व भारत दोनो में राजनीतिक परिस्थितियां बदल रही थी। जैसे लम्बे समय तक ब्रिटेन की सत्ता पर सतारूढ़ अनुसार दल सत्ता से बाहर हो चुका था। सुधार अधिनियमों से भारत की जनता में असंतोष व्याप्त हो गया था जैसा कि लाला लाजपत राय ने कहा कि "भारतीयों को अब भिखारी बने रहने से संतोश नहीं होना चाहिए और न उन्हें अंग्रेजो की कृपा पाने के लिए गिड़गिड़ाना ही चाहिए। इसी समय हिन्दू धर्म का पुर्नरूत्थान हो चुका था। बंगाल में युवा काली व दुर्गा को प्रेरक भाक्ति मानते थे। बंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपनी पुस्तक "आनन्द मठ" द्वारा लोगो को "वन्देमातरम्" का जो राष्ट्रीय गान दिया वह हमारी राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ। अरविन्द घोष ने भी यही कहा कि "स्वतन्त्रता हमारे जीवन का उद्देश्य है और हिन्दू धर्म ही हमारे इस उद्देश्य की पूर्ति करेगा । राष्ट्रीयता एक धर्म है और ईश्वर की देन है"।

आर्थिक रूप से सोने की चिड़िया कहलाने वाला भारत अंग्रेजो की दमन व भाोशणकारी आर्थिक नीतियों का इतना शिकार हुआ कि कुटीर उद्योगों को समाप्त कर दिया गया जिससे गरीबी, बेरोजगारी व पिछड़ापन बढ़ा। अंग्रेजो का तो एक ही उद्देश्य था कि भारत का हर तरीके से भाोशण किया जाएं। इसी बीच अकाल जैसे प्राकृतिक आपदा व प्लेग जैसे महामारी ने जनता की अंग्रेजो के प्रति घृणा की भावना को बल दिया जिससे जो विचार उग्रवादी रख रहे थे उसकी पुष्टि हुई कि ब्रिटिश भाासन हमारे लिए वरदान न होकर अभिशाप है। अंग्रेजो की बंगाल विभाजन की नीति ने यह सिद्ध कर दिया कि वे भारत में फुट डाली राज करो की नीति पर काम कर रहे है। इस प्रकार 1907 के सूरत अधिवे ान में कांग्रेस दो भागों में विभाजित हो गई।

1. अनुदार दल का खराब भाासन
2. 1892 के सुधारों पर जनता में असंतोश तथा सरकार द्वारा कांग्रेस की उपेक्षा
3. हिन्दू धर्म का पुनरूत्थान
4. भारत का आर्थिक भाोशण
5. अकाल
6. प्लेग
7. लार्ड कर्जन व अन्य वायसरायों की दमनकारी नीति
8. बंगाल विभाजन तथा स्वदे ाी आन्दोलन
9. विदे ाी घटनाएं जापान तथा रूस को हटाया (1908)
10. 1907 में कांग्रेस की फूट

6.10 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि दोनो विचारधाराएँ भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की प्रमुख धुरी थी। जिन्होंने न केवल इस आन्दोलन को गति प्रदान की अपितु लक्ष्य तक पहँचाने मे निर्णायक सिद्ध हुई। समय व परिस्थितियों के अनुसार दोनो धाराओं का विशेष महत्व है जिन्हे जाने बिना हमारे स्वतन्त्रता के संघर्ष को नहीं माना जा सकता इनका प्रभाव केवल स्वतन्त्रता संग्राम तक ही सीमित नहीं रहा अपितु आधुनिक भारत के निर्माण व संविधान निर्माण में अतुल्य योगदान रहा है। जिनका प्रभाव आज भी देखा जा सकता है।

6.11 अभ्यास प्रश्नावली

1. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उदारवादी विचारधारा की कार्यपद्धति पर प्रकाश डालिए।
2. उदारवादी विचारधारा के योगदान का उल्लेख कीजिए।
3. उग्रवाद व उदारवादी विचारधारा की तुलनात्मक विवचेना कीजिए।
4. उग्रवादी विचारधारा की भूमिका का वर्णन कीजिए।

अध्याय-7
दादा भाई नौरोजी

संरचना

7.1 उद्देश्य

7.2 प्रस्तावना

7.3 नौरोजी का जीवन परिचय

7.4 नौरोजी के राजनीतिक विचार

7.4.1 ब्रिटिश उदारता में गहरी आस्था

7.4.2 ब्रिटिश शासन तथा पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन

7.4.3 सुदृढ़ राष्ट्रीय चरित्र व राष्ट्रीय व राष्ट्रीय एकता का समर्थन

7.4.4 ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत स्वशासन की मांग

7.4.5 संवैधानिक साधनों में गहरी आस्था

7.4.6 सत्ता के विकेन्द्रीकरण का समर्थन

7.4.7 क्रमिक सुधारों के पक्षधर

7.5 दादा भाई नौरोजी के आर्थिक विचार

7.5.1 निर्गम–सिद्धान्त (ड्रेन थिअरी)

7.5.2 दोषपूर्ण आर्थिक नीतियों पर प्रहार

7.5.3 यातायात के साधनों का विकास

7.5.4 भारतीयों का व्यापार की सुविधाएँ

7.5.5 समाजवादी संबंधी दृष्टिकोण

7.5.6 मुक्त व्यापार की स्थापना

7.6 सारांश

7.7 अभ्यास प्रश्नावली

7.1 उद्देश्यः–

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य दादा भाई नौरोज के प्रमुख विचारों को जानते हुए, एक उदारवादी चिन्तक के रूप में उनके विचारों को जानना।

- नौरोजी ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को नवीन दिशा देने का प्रयास किया।
- आर्थिक विकास को राजनीतिक विकास से जोड़ना, उसके बारे में जानना।
- नौरोजी का यह विचार "स्वदेशी से स्वराज सम्भव है", जो जानना।
- भारत की तत्कालीन आर्थिक स्थिति को जानना।
- भारत से धन निकासी पर रोक की मांग।

7.2 प्रस्तावनाः–

दादा भाई नौरोजी को एक प्रमुख उदारवादी (नरमपंथी) विचारक के रूप में जाना जाता है। उनकी पहचान राजनीतिक विचारों की बजाए आर्थिक विचारों के रूप में अपेक्षाकृत ज्यादा होती है। अपनी पुस्तक "पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया" (1901) में न केवल भारत की अर्थव्यवस्था की बुरी स्थिति का चित्रण प्रस्तुत किया अपितु ब्रिटिश सरकार की उन दोषपूर्ण नीतियों का भी उल्लेख किया जिनके चलते भारत के इस तरह के हालत बने। नौरोजी की पहचान एक ऐसी चिन्तक के रूप में की जाती है जिन्होंने ब्रिटिश शासन के प्रति उदार दृष्टिकोण रखते हुए सुधारों पर बल दिया तथा यह माना कि अंग्रजों की छत्रछाया में ही भारत में राजनीतिक सुधार किये जाए। उनका यह मानना था कि भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी नहीं है कि शासन सत्ता पूर्णरूप से भारतीयों को सौंप दी जाए। अभी भारतीय इसके योग्य नहीं है कि वे सत्ता का संचालन अपने आप कर सके इसलिए भारतीयों को राजनीतिक रूप से प्रशिक्षण देना आवश्यक है और वह तभी संभाव है जब भारतीयों का प्रतिनिधित्व बढ़ाया जाएं। नौरोजी भारत की बदहाल आर्थिक स्थिति गरीबी व पिछड़ापन के लिए अंग्रेजों से पहले चली आ रही भारत की राजनीति व शासकों को जिम्मेदार मानते थे, जिनमें आपसी टकराव व संघर्ष के कारण भारत दरिद्रता के ऐसे दौर में पहूँचा। उन्होंने अपने विचारों के माध्यम से भारतीय राजनीति व अर्थव्यवस्था को एक आधार प्रदान करने का प्रयास किया जो आगे चलकर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का हिस्सा बनी और कांग्रेस की प्रमुख नीतियों का आधार बनी। नौरोजी स्वयं तीन बार कांग्रेस के अध्यक्ष बने। इस तरह कांग्रेस को वैचारिक पृष्ठभूमि प्रदान करने मे नौरोजी का अतुल्य योगदान है और कांग्रेस के रूप उनके विचारों की झलक स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। ऐसा नहीं है कि नौरोजी जैसे विचारकों ने ब्रिटिश शासन के समक्ष समर्पण कर दिया परन्तु सच्चाई यह है कि उस समय की माँग व आवश्यकता थी। जिस राजनीतिक अनिश्चितता व बिखराव के दौर से भारत गुजरा, सामाजिक रूप से खण्डित भारत और ऐसी कुरीतियाँ समाज पर हावी हुई जिन्होंने समाज का वास्तविक चेहरा ही बदल डाला था। एक समय विश्व का नेतृत्व करने वाला भारत ऐसे दौर में पहुँच गया था जहाँ उसके पास सिवाय आडम्बरों, अनावश्यक बंधनों, जात–पात, ऊँच–नीच, महिला उत्पीड़न के अलावा कुछ नहीं था। उनसे ऊपर उठना व इनसे मुक्ति दिलाना भारत के अस्तित्व का प्रश्न था। ऐसे में नौरोजी ने ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया में भारत में सुधारों की आवश्यकता को न केवल महसूस किया, अपितु शुरू करने की पूरी मांग की और यहां तक कहा कि ब्रिटिश शासन की स्थापना किसी दैवीय वरदान से कम नहीं है। जो हमारे समाज में निहित बुराईयों को समाप्त करने के लिए लाया गया है, और हमें पाश्चात्य दर्शन व शिक्षा तथा अंग्रेजों के नेतृत्व कालाभ उठाकर इनसे मुक्ति पाने व भारत के गौरवशाली इतिहास की पहचान को प्राप्त करने की हर संभव कोशिश करनी चाहिए।

7.3 जीवन परिचयः–

- दादा भाई नौरोजी का जन्म 1825 ई. को गुजरात के नवसारी में हुआ।
- नौरोजी की शिक्षा पारसी समुदाय के सहयोग से हुई।
- एल्फिन्स्टल कॉलेज बम्बई में गणित के व्याख्यता नियुक्ति किये गये।
- 1853 में बम्बई एसोसिऐशन के साथ जुड़े।
- इसी बीच व्यवसाय करने के लिए इंग्लैण्ड चले गए।
- आर्थिक क्षेत्र में रूचि के कारण भारत की आर्थिक बदहाली पर विवेचना की।
- 1867 में लन्दन में ईस्ट इण्डिया एसोसिऐशन की स्थापना की।
- नौरोजी के वित्तिय जानकारी व अनुभव के आधार पर ब्रिटिश संसद की "फासेद वित्तिय प्रवर समिति" ने गवाही देने के लिए बुलाया।
- 1892–1895 के बीच ब्रिटिश संसद के सदस्य निर्वाचित हुए।
- 1901 में नौरोजी की प्रसिद्ध पुस्तक **"पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया"** लन्दर से प्रकाशित हुई।
- नौरोजी की पहचान **"दी ग्रेन्ड ओल्ड मेन ऑफ इण्डिया"** के रूप में हुई।
- नौरोजी तीन बार कांग्रेस के अध्यक्ष मनोनीत किये गए।

7.4 नौरोजी के राजनीतिक विचारः–

7.4.1 ब्रिटिश उदारवाद में गहरी आस्था

नौरोजी की ब्रिटिश उदारवादी में गहरी आस्था थी तथा अंग्रेज जाति की न्यायप्रियता में पूर्ण विश्वास था। वे ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था के लोकतांत्रिक मूल्यों, कानून का शासन, सीमित सरकार के सिद्धान्त तथा न्याय प्रणाली को भारत में स्थापित करने के पक्ष में थे। उनका विश्वास था कि भविष्य में ब्रिटेन में ऐसा राजनीतिक वातावरण बनेगा, जो भारतीयों के साथ न्याय

करेगा। उनका यह भी विश्वास था कि जैसे–जैसे भारतीयों में राजनीतिक जागरूकता आएगी तथा वे स्वशासन के योग्य बनेंगे, वैसे ब्रिटिश सरकार उनकी स्वशासन प्रदान करेगी।

7.4.2 ब्रिटिश शासन तथा पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक

ब्रिटिश शासन को भारत के लिए वरदान मानते थे। उनका मानना था कि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही भारत की राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक तथा आर्थिक सुधारों को प्राप्त कर सकता है। पाश्चात्य शिक्षा को वे भारत के लिए लाभदायक मानते थे। उनका मानना था कि इससे भारतीयों को सभी प्रकार के परम्परागत बन्धनों, अंधविश्वासों तथा अज्ञान के अन्धकार से मुक्ति मिलेगी। इसे वे स्वतन्त्रता, समानता और नेतृत्व के प्रजातांत्रिक मूल्यों क प्रचार–प्रसार में सहायक मानते थे। इसलिए उन्होंने अंग्रेजी के अधिकाधिक प्रचार–प्रसार का समर्थन किया।

7.4.3 सुदृढ़ राष्ट्रीय चरित्र और राष्ट्रीय एकता के समर्थक

किसी भी समाज या राष्ट्र की उन्नति इस बात पर निर्भर करती है कि वहां के लोगों का चरित्र कितना उच्च कोटि का है। यदि लोगों में राष्ट्र के प्रति त्याग, बलिदान, समर्पण, कठोर परिश्रम, ईमानदारी, कर्त्तव्यपरायणता, नैतिक, बौद्धिक व शारीरिक दृष्टि से बलशाली आदि गुण विद्यमान हैं तो सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण हो सकता है। नौरोजी ने इसके औचित्य को स्वीकार करते हुए इनकी आवश्यकता पर बल दिया ताकि भारत का नवयुवक अपनी सम्पूर्ण क्षमता व भावना से इस महान् यज्ञ में अपने जीवन की आहुति दे सकें।

7.4.4 ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही स्वशासन की मांग

नौरोजी ब्रिटिश शासन को भारतीयों के हित में ईश्वरीय वरदान मानते थे। उनका तर्क था कि भारतीय शाासन में जो दोष उत्पन्न हुए हैं, उन्हें ब्रिटिश शासन के माध्यम से दूर किया जा सकता है। नौरोजी का कहना था कि अभी भारतीय स्वशासन नहीं चला सकते क्योंकि उन्हें शासन चलाने का अनुभव नहीं हैं। अतः भारत का हित केवल इसी में है कि ब्रिटिश साम्राज्य की छत्र–छाया में स्वशासन की स्थापना की जावे। वे भारत में वैसी ही सरकार चाहते थे, जैसी कनाडा तथा अन्य औपनिवेशिक राज्यों में प्रचलित थी।

7.4.5 संवैधानिक साधनों में गहरी आस्था

राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति हेतु संवैधानिक साधनों एवं शांतिपूर्वक आन्दोलनों के पक्षधर थे। यद्यपि नौरोजी के इन साधनों का क्रांतिकारी एवं उग्रवादी विचारधारा के लोगों के द्वारा व्यापक विरोध किया गया लेकिन फिर भी नौरोजी अपने विचारों से पीछे नहीं हटे। उनका कहना था कि संवैधानिक साधनों के द्वारा ही ब्रिटिश जनता की सहानुभूति तथा सहयोग प्राप्त किया जा सकता है।

7.4.6 सत्ता के विकेन्द्रीकरण के समर्थक

नौरोजी का विचार था कि सत्ता का केन्द्रीकरण होने से निरंकुशता को प्रोत्साहन मिलता है। वे एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जिसमें प्रशासन की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण लगाया जा सके तथा उसे जनता के प्रति उत्तरदायी बनाया जा सके।

7.4.7 क्रमिक सुधारों के पक्षधर

नौरोजी राजनीति एवं प्रशासन के क्षेत्र में क्रमिक सुधारों के पक्षधर थे। वे भारत में ब्रिटिश शासन से राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में अनुभव प्राप्त करने के इच्छुक थे। वे भारत में सुधारों की योजना को तब अधूरा मानते थे जब तक कि भारतीय राजनीति व प्रशासन के क्षेत्र में परिपक्व न हो जा। नौरोजी ने समय–समय पर अंग्रेजों के सामने सुधारों की व्यापक योजना प्रस्तुत की। वे चाहते थे कि प्रशासन एवं

राजनीति में अधिक से अधिक भारतीयों की भागीदारी सुनिश्चित होनी चाहिए, जिससे भारतीयों को प्रशिक्षण प्राप्त हो सके। उन्होंने इस बात का भी विरोध किया कि प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर भारतीयों के स्थान पर अंग्रेजों को नियुक्त किया जा रहा है। उनका मत था कि अंग्रेज अधिकारी भारतीयों की समस्याओं और परिस्थितियों को नहीं जानते। नौरोजी की यह धारणा थी कि विधान परिषदों, सेना, स्थानीय स्वशासन, राजस्व प्रशासन तथा अन्य जनप्रतिनिधित्व की संस्थाओं में भरतीयों का प्रतिनिधित्व बढाया जाए। इस तरह जब राजनीतिक एवं प्रशासन के क्षेत्र में भारतीयों का प्रशिक्षण पूरा हो जाएगा तब अंग्रेज स्वतः ही शासन भारतीयों के लिए छोड़ देंगे।

7.5 दादा भाई नौरोजी के आर्थिक विचार

दादा भाई नौरोजी के चिन्तन का आर्थिक पक्ष अधिक महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से उन्हें भारत के आर्थिक राष्ट्रवाद का उन्नायक का श्रेय दिया जाता है। "पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया" में भारतीय अर्थव्यवस्था की वृहत विवचेना नौरोजी ने प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया कि भारत की दयनीय आर्थिक स्थिति के लिए जिम्मेदार कौन है और किस प्रकार भारतीय आर्थिक ढ़ाचे को सशक्त बनाया जा सकता है। उनके प्रमुख विचार इस प्रकार हैः–

7.5.1 निर्गम–सिद्धान्त –

इस सिद्धान्त के माध्यम से नौरोजी ने ब्रिटिश सरकार की उन नीतियों पर प्रहार किया जिनमें भारतीय संसाधनों का दोहन अंग्रेजो के द्वारा अपने हितों की पूर्ति के लिए किया जा रहा था। अंग्रेज अपने व्यापार व अल्प आर्थिक क्रियाकलापों के माध्यम से भारतीय धन सम्पदा को ब्रिटेन लेकर जा रहे थे, जिनका लाभ भारतीयों को मिलना तो दूर बल्कि भारतीय कुटीर उद्योगों पर बुरा प्रभाव पड़ रहा था। अंग्रेज भारत से धन कमाकर ब्रिटेन ले जा रहे है जबकि उस पर भारतीय का हक है अर्थात् नौरोजी ने इस सिद्धान्त के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भारतीय संसाधनों से प्राप्त धन या लाभ का प्रयोग केवल भारतीयों के

विकास व उन्नति के लिए खर्च किया जाए न कि ब्रिटेन भेजा जाए। यदि ऐसा हो रहा है तो भारत की आर्थिक स्थिति ओर कमजोर होगी।

7.5.2 दोषपूर्ण आर्थिक नीतियों पर प्रहार–

ब्रिटिश सरकार जहां भारत की बदहाल आर्थिक स्थिति के लिए बढ़ती हुई जनसंख्या को जिम्मेदार बता रहा थी, वहीं दादा भाई नौरोजी ने अंग्रेजों की उन दोषपूर्ण नीतियों को उत्तरदायी माना जिनके चलते ऐसे हालात पैदा हुए। नौरोजी का कहना था कि अंग्रेजों का एक मात्र उद्देश्य भारत में निहित संसाधनों का दोहन केवल अपने हितों की पूर्ति के लिए करना। जिससे भारत संपत्ति विहिन बन गया। भारत सरकार की व्यापार असन्तुलन की नीति के कारण आयात–निर्यात के कई गुणा अधिक किया गया। जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत ओर गरीब व ब्रिटेन और सम्पन्न बनता गया। इन्हीं दोषपूर्ण नीतियों के चलते भारतीय कुटीर व लघु उद्योग समाप्त हो गए क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटेन से आयातीत माल पर कर कम दिया और वह माल मशीनों से निर्मित होने के कारण सस्ता भी था ऐसे में भारतीय बाजारों से भारतीय निर्मित माल गायब सा हो गया। इस तरह ब्रिटिश निर्मित माल के प्रति संरक्षण की नीति ने भारत की अर्थव्यवस्था को धराशाही कर दिया।

7.5.3 यातायात के साधनों का विकास शोषण के रूप में–

कहने के लिए ब्रिटिश सरकार ने रेल व अन्य यातायात के साधनों का विकास भारत के विकास के लिए किया परन्तु नौरोजी का यह मानना था कि इन साधनों का प्रयोग ब्रिटिश सरकार ने शोषण के प्रमुख हथियार के रूप में प्रयोग किया। जिसके चलते ब्रिटिश माल को आसानी से भारत के कोने–कोने में पहुँचाया जा सकता था और भारत के आर्थिक संसाधनों का दोहन तीव्र गति से किया गया।

7.5.4 भारतीयों को व्यापार सुविधाएँ–

भारतीय व्यापार के प्रोत्साहन देने व आर्थिक क्षेत्र में सुधारों के लिए भारत में भारत के व्यापारियों को व्यापार करने की सुविधा दी जाए तथा उन्मुक्त व्यापार की व्यवस्था स्थापित की जाए ताकि भारतीय व्यापारी अंग्रेज व्यापारियों से प्रतिस्पर्द्धा कर सके तथा विदेशी पूंजी के बढ़ते हुए दबाव को समाप्त किया जा सके। इस तरह नौरोजी ने आर्थिक साम्राज्यवाद से लोहा लेने की बात कही। इस प्रकार नौरोजी ने जितना विरोध राजनीतिक साम्राज्यवाद के लिए नहीं किया उससे बहुत अधिक विरोध आर्थिक साम्राज्यवाद के लिए किया।

7.5.5 समाजवाद संबंधी दृष्टिकोण– दादा भाई नौरोजी ने न मार्क्सवाद का वरण किया और न ही वे शुद्ध समाजवादी चिन्तक थे। फिर भी निरन्तर समाज के प्रति उनकी आस्था बढ़ती गई। वे 1904 में एमस्टर्डम में होने वाले अन्तरराज्यीय समाजवादी कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लिया। उनका केवल एक ही उद्देश्य था कि भारत में वित्तीय समस्याओं का ठोस समाधान करना।

7.5.6 मुक्त व्यापार की स्थापना–

नौरोजी भारत में मुक्त व्यापार की स्थापना करना चाहते थे, जिसे अंग्रेजी शासन की सहायता से ही कार्य रूप में परिणित किया जा सकता है, विरोध करके नहीं। इस कार्य के लिए स्वदेशी का प्रचार प्रारम्भ किया। उनका मानना था कि स्वदेशी वह माध्यम है जिससे भारत को पिछड़ेपन से मुक्ति मिल सकती है। इस तरह नौरोजी ने स्वदेश को स्वराज से जोड़ा।

7.6 सारांशः–

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि दादाभाई नौरोजी भारतीय उदारवादी विचारधारा के प्रमुख स्तम्भ थे जिनकी बदौलत भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन व नव जागरण को गति मिली तथा स्वराज्य का मार्ग प्रशस्त हुआ।

7.7 अभ्यास प्रश्नावलीः–

1. नौरोजी के प्रमुख राजनीतिक विचार बताओ।
2. नौरोजी के आर्थिक विचारों की व्याख्या करते हुए प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।

अध्याय-8
महादेव गोविन्द रानाडे

संरचना

8.1 उद्देश्य

8.2 प्रस्तावना

8.3 रानाडे के राजनीतिक विचार

8.3.1 ब्रिटिश शासन राजनीति शिक्षण के लिए उपयोगी

8.3.2 अंग्रेजी शासन दैवीय वरदान

8.3.3 उचित प्रतिनिधित्व पर बल

8.3.4 समष्टिवादी विचारक के रूप में

8.3.5 राज्य के हस्तक्षेप को उचित ठहराना

8.3.6 आंशिक रूप से राज्य की आंगिक एकता का समर्थन

8.3.7 आदर्शवादी व व्यक्तिवादी विचारों का मिश्रण

8.3.8 राज्य की लोककल्याणकारी स्वरूप

8.3.9 भारतीय जनमानस के राजनीति प्रशिक्षण पर बल

8.3.10 लोकतांत्रिक मूल्यों में आस्था

8.3.11 उदारवादी विचारधारा के पक्षधर

8.3.12 नैतिक गुणों के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थहीन

8.3.13 राष्ट्रवादी दृष्टिकोण

8.3.14 पाश्चात्य दर्शन पर आधारित

8.4 रानाडे के सामाजिक विचार

8.4.1 मानवीय गरिमा पर बल

8.4.2 राजनीतिक व आर्थिक स्थिति को साथ जोड़ना

8.4.3 सामाजिक सुधारों में राज्य का हस्तक्षेप

8.4.4 शिक्षा से सुधार संभव

8.4.5 सामाजिक कुरीतियों का विरोध

8.4.6 वैदिक सभ्यता का पुनः प्राप्ति

8.4.7 विवाह की आयु का निर्धारण

8.4.8 विवाह व्यवस्था में सुधारों पर बल

8.4.9 सामाजिक परिवर्तन के लिए क्रांतिकारी कदमों की आवश्यकता नहीं

8.4.10 सामाजिक सुधारों की पद्धतियाँ

8.5 रानाडे के धार्मिक विचार

8.5.1 अंधविश्वास का विरोध

8.5.2 साम्प्रदायिक सौहार्द पर बल

8.5.3 तर्क व वैज्ञानिक दृष्टिकोण

8.5.4 धर्म व दर्शन में रूचि

8.5.5 नास्तिकवाद की आलोचना

8.5.6 हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता

8.5.7 ईश्वरीय दृष्टिकोण

8.6 सारांश

8.7 अभ्यास प्रश्नावली

8.1 उद्देश्य

इस अध्याय का प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार है–

- रानाडे के उदारवादी दर्शन को जानना
- रानाडे के राष्ट्रवाद को किस प्रकार सांस्कृतिक व मानवीय राष्ट्रवाद से जोड़ा
- नव जागरण में रानाडे का योगदान
- भारत की तत्कालीन परिस्थितियों मं राजनीतिक चिन्तन का प्रतिपादन व उसका विरोध
- सामाजिक सुधारों की दिशा में पहल करना

8.2 प्रस्तावना

महादेव गोविन्द रानाडे को एक प्रमुख उदारवादी विचारक के रूप में माना जाता है। रानाडे की गणना गोपाल कृष्ण गोखले, दादाभाई नौरोजी जैसे चिन्तकों के साथ की जाती है। उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए जो विचार प्रस्तुत किये वे काफी महत्वपूर्ण है। जब भारत में राजनीतिक अंधकार व्याप्त था। सामाजिक स्तर पर समाज की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। ऐसे में रानाडे के द्वारा नव जागरण का संदेश अति महत्वपूर्ण है।

8.3 रानाडे के राजनीतिक विचार

अन्य उदारवादियों की भांति रानाडे ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना को भारत के लिए वरदान मानते थे। उनके प्रमुख राजनीतिक विचार इस प्रकार है–

8.3.1 ब्रिटिश शासन राजनीतिक शिक्षण के लिए उपयोगी–

रानाडे का मानना था कि भारत में अंग्रेजी शासन भारतीयों को नागरिक एवं सार्वजनिक गतिविधियों का राजनीतिक शिक्षण देने की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हुआ। इससे भारतीयों को आधुनिक शासन पद्धति, लोकतंत्र, लोकतंत्र के आयामों, न्याय, स्वतंत्रता, समानता, प्रतिनिधित्व, उदारवाद जैसे विचारों को जानने का अवसर मिला है। जिसके परिणामस्वरूप भारत में अब तक सदियों से चली आ रही राजनीतिक अराजकता से मुक्ति मिलेगी और एक उच्च लोकतांत्रिक मूल्यों पर आधारित शासन की स्थापना होगी।

8.3.2 अंग्रेजी शासन दैवीय वरदान–

रानाडे ने भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन के 1900 के लखनऊ अधिवेशन उद्घाटन भाषण में यह व्यक्त किया कि भारत पर विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा शासन विधाता की योजना का एक अंग है। रानाडे के अनुसार जितने भी आक्रमणकारी भारत आये, उन्होंने भारत को एकता के सूत्र में पिरोने का काम किया। इससे हमें हमारी कमजोरियों का अहसास हुआ तथा दूर करने का अवसर मिला।

8.3.3 उचित प्रतिनिधित्व पर बल–

रानाडे यह चाहते थे कि ब्रिटिश संसद में भारतीयों को उचित प्रतिनिधित्व मिले। जिससे भारतीयों को संसदीय व्यवस्था, विधि निर्माण के कार्य, काराधान इत्यादि के संबंध में ज्ञान मिलेगा। अपनी इसी मांग को मनवाने के लिए पुना सभा के माध्यम से एक प्रस्ताव बनाकर ब्रिटिश संसद को भेजा।

8.3.4 समष्टिवादी विचारक के रूप में–

रानाडे स्वतन्त्रता को अति व्यापक अर्थ में देखते थे। उनके अनुसार स्वतन्त्रता कस अर्थ था, प्रतिनिधियों का पूर्ण नियन्त्रण। इस तरह वे व्यक्तिवादी न होकर समष्टिवादी दिखाई देते है।

8.3.5 राज्य के हस्तक्षेप को उचित ठहराना–

माननीय स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत अधिकारों का समर्थन करते हुए भी महादेव गोविन्द रानाडे ने राज्य के हस्तक्षेप को कई दृष्टियों में उचित ठहराया। वे स्वतन्त्रता एवं राज्य के सामाजिक पक्ष को अधिक महत्व देते थे।

8.3.6 आंशिक रूप से राज्य की आंगिक एकता का समर्थन–

रानाडे ने राज्य की प्रकृति तथा उसके कार्यो का अध्ययन किया। इस संबंध में उनका विचार था कि राज्य अपनी सामूहिक क्षमता के अन्तर्गत अपने श्रेष्ठ नागरिकों की शक्ति, विवेक, दया तथा परोपकारिता का परिचायक है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रानाडे आंशिक रूप से राज्य की आंगिक एकता का समर्थक थे।

8.3.7 आदर्शवाद व व्यक्तिवाद विचारों का मिश्रण–

रानाडे राज्य की धारणा को जर्मन आदर्शवाद के विचारकों के समान अपने समय के उच्च एवं निरपेक्ष विवेक के परिचायक मानते थे किन्तु रानाडे जर्मन आदर्शवावद के सम्पूर्ण सिद्धान्त में निष्ठा नहीं रखते थे। वे आदर्शवाद के विपरीत व्यक्तिवाद में अधिक निष्ठा रखने वाले विचारक थे। राज्य की महत्ता को स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा कि राज्य एक साधन व व्यक्ति एक साध्य है।

अपने व्यक्तिवादी विचारों में रानाडे ने व्यक्ति को समष्टि रूप में देखा था न कि एक आणविक इकाई के रूप में मानते है। वे टी.एच. ग्रीन के भांति राज्य को व्यक्ति जीवन और अधिक सुखी सम्पन्न तथा महान बनाने के लिए उपयोगी मानते थे।

8.3.8 राज्य का लोककल्याणकारी स्वरूप–

रानाडे के विचारों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे लोककल्याणकारी राज्य का स्वरूप स्वीकार करते है। वे व्यक्ति के आर्थिक व नैतिक क्रियाकलापों में राज्य की महत्ती भूमिका मानते है।

8.3.9 भारतीय जनमानस के राजनीतिक प्रशिक्षण पर बल–

राजनीतिक विचारों की दृष्टि से रानाडे भारतीय जनमानस के राजनीतिक प्रशिक्षण को अधिक महत्व दिया। जनजागरण के माध्यक से ही संवैधानिक आंदोलन का कार्य अधिक प्रभावी हो सकता था। जेम्स केलोक के अनुसार 19वीं शताब्दी के अन्त में होने वाले समस्त राजनीतिक आन्दोलनों को रानाडे के प्रोत्साहित एवं नियंत्रित करने वाले मस्तिष्क ने प्रेरणादायी शक्ति प्रदान की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक सदस्य होने के कारण रानाडे ने भारत के भावी भविष्य का सुखद चित्र प्रस्तुत किया। कांग्रेस के संस्थापक ए.ओ. ह्यम ने भी रानाडे को अपने राजनीतिक गुरू के रूप में स्वीकार किया।

8.3.10 लोकतांत्रिक मूल्यों में आस्था–

रानाडे ने प्रशासन व सरकार के संगठन को सीमित रूप में स्वीकार करते हुए लोकतांत्रिक व्यवस्था का समर्थन किया। वे शक्तियों के विकेन्द्रीकरण के प्रबल समर्थक थे। स्थानीय स्वशासन को विकसित करने पर उनका विशेष बल था। वे स्थानीय स्वशासन की संस्थओं में सरकार के हस्तक्षेप को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं करना चाहते थे। वे चाहते थे कि केन्द्र सरकार को स्थानीय निकायों को धन व अन्य वित्तिय सुविधाएं उपलब्ध करवानी चाहिए। जिससे स्थानीय लोगों को शासन चलने का प्रशिक्षण मिलेगा तथा विकास भी समुचित ढंग से हो सकेगा। वे व्यस्क मताधिकार के माध्यम से निकाय चुनाव करवाना चाहते थे।

8.3.11 उदारवादी विचारधारा के पक्षधर–

रानाडे की पहचान एक उदारवादी विचारक के रूप में इसलिए होती है कि उन्होंने सामाजिक एवं धार्मिक प्रश्नों पर उनके उदार विचारों ने राजनीतिक दृष्टि से पूर्ण उदारवादी विचारक बनाए रखा। उनके उदारवादी विचारों ने उन्हें मानवीय गरिमा को बनाए रखने वाले विचारों व कार्यो से दूर होने नहीं दिया।

8.3.12 नैतिक गुणों के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थहीन–

रानाडे का मत था कि राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए नैतिक दृढ़ता आवश्यक है। राष्ट्र की शक्ति नैतिक गुणों पर आधारित है। यहां तक कि नैतिक गुणों के पूर्ण विकास के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थहीन है। समाज में लोकतांत्रिक विचारों के प्रचार हेतु उन सामाजिक नियमों में बदलाव करना जरूरी है जो मार्ग में बाधा उत्पन्न करते है। सामाजिक समानता के बिना राजनीतिक समानता नहीं लायी जा सकती। रानाडे ने इसके लिए शिवाजी के शासन का समर्थन करते हुए लिखा है कि उनका शासन नैतिक नियमों पर आधारित था। इस तरह रानाडे यह मानते थे कि लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना लोकतांत्रिक समाज में की जा सकती है।

8.3.13 राष्ट्रवादी दृष्टिकोण–

रानाडे का यह विचार था कि भारत में अंग्रेजो ने सत्ता मुगलों से नही अपितु मराठों से हासिल की। उनका मानना था कि मराठों की कमजोरियों व सैन्य कमियों का फायदा उठाकर अंग्रेजों ने सत्ता प्राप्त की। अतः उन्होंने मराठों में राजनीतिक चेतना लाने पर बल दिया। रानाडे की राष्ट्रवादी विचारों से अनुप्रेरित थी। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की दोषपूर्ण नीतियों की आलोचना भी की। इसीलिए उनके द्वारा बलवन्त फडके के आन्दोलन का समर्थन किया गया।

8.3.14 पाश्चात्य दर्शन पर आधारित–

रानाडे का राजनीतिक चिन्तन पाश्चात्य दर्शन पर आधारित था। परिचय में प्रचलित सामाजिक विज्ञानों के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक पद्धतियों का वे अनुसरण कर रहे थे। वे कान्ट के दर्शन से अत्यधिक प्रभावित थे और उसी पर उनका धर्म अन्तःकरण एवं स्वतन्त्रता संबंधी दृष्टिकोण आधारित रहा। वे पश्चिम के आदर्शवाद से प्रभावित थे। वे जर्मन आदर्शवादी फिक्ट तथा होगले से भिन्न इंग्लैण्ड के आदर्शवादी टी.एच. ग्रीन से अधिक प्रभावित थे। इस प्रकार रानाडे का आध्यात्मकवाद जो कि उनके राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक विचारों की पृष्ठभूमि रहा पाश्चात्य प्रभाव से विकसित हुआ।

इस प्रकार रानाडे ने नवीन राष्ट्रवादी दृष्टिकोण प्रदान किया। वे संकीर्ण हिन्दू–राष्ट्रवाद के विचार नहीं थे बल्कि सुधारवादी तथा वैचारिक प्रगति के अग्रदूत थे।

8.4 रानाडे के सामाजिक विचार

महादेव गोविन्द रानाडे ने सामाजिक क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित किये। उन्होंने सामाजिक सुधार हेतु पाश्चात्य शिक्षा के विचार पर बल दिया। वे सामाजिक मान्यताओं के आधार पर समाज सुधार के कार्य करना चाहते थे। समाज सुधार के क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप को वे तब तक स्वीकार नहीं करते थे जब तक ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न नहीं जाएं कि राज्य के हस्ताक्षेप के बिना कोई चारा ही नहीं रहे। सामाजिक परिवर्तन के लिए वे क्रांतिकारी उपयों का समर्थन नहीं करते। रानाडे के प्रमुख सामाजिक विचार इस प्रकार है–

8.4.1 मानवीय गरिमा पर बल– समाज सुधार की दृष्टि से रानाडे ने स्वतन्त्रता, विवेकपूर्ण व्यवहार, संगठित प्रयास, सहिष्णुता व मानवीय गरिमा को प्रमुख निर्धारक के रूप में माना।

8.4.2 राजनीतिक व आर्थिक स्थिति को साथ जोड़ना–

रानाडे के अनुसार एक उच्च सामाजिक व्यवस्था ही राजनीति तथा आर्थिक उन्नति का साधन थी। इसलिए वे समाज सुधार के प्रश्न को धार्मिक सहिष्णुता तथा राजनीतिक एवं आर्थिक उन्नति के साथ जोड़ते थे।

8.4.3 सामाजिक सुधार में राज्य का हस्तक्षेप उचित–

भारतीय समाज में व्याप्त अंधविश्वासी, कुरीतियों तथा पुरातनपंथी विचारों का उन्नमूलन के लिए वे राज्य के हस्तक्षेप का समर्थन करते थे। जिसके संबंध में उनका मानना था कि राज्य के हस्तक्षेप के बिना भारतीय समाज इनसे मुक्त नहीं हो सकता। यद्यपि रानाडे के इस विचार का तिलक सहित कई तत्कालीन विचारकों ने विरोध किया। रानाडे सामाजिक सुधारों की दृष्टि से शासकीय नियमन इस कारण उचित मानते थे कि इससे निष्क्रिय सुधारात्मक पक्ष और सक्रिय हो उठता है।

8.4.4 शिक्षा से ही सुधार संभव–

रानाडे मानते थे कि शिक्षा के विस्तार एवं जनसाधारण की प्रबुद्धता के कारण सुधारों का मार्ग और प्रशस्त होगा किन्तु केवल इतना मात्र मानकर मौन नहीं रहना चाहिए। इस स्थिति को उपयोगी बनाने के लिए बंधनों को तोड़ना होगा और सोच का दायरा व्यापक बनाना होगा।

8.4.5 सामाजिक कुरीतियों का पुरजोर विरोध–

उस समय भारतीय समाज में अनेक प्रकार की कुरीतियां व्याप्त थी जैसे सत्ती प्रथा, बालिका वध, बेमेल विवाह, विधवा विवाह पर रोक, महिलाओं के प्रति असमानता, बाल विवाह इत्यादि जिनका बुरा प्रभाव समाज की व्यवस्थाओं पर पड़ रहा था। महिलाओं को समाज में दुसरा दर्जा पूरी तरह निन्दनीय व कायरतापूर्ण है जो

मानवीय गरिमा के विरूद्ध तो है ही साथ में समाज को पतन की ओर ले जाने वाला है। रानाडे यह मानते थे कि समाज के ठेकेदार आतंक एवं दमन के द्वारा शोषितों की आवाज दबाना चाहते है। अतः राज्य को चाहिए कि वह अपने स्तर पर शोषित वर्गों का संरक्षण करें व उन्हें सुविधाएं उपलब्ध करवाये।

8.4.6 वैदिक सभ्यता की पुन प्राप्ति– रानाडे यह मानते थे कि सुधारों की मांग का अर्थ यह नहीं है कि हम अंग्रेजो या पाश्चात्य व्यवस्था की नकल करना चाहते है अपितु मूल उद्देश्य अपनी पुरानी स्थिति को पुनः प्राप्त करना है अर्थात् वैदिक आर्य सभ्यता के स्वस्थ मापदण्डों को पुन प्राप्त करना है।

8.4.7 विवाह की आयु का निर्धारण–

महादेव गोविन्द रानाडे ने विवाह के लिए लड़की की आयु 12 वर्ष तथा लड़के की आयु 21 वर्ष निर्धारित करने की बात कहीं। इससे कम आयु में किये गए विवाह मान्य नहीं होने चाहिए।

8.4.8 विवाह व्यवस्था में सुधारों पर बल–

विवाह की आयु निर्धारण के पश्चात् विवाह व्यवस्थाओं के उस समय ओर कई प्रकार की विकृतियां व्याप्त थी उनमें सुधार करने की आवश्यकता पर बल दिया। विवाह के बाद पति–पत्नि के शारीरिक संबंधों के स्थापित होने के पश्चात् ही विवाह को पूर्ण व अंतिम माना जाए। गौत्र, पिंड तथा सूतक का निर्णय भी विवाह के पूर्ण होने पर किया जाए। इससे बाल विधवाओं के संकट का समाधान होगा। 50 वर्ष से अधिक के विधुर तथा 14 वर्ष के कम उम्र की कन्या का विवाह पूर्णतया प्रतिबंधित होना चाहिए।

8.4.9 सामाजिक परिवर्तन के लिए क्रांतिकारी कदमों की आवश्यकता नहीं–रानाडे सामाजिक परिवर्तन के लिए क्रांतिकारी या आमूल चूल बदलावों को आवश्यक नहीं मानते थे। उनका मानना था कि सामाजिक परिवर्तन निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है जो स्वाभाविक रूप से लम्बा समय लेगी।

8.4.10 सामाजिक सुधारों की पद्धतियां–

रानाडे ने सामाजिक सुधार हेतु चार प्रकार की पद्धतियां बतायी है–

1. सुधारों की परम्पराओं पर आधारित किया गया
2. शास्त्रार्थ पद्धति
3. दण्डार्थ पद्धति
4. संबंध विच्छेद पद्धति

8.5 रानाडे के धार्मिक विचार

रानाडे के धार्मिक विचार उनके सामाजिक व राजनीतिक विचारों से जुड़े हुए है। उनका सामाजिक दर्शन उसी प्रकार धर्म से संयुक्त है जिस प्रकार से उनका राजनीतिक दर्शन। रानाडे के धार्मिक विचारों को जाने बिना सामाजिक व राजनीतिक विचार अधूरे है। उनके प्रमुख धार्मिक विचार इस प्रकार है–

8.5.1 अंधविश्वासों का विरोध– धर्म के नाम पर अन्याय ही अनेक प्रकार के अंधविश्वास फैला दिये गये थे। स्वयंभु धर्म के रक्षक इन अंधविश्वासों का प्रयोग अपने स्वार्थो की पूर्ति तथा आम लोगों के शोषण के रूप में कर रहे थे। अंधविश्वास के कारण लोगों की धार्मिक भावना आहत हो रही थी तथा लोगों में आडम्बर हावी हो रहा था। रानाडे ने प्रार्थना सभा के सदस्य बने तथा निराकार ब्रह्म की शिक्षा को जीवन पर्यन्त पालन किया। उनके धार्मिक विचारों पर महाराष्ट्र के संतो जैसे एकनाथ, तुकाराम आदि का विशेष प्रभाव पड़ा। वे अपनी दैनिक गतिविधियों में केवल भजन को ही ईश्वर–उपासना के रूप में मानते थे। उनकी इसी धार्मिक प्रवृति ने जातिवादी व धार्मिक संकीर्णता की सोच से अलग रखा।

8.5.2 साम्प्रदायिक सौहार्द पर बल–

रानाडे ने जब धार्मिक संकीर्णता से ऊपर उठकर व्यापक सोच रखने की बात कही उसी से यह सिद्ध हो गया क धार्मिक सौहार्द उनके विचारों का प्रमुख आयाम है। इसके लिए उन्होंने सभी अल्पसंख्यकों के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाने पर बल दिया। उनमें यह विचार पाश्चात्य दर्शन के प्रभाव स्वरूप आया।

8.5.3 तर्क व वैज्ञानिक दृष्टिकोण–

रानाडे का मानना था कि धार्मिक क्षेत्र में सुधार हेतु पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार–प्रसार व वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए। हमें किसी भी व्यवस्था या तथ्य को आँख मूंद कर नहीं माननी चाहिए अपितु वैज्ञानिक दृष्टिकोण व तर्क की कसौटी के आधार पर मानना चाहिए। इस प्रकार विवेक को अधिक महत्व देते थे। गोखले उनके इस धार्मिक विचार से काफी प्रभावित हुए।

8.5.4 धर्म व दर्शन में रूचि–

रानाडे ने धर्म व दर्शन में रूचि रखते हुए प्रार्थना सभा के तीन सिद्धान्तों को स्वीकार किया जो उसे सनातन हिन्दू धर्म से भिन्नता प्रदान करते है–

1. ईश्वर एक है तथा निराकार है।
2. मूर्ति पूजा अनुचित है। अतः समाप्त की जाए।
3. ईश्वर की उपासना, ध्यान, प्रार्थना व सत्कार्यों के माध्यम से हो।

8.5.5 नास्तिकवाद की आलोचना–

रानाडे ने नास्तिकवादी विचारधारा की आलोचना की और धार्मिक भावना को पूरा समर्थन किया। उनके अनुसार हिन्दूओं के लिए धर्म प्राणों से बढ़कर है। उन्होंने धार्मिक शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा का सुझाव दिया।

8.5.6 हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता ही भारतीयों की प्रत्येक क्षेत्र में श्रेष्ठता का कारण है– रानाडे के अनुसार धर्म हमें संसार के सुखों का उपभोग करना नहीं सिखाता है अपितु हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता ही भारतीयों की प्रत्येक क्षेत्र में श्रेष्ठता का कारण है।

8.5.7 ईश्वरीय दृष्टिकोण–

रानाडे ईश्वरवादी थे। वे मानते थे कि ईश्वर द्वारा प्रकृति का निर्माण एवं नियमन किया जाता है। साथ–साथ उनका यह मत था कि ईश्वर के नियन्त्रण के बाहर मनुष्य का एक ऐसा पक्ष है, जिसमें वह अपने कार्यों के लिए स्वयं नैतिक रूप से जिम्मेदार होता है। इस ईश्वरवादी दृष्टिकोण का आधार निष्ठा या विश्वास है। विवेक भी ईश्वर के ज्ञान जागृत करना है। इस प्रकार रानाडे विवेक व निष्ठा दोनों को समान महत्व देते है।

8.6 सारांश

इस प्रकार आधुनिक भारतीय सामाजिक व राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में महादेव गोविन्द रानाडे का महत्वपूर्ण स्थान है। उनके विचारों में व्यवहार, तर्क व वैज्ञानिक दृष्टिकोण की झलक मिलते है। उन्हें "सार्वजनिक जीवन का पिता" कहा जाता है। पवित्र जीवन व उदारवाद उनके जीवन के प्रमुख आधार थी। वे शांति व आत्मानुशासन के प्रतीक थे। राजनीतिक चेतना के लिए शिक्षण को माध्यम मानना उनकी मुख्य देन है। उनका राष्ट्रवाद केवल स्वतंत्रता की मांग तक ही सीमित नहीं था अपितु सांस्कृतिक व माननीय राष्ट्रवाद तक था। उन्हें भारत के गौरव व प्राचीन भारत पर गर्व था।

8.7 अभ्यास प्रश्नावली

1. रानाडे के राजनीतिक विचारों का उल्लेख कीजिए।
2. "मानवीय गरिमा समाज का आधार है" इस कथन को सिद्ध करते हुए रानाडे के सामाजिक विचारों का उल्लेख कीजिए।
3. रानाडे के धार्मिक विचारों का विश्लेषण कीजिए।

अध्याय-9

बालगंगाधर तिलक

संरचना

8.1 उद्देश्य

8.2 प्रस्तावना

8.3 जीवन परिचय

8.4 तिलक के जीवन का महत्वपूर्ण घटनाएँ एवं उपलब्धियाँ

8.5 तिलक की रचनाएँ

8.6 तिलक के राजनीतिक विचार

8.6.1 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर तिलक के विचार

8.6.2 राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का समर्थन

8.6.3 राष्ट्रवाद की अवधारणा

8.6.4 उपयोगितावाद का खण्डन

8.6.5 स्वशासन की धारणा

8.6.6 स्वराज्य प्राप्ति के साधन

8.6.6.1 स्वदेशी

8.6.6.2 बहिष्कार

8.6.6.3 राष्ट्रीय शिक्षा

8.6.6.4 निष्क्रिय प्रतिरोध

8.7 लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का योगदान

8.7.1 भारतीय गौरव में विश्वास

8.7.2 एक आदर्श प्रेरक

8.7.3 राष्ट्रवाद व स्वराज्य के उन्नायक

8.7.4 राष्ट्रीय एकता एवं धार्मिक सहिष्णुता का समन्वय

8.7.5 एक महान प्रयोगकर्त्ता के रूप

8.7.6 सशक्त एवं निर्भीक पत्रकार के रूप में

8.7.7 लोक नीति के प्रणेता

8.7.8 कांग्रेस की व्यापक जनाधार प्रदान किया

8.7.9 लोकतांत्रिक आदर्शों के पुजारी

8.7.10 आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के जनक

8.8 सारांश

8.9 अभ्यास प्रश्नावली

9.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य बालगंगाधर तिलक के राजनीतिक विचार तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन में उनके द्वारा दिये गये योगदान को जानना हैं कि उन्होंने अपनी विचारधारा तथा साधनों के माध्यम से राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास को दिशा दी। उनके विचारों में जनमानस को अत्यन्त प्रभावित किया। इस अध्याय के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे–

- तिलक के स्वतन्त्रता संबंधी विचार,
- तिलक द्वारा प्रस्तुत स्वराज्य प्राप्ति के साधन,
- तिलक द्वारा राष्ट्रवाद की भावना के विकास के लिए भारतीय संस्कृति की विरासत तथा महापुरूषों का सहारा लेना, जो प्रयास किये वे भी जान सकेंगे,
- तिलक ने राजनीतिक चेतना के विकास के लिए समाचार–पत्रों को जो माध्यम बनाया, उसे भी जान सकेंगे।

9.2 प्रस्तावना

बाल गंगाधर तिलक को एक उग्र आदर्शवादी विचारक के रूप में पहचाना जाता हैं। उन्होंने राष्ट्रीय स्वाधीनता, राष्ट्रीय स्वाभिमान, राष्ट्रीय गौरव तथा स्वराज्य की स्थापना के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन न्यौछावर कर दिया। तिलक का प्रमुख नारा– **"स्वशासन मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा।"** ने अधिकांश भारतीयों को प्रभावित किया। तिलक वे पहले नेता थे, जिन्होंने राजनीतिक आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के लिए धार्मिक परिवेश का प्रयोग किया। उनकी पहचान कांग्रेस के उग्रवादी नेता, कर्मठ और साहसी सेनानी के रूप में की जाती थी। वे जीवन के प्रत्येक पहलू पर खरे उतरे। उन्होंने आदर्श एवं यथार्थ दोनों का निर्वाह किया। स्वतन्त्रता, राष्ट्रवाद, स्वदेशी, स्वराज्य की प्राप्ति के लिए ब्रिटिश सरकार का हर तरीके से विरोध किया। **डॉ. आर.सी. मजूमदार लिखते हैं कि,– "अपने देश प्रेम तथा अथक् प्रयत्नों के परिणामस्वरूप बाल गंगाधर बिलक "लोकमान्य" कहलाए जाने लगे और उनको एक देवता के समान पूजा जाने लगो। वे जहां भी जाते थे, उन्हें राजकीय सम्मान तथा स्वागत प्राप्त होता था।" श्रीमती एनीबीसेन्ट** ने तिलक के योगदान को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि– **"इतिहास उन्हें एक ऐसे व्यक्ति के रूप में याद करेगा, जिन्होंने भारत को आजादी दिलाई।"**

9.3 जीवन परिचय

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक (1856–1920) का जन्म 23 जुलाई, 1856 ई. को महाराष्ट्र के रत्नागिरी नामक स्थान पर हुआ था। बाल्यावस्था से ही तिलक बड़े मेधावी और प्रखर बुद्धि के थे। 1879 में उन्होंने एल. एल.बी. की परीक्षा उत्तीर्ण की। कॉलेज काल से ही उनकी रूचि सार्वजनिक विषयों की ओर बढ़ती गई।

एक शिक्षाशास्त्री के रूप में उन्होंने पूना न्यू इंग्लिश स्कूल, दक्षिण शिक्षा समाज तथा फर्ग्युसन कॉलेज के व्यवस्थापक के रूप में ख्याति अर्जित की। अपने अथक् प्रयासों से महाराष्ट्र में शिक्षा क्रांति की अलख जगाई। 1889 में कांग्रेस में अपने प्रवेश के बाद से ही एक राजनीतिक नेता के रूप में कांग्रेस के कार्य–कलापों में तिलक ने उल्लेखनीय भूमिका का निर्वह किया। उदारवादियों की नीतियों से असन्तुष्ट तिलक ने अपनी शक्ति महाराष्ट्र में राष्ट्रीय आन्दोलन को सुसंगठित करने में लगाई। अपने "केसरी" तथा "मराठा" नामक दो पत्र तथा शिवाजी और गणपति उत्सवों द्वारा उन्होंने जनता म देश भक्ति की भावना फूंक दी तथा उनमें अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रवृत्ति उत्पन्न की। 1897 में वे बम्बई विधान परिषद के सदस्य चुने गये, जहाँ उन्होंने बड़ी निडरता के साथ सरकारी रवैये की आलोचना की। महाराष्ट्र में अकाल तथा पूना में प्लेग के समय सरकार के उपेक्षित रवैये से क्षुब्ध होकर कुछ युवकों ने पूना के प्लेग कमिश्नर रेड की हत्या कर दी थी। इसके आरोप में तिलक को गिरफ्तार कर लिया गया और 18 माह की कठोर सजा दी गई।

1905 ई. के बंगभंग के बाद तिलक का राजनीतिक क्षेत्र सम्पूर्ण भारत हो गया। केसरी के माध्यम से उन्होंने स्वदेशी, बहिष्कार और स्वराज्य का सन्देश का जन–जन तक फैलाया। बाल–पाल और लाल के उग्र विचारों के कारण 1907 के सूरत अधिवेशन में कांग्रेस में फूट पड़ जाती है और कांग्रेस नरम और गरम दल के रूप में विभाजित हो जाती है। लेकिन ऐनीबीसेन्ट के प्रयासों से 1915 में पुनः इन दोनों गुटों में एकता स्थापित हो जाती है। 1908 ई. में तिलक पर राजद्रोह का आरोप लगाकर 6 वर्ष की कठोर सजा दी गई।

1914 में कारावास से मुक्त होने पर तिलक पुनः राष्ट्रीय संगठन के कार्य मेंल गगए। 1916–1920 तक उन्होंने होमरूल लीग का प्रचार करके कांग्रेस के कार्यों को और देशस की स्वाधीनता को आगे बढ़ाया। 1918 ई. में वे कांग्रेस क अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 21 जुलाई, 1920 को बम्बई में आकस्मिक बीमारी से स्वाधीनता संग्राम के इस महान् योद्धा का स्वर्गवास हो गया।

9.4 तिलक के जीवन की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ

तिलक के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएं एवं उपलब्धियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

- जन्म 12 जुलाई, 1859 ई. को महाराष्ट्र के रत्नागिरी नामक स्थान पर हुआ।
- सन् 1866 ई. में पूना के एंगलों वर्नाक्यूलर स्कूल में भर्ती करवाया।
- 1871 ई. में पन्द्रह वर्ष की आयु में तापी बाई से विवाह हुआ।
- 1873 ई. को डेकन कॉलेज में प्रवेश।
- 1876 ई. को बी.ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की।
- 1879 ई. को एल.एल.बी. की परीक्षा उत्तीर्ण की।
- 1880 ई. पूना न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना।
- 1881 ई. पत्रकारिता का प्रारम्भ किया।
- 1884 ई. को डेकन एजुकेशन सोसाइटी की स्थापना।
- 1885 ई. को फर्ग्यूसन कॉलेज की स्थापना।
- 1889 ई. कांग्रेस के लिए प्रतिनिधि चुने गए।
- 1893 ई. गणपति उत्सव प्रारम्भ।
- 1893 ई. ऑरायन का प्रकाशन।
- 1895 ई. शिवाजी उत्सव प्रारम्भ।
- 1895 ई. बम्बई विधान परिषद् के सदस्य निर्वाचित।
- 1897 ई. को राजद्रोह के आरोप में 18 माह कठोर सजा।
- 1903 ई. में द आर्कटिक होम इन द वेदाज प्रकाशित।
- 1905 ई. बंग–भंग के विरोध में स्वदेशी व बहिष्कार का आन्दोलन और "नेशनल पार्टी" की स्थापना।
- 1907 ई. में कांग्रेस का सूरत अधिवेशन, कांग्रेस गरम दल तथा नरम द लमें विभाजित।
- 22 जुलाई, 1908 ई. को 6 वर्ष के लिए काले पानी की सजा।
- 1915 ई. में "गीता रहस्य" प्रकाशित।
- 1916 ई. में होमरूल लीग की स्थापना।
- 1916 ई. में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में भाग लिया।
- 1918 ई. को शिरोल केस के संबंध में ब्रिटेन गए।
- 1920 ई. "कांग्रेस प्रजातांत्रिक दल" की स्थापना।
- 21 जुलाई, 1920 ई. को देहान्त बम्बई में।

9.5 तिलक की रचनाएँ

द ऑरायन (1893), द आर्कटिक होम इन द वेदाज (1903), गीता रहस्य (1915), वैदिक क्रोनोलोजी एण्ड वेदांग ज्योतिष।

9.6 तिलक के राजनीतिक विचार

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के जीवन का मुख्य उद्देश्य भारत को पराधीनता से मुक्ति दिलाना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने अपना सारा जीवन लगा दिया। उन पर प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन तथा पाश्चात्य और प्रजातांत्रिक विचारधारा का बहुत प्रभाव पड़ा। अतः उनके राजनीतिक चिन्तन में भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन के विचारों का सुन्दर समन्वय देखा जा सकता है। उनकी स्वतन्त्रता का आधार वेदान्त का अद्वैतवाद है। स्वतन्त्रता ही उनके सम्पूर्ण दर्शन का प्राण है। तिलक धर्म एवं राजनीति को एक–दूसरे के पर्यायवाची मानते थे। उन्होंने कहा था हमारी स्वतन्त्रता, राज्य, धन सब कुछ तो लुट गया है, एक धर्म ही हमारे पास है, जिसके सहारे हम अब भी हमारा अस्तित्व बनाये हुए हैं। यदि यह भी नष्ट हो जाएगा तो हमारा राष्ट्रीय जीवन भी नहीं बचेगा।

तिलक के राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैः–

9.6.1 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर तिलक के विचार

तिलक की दृष्टि में स्वतन्त्रता की धारणा वेदान्त का अद्वैतवादी दर्शन हैं। उनके अनुसार वेदान्त के अद्वैतवादी तत्वशास्त्र में प्राकृतिक अधिकारों की राजनीतिक धारणा निहित है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बिना व्यक्ति का सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक

विकास सम्भव नहीं है। तिलक व्यक्ति एवं राष्ट्र के विकास के लिए स्वतन्त्रता को परमाश्यक मानते थे। इसीलिए उन्होंने ब्रिटिश शासन का खुला विरोध किया।

9.6.2 राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का समर्थनः–

तिलक के अनुसार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की वास्तविक अभिव्यक्ति या प्राप्ति राष्ट्र की स्वतन्त्रता के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता है। तिलक के राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर वेदान्त के अद्वैतवादी दर्शन तथा पाश्चात्य चिन्तकों के विचारों का समन्वित प्रभाव पड़ा। उनके विचारों पर बर्क, मिल, मैजिनी तथा विल्सन के 'राष्ट्र स्वतन्त्रता' और 'राष्ट्रीय आत्मनिर्णय' के सिद्धान्त का प्रभाव पड़ा। विल्सन ने 'राष्ट्रीय आत्मनिर्णय' के सिद्धान्त के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि विश्व में प्रत्येक राष्ट्रीयता के लोगों को स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त हो और कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को परतन्त्र न बनाए। इस तरह तिलक ने इस सिद्धान्त को भारत में लागू करने की मांग की।

9.6.3 राष्ट्रवाद की अवधारणाः–

राष्ट्रवाद से अभिप्राय है, राष्ट्र की जनता में अपने राष्ट्र के प्रति प्रेमक, त्याग,बलिदान, समर्पण की भावना का होना। तिलक भी राष्ट्रवाद की अवधारणा के प्रबल समर्थक थे। उनका विश्वास था कि सच्ची और स्वस्थ राष्ट्रीयता केवल भारतीय संस्कृति और मूल्यों के आधार पर ही निर्मित होनी चाहिए। उन्होंने वेदों व गीता से आध्यात्मिक शक्ति तथा राष्ट्रीय उत्सव ग्रहण करने का संदेश दिया। राष्ट्रवाद की अवधारणा को आधार प्रदान करने के लिएतिलक ने 'मराठा' और 'केसरी' नामक दो समाचार पत्र निकाले तथा शिवाजी उत्सव व गणेश उत्सव क्रमशः 1893 व 1895 में शुरू किये। तिलक ने प्राचीन स्वस्थ परम्पराओं के आधार पर भारतीय

राष्ट्रवाद की स्थापना करनी चाही। सच्ची राष्ट्रीयता का प्रचार करना है तो प्राचीन संस्कृति का पुनर्जागरण अनिवार्य है। प्राचीन काल में आदिम जातियों के मन में कबीले के प्रति जो भक्ति रहती थी, उसी का आधुनिक नाम राष्ट्रवाद है। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि तिलक का राष्ट्रवाद हिंसा, अत्याचार और हत्याओं पर आधारित नहीं था। उनका राष्ट्रवाद अन्तरराष्ट्रवाद का विरोधी नहीं था।

9.6.4 उपयोगितावाद का खण्डनः–

उपयोगितावाद बेन्थम द्वारा प्रतिपादित एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। जिस सिद्धान्त का आधार अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख है– मनुष्य एक सुखवादी प्राणी है जो सुखों की ओर तथा दुःखों से दूर भागता है।

इस विचारधारा द्वारा राज्य का उद्देश्य व्यक्तियों के सुखों में अभिवृद्धि करना है, लेकिन उपयोगितावाद के इन विचारों से तिलक सहमत नहीं है। तिलक राज्य को एक आध्यात्मिक संस्था मानते हैं। राज्य के उद्देश्यों में व्यक्ति का सांसारित तथा पारलौकिक दोनों प्रकार का कल्याण करना है। तिलक उपयोगितावादी दर्शन को स्वार्थवाद का बढ़ावा देने वाली विचारधारा मानते थे। उनके मत में राज्य एक यान्त्रिक संस्था नहीं है, जिसका उद्देश्य मात्र भौतिक सुख–सुविधाओं में वृद्धि करके अपने नागरिकों को यान्त्रिक सुख प्रदान करता है। राज्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में व्यक्ति का सच्चा सहयोगी बनना है।

9.6.5 स्वशासन की अवधारणाः–

तिलक स्वशासन की अवधारणा को राष्ट्रवाद के लिए अनिवार्य मानते हैं। स्वशासन के बिना सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में विकास नहीं हो सकता। तिलक ने स्वराज्य का संदेश घर–घर तक पहुंचाने के लिए कार्यक्रम बनाया। इसके लिए होमरूल्स लीग की स्थापना की। 1916 के लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में तिलक ने कहा–"स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेगें।"

तिलक ने स्वराज्य को नैतिक आवश्यकता के रूप में रखा अर्थात् स्वधर्म के अनुसार आचरण करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो के रूप में विश्लेषित किया। उनका विचार था कि स्वराज्य के अभाव में औद्योगिक प्रगति, राष्ट्रीय शिक्षा एवं सामाजिक सुधार सम्भव नहीं हैं। 31 मई, 1916 को अहमद नगर में स्वराज्य पर दिये गये अपने भाषण में कहा 'स्वराज्य का अर्थ' सम्राट के शासन का उन्नमूलन करना और किसी देशी रियासत का शासन कायम करना नहीं हैं। हमें मंदिर के देवताओं का नहीं हटाना है। केवल पुजारियों को बदलना है अर्थात् भारत के आन्तरिक मामलों का संचालन व प्रबन्ध भारतीयों हाथों में हो। हम इंग्लैण्ड के राजा को बनाए रखने में विश्वास करते हैं। इससे स्पष्ट है कि ततकिलीन परिस्थितियों में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य का अंतिम लक्ष्य उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना था। तिलक ने न केवल स्वराज्य का नारा बल्कि तप, त्याग, समर्पण व निष्ठा के साथ जीवन के एक मात्र आदर्श की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित भी किया। तिलक को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में अविश्वास था।

9.6.6 स्वराज्य प्राप्ति के साधनः–

बाल गंगाधर ने अपनी विचारधारा के अनुरूप स्वराज्य की अवधारणा को वास्तविकता का जामा पहनाने के व्यापक साधन अपनाने पर बल दिया। उन्होंने संवैधानिक साधनों एवं उदारवादियों के विचारों को स्वराज्य के प्रतिकूल माना। 1905 के बंगाल विभाजन के बाद बाल–पाल–लाल के उग्र साधनों के साथ पर्दापण किया। स्वराज्य प्राप्ति के लिए इस त्रिमूर्ति ने मुख्यतः चार साधनों का प्रभावशाली प्रयोग किया–

1. स्वदेशी,
2. बहिष्कार,
3. राष्ट्रीय शिक्षा,
4. निष्क्रिय प्रतिरोध।

9.6.6.1 स्वदेशीः– तिलक ने अपने समचार पत्र 'केसरी' में लिखा था कि "हमारा राष्ट्र एक वृक्ष की तरह है, जिसका मूल तना स्वराज्य है व स्वदेशी और बहिष्कार शाखाएँ है।" तिलक के अनुसार स्वदेशी आत्मनिर्भरता स्वालम्बन का सूचक है। स्वदेशी आन्दोलन के लिए 1893 को गणपति उत्सव तथा 1895 को शिवाजी उत्सव आयोजित किये। स्वदेशी को जन आन्दोलन का रूप दिया। इससे देश के उद्योगों को प्रोत्साहन मिलेगा जो अंग्रेजों की दमनकारी नीतियों के कारण मरणासन स्थिति में पहुँच गए हैं। इस तरह स्वदेशी द्वारा तिलक भारत को आर्थिक दृष्टि से सबल बनाना चाहते थे।

9.6.6.2 बहिष्कारः–तिलक स्वदेशी की धारणा को गति प्रदान करने के लिए बहिष्कार पर भी बल देते थे। उनका कहना था कि स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग को प्रोत्साहन देने के लिए विदेशी वस्तुओं की होली जलाने एवं बहिष्कार करने की आवश्यकता पर बल देना चाहिए।

9.6.6.3 राष्ट्रीय शिक्षाः– तिलक के अनुसार वास्तविक शिक्षा वहीं है जो व्यक्ति को जीविकोपार्जन के योग्य बनाए। उसमें देश के सच्चे नागरिक गुणों का संचार करें और जो पूर्वजों का ज्ञान व अनुभव दें। राष्ट्रीय शिक्षा से ही राष्ट्रीयता का निर्माण हो सकेगा। तिलक ने धार्मिक शिक्षा पर भी बल दिया। तिलक के अनुसार धार्मिक शिक्षा

झगड़ों व पारस्परिक कलह को दूर करने का श्रेष्ठ मार्ग है। धार्मिक शिक्षा से भारतीयों में अनुशासन व अतीत के प्रति सम्मान के भाव का उदय होगा। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।

तिलक ने अंग्रेजी की महत्ता को तो स्वीकार किया, लेकिन मातृभाषा को प्रधानता दी। वे शिक्षा को जन जागरण का सर्वोच्च साधन मानते थे। शिक्षा मनुष्य के अन्कारमय जीवन का प्रकाशमय बनाने में सहायक होती है और शिक्षा के माध्यम से मानव को अपने अधिकारों, दायित्वों, स्वतन्त्रताओं आदि का आभास होता है।

9.6.6.4 निष्क्रिय प्रतिरोधः– तिलक के अनुसार निष्क्रिय प्रतिरोध विदेशी शासन के प्रति असहयोग का एक अंहिसात्मक अस्त्र है। इसका अर्थ है स्वदेशी शासन के संचालन में जनता द्वारा किसी भी प्रकार का सहयोग न देना। तिलक का दृढ़ विश्वास था कि यदि हम अंग्रेजों का असहयोग करना प्रारम्भ कर दें तो यह सरकार एक दिन भी नहीं चल सकती। हम अंग्रेजों को कर संग्रह करने में सहयोग न करें, उनकी सेना में भर्ती न हो, उनके न्यायालय में मुकदमें न ले जाएँ, अपनी पंचायतें स्थापित करें तथा मद्यपान का त्याग करें आदि। तिलक का मत था कि यद्यपि निष्क्रिय प्रतिरोध एक शक्तिशाली राजनीतिक अस्त्र हैं, लेकिन जनता के सहयोग बिना सम्भव नहीं है।

9.7 लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का योगदान

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का भारतीय समाज पर व्यापक प्रभाव रहा। उन्होंने अपने अथक प्रयासों के माध्यम से भारतीयों में राजनीतिक चेतना लाने का प्रयास किया।

9.7.1 भारतीय गौरव में विश्वासः–

तिलक का भारतीय संस्कृति एवं धर्म के प्रति दृढ़ विश्वास था। उनका मत था कि भारतीय धर्म एवं संस्कृति विश्व की प्राचीनतम धर्म एवं संस्कृति में एक है। इसने जो मानव सभ्यता एवं समाज को जो कुछ दिया है वे अपने आप में महत्वपूर्ण है। इसीलिए भारत को विश्वगुरू कहा जाता है। वे धर्म को राष्ट्रवाद का प्राण मानते थे। इसलिए उनके दर्शन में धर्म एवं राजनीति एक दूसरे के पर्याय हैं। इस धारणा को उन्होंने अपने दो ग्रन्थों ऑरायन तथा वैदिक क्रोनोलोजी एण्ड वेदांग ज्योतिष में प्रतिपादित किया है।

9.7.2 एक आदर्श प्रेरकः:––

तिलक का जीवन एक कर्मयोगी देशभक्त का जीवन है जो हम सबके लिए प्रेरणा स्त्रोत है। तिलक ने देश की निरन्तर 40 वर्षों तक सेवा की। उन्होंने देशहित एवं समाज हित के लिए निजी हितों की कभी भी परवाह नहीं की। अकाल व प्लेग में अपने स्वास्थ्य और जीवन की परवाह न करते हुए उन्होंने देशवासियों की निरन्तर सेवा की। इस तरह वे महाराष्ट्र केसरी ही नहीं भारत केसरी थे। तिलक का जीवन त्याग, बलिदान, राष्ट्रभक्ति व समाज सेवा का आदर्श उदाहरण है, जो हमें निरन्तर प्रेरणा देता रहेगा।

9.7.3 राष्ट्रवाद व स्वराज्य के उन्नायकः–

तिलक भारतीय राष्ट्रवाद एवं स्वराज्य के उग्र समर्थक थे। उन्होंने यह भावना, उस समय अभिव्यक्त की जब भारतीय समाज गहरे अन्धकार में डूबा हुआ था। एक ऐसे सुधारक की आवश्यकता थी जो उस समाज में चेतना का विकास कर उन्हें एक मंच प्रदान कर दे। इस कार्य को वास्तविकता प्रदान करने का कार्य तिलक ने किया। उन्होंने राष्ट्रवादी भावनाओं के प्रचार प्रसार के लिए धार्मिक उत्सवों का सहारा लिया। उन्होंने युवाओं को महापुरूषों के आदर्श पर चलने की सलाह दी। राष्ट्रवाद के साथ ही साथ स्वराज्य का भी प्रबल समर्थन किया। उनका तर्क था कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है मैं इसे लेकर रहूंगा।" उनकी दृष्टि में स्वराज्य के बिना राजनीतिक एवं धार्मिक सहिष्णुता के प्रबल समर्थक थे। उनका मानना था कि अंग्रेजों ने धार्मिक कटुता का जो वातावरण पैदा किया है वह हमारे लिए विनाशकारी है और हमें तब तक पराधीनता से मुक्ति नहीं मिल सकती जब तक विकसित नहीं होगी। 1905 में अंग्रेजों ने अपनी फूट डालो एवं राज करो की नीति की क्रियान्ति देने के लिए बंगाल का विभाजन किया जिसका तिलक ने विरोध किया और भारतीयों को ऐसे कदमों से सचेत रहने की सलाह दी। उन्होंने 1916 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में लीग और कांग्रेस के बीच मतभेद समाप्ज कने का सफल प्रयास किया। इस प्रकार तिलक ने हिन्दू–मुस्लिम एकता के लिए जीवन पर्यन्त संघर्ष किया।

9.7.4 एक महान् प्रयोगकर्ता के रूप में :–

तिलक ने राष्ट्रीय उन्नयन के लिए अनेक प्रयोग किये। उनके प्रयोगों की एक महत्वपूर्ण बात ये थी कि सभी संवैधानिक एवं शांतिपूर्ण थे। हिन्दूओं को संगठित करने तथा राष्ट्रप्रेम, त्याग व बलिदान की भावना का

विकास के लिए उन्होंने 'गणपति उत्सव' तथा 'शिवाजी उत्सव' का आयोजन करने की परम्परा डाली। देशभक्ति एवं समाज सेवा के लिए पूर्ण रूप से समपर्पित कार्यकर्ता तैयार करने के लिए 'समर्थ विद्यालय' की स्थापना की और संवैधानिक सुधार लाने के लिए होमरूल आन्दोलन चलाया।

9.7.5 सशक्त एवं निर्भीक पत्रकार के रूप में:–

तिलक एक सशक्त एवं निर्भीक पत्रकार थे। उन्होंने एक शिक्षक एवं पत्रकार के रूप में अपना सार्वजनिक जीवन प्रारम्भ किया। पत्रकारिता का उद्देश्य ब्रिटिश सरकार की गलत नीतियों से जनता को अवगत करवाना तथा सरकार के समक्ष जनता की समस्याओं को उजागर करना होता है। तिलक ने 1881 में सर्वप्रथम एक पत्रकार के रूप में 'मराठा' का सम्पादन किया। इसके पश्चात् 'केसरी' के सम्पादन का भी कार्य अपने हाथ में लिया। इस प्रकार तिलक ने प्रेस की स्वतन्त्रता को आधार मानकर चेतना लाने का प्रयास किया।

9.7.6 लोकनीति के प्रणेता:–

आधुनिक भारत के इतिहास के सर्वप्रथम लोकमान्य तिलक ने राजनीति को लोकनीति में परिवर्तित करने का कार्य किया। पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़े राजनेता अभिजात्य वर्गों के लिए कार्य कर रहे थे। तिलक ने आम जनता के हित की बात कर उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जोड़ने का प्रयास। इस तरह तिलक के प्रयासों से ही साधारण जनता में देश भक्ति की भावना का विकास हो सका।

9.7.7 कांग्रेस को व्यापक जनाधार प्रदान किया:–

कांग्रेस को वैचारिक स्वरूप एवं जनाधार देने में तिलक का महत्वपूर्ण योगदान रहा। जब तिलक ने 1889 के कांगेस के पूना अधिवेशन में भाग लिया तब उन्होंने देखा कि कांग्रेस के साथ केवल समाज के उच्च वर्ग के लोग ही जुड़े हुए है। इस समय तक कांग्रेस का अंग्रेजों के प्रति उदार था। तिलक ने कांग्रेस को एक ऐसी जन प्रतिनिधि संस्था बनाने का प्रयास किया, जो सरकार की गलत नीतियों एवं दमनकारी नीति का विरोध करे। तिलक के अथक प्रयासों से ही कांग्रेस प्रत्येक अधिवेशन में सदस्यों की संख्या बढ़ती गई। कांग्रेस के मंच से स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा के प्रस्ताव पारित किये। इस तरह अनेक चुनौतियों के बावजूद तिलक कांग्रेस को भारतीय हितों की संरक्षक संस्था बनाने में सफल रहें।

9.7.8 लोकतांत्रिक आदर्शों के पुजारी:–

तिलक का लोकतंत्र के महान् सिद्धान्तों स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व में दृढ़ आस्था थी। तिलक इन सिद्धान्तों के लिए जीवन पर्यन्त संघर्ष करते रहे। उनके इस तर्क की पुष्टि इस आधार पर होती है कि उन्होंने स्वतन्त्रता, स्वराज्य एवं स्वशासन प्राप्ति हेतु धार्मिक एवं शांतिपूर्ण साधनों को अपनाया।

9.7.9 आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के जनक:–

महात्मा गांधी ने तिलक को 'नवभारत का निर्माता' कहा है। जवाहरलाल नेहरू ने उनको 'भारतीय राष्ट्रवाद का पिता' कहा। उन्होंने राष्ट्रवाद को आधार प्राचीन भारतीय धर्मग्रंन्थों, वीरनायकों, देवी–देवताओं तथा वैदिक धर्म को बनाया। उन्होंने राष्ट्रवाद की भावना का विकास हेतु 'गणपति उत्सव' एवं शिवाजी उत्सव' को सार्वजनिक उत्सवों के रूप में मनाना प्रारम्भ किया। तिलक राष्ट्रवाद को एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा मानते थे। बंगभंग विरोधी आन्दोलन को तिलक ने राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया। स्वदेशी आन्दोलन को केवल आर्थिक आन्दोलन के साथ नहीं जोड़ा बल्कि इसके माध्यम से वे लोगों में स्वदेश का प्यार, त्याग, आत्मनिर्भरता की भावना भरना चाहते थे। सारांश में, यहीं कहा जा सकता है कि तिलक भारत के एक महान् राष्ट्रवादी तथा प्रखर राजनीतिक चिन्तक थे।

9.8 सारांश

सारांश में यही कहा जा सकता है कि तिलक भारत के एक महान् राष्ट्रवादी तथा प्रखर राजनीतिक चिन्तक थे। उनके अथक प्रयासों से भारत के स्वतन्त्रता संग्राम को गति मिली। राष्ट्रवाद की भावना को प्रोत्साहन न देने के लिए द्वारा 1893 में गणपति उत्सव तथा 1895 में शिवाजी उत्सव का आयोजन आम जनता को इसके साथ जोड़ने का प्रयास कियज्ञं

9.10 अभ्यास प्रश्नावली

1. लोकमान्य तिलक का जीवन परिचय बताते हुए, राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डालिए।
2. तिलक की भारतीय राजनीतिक चिन्तन को क्या देन है?
3. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के संबंध में तिलक के विचार बताओ।
4. तिलक द्वारा प्रस्तुत राष्ट्रवाद की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
5. स्वराज्य प्राप्ति के साधनों पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।
6. आत्म–निर्ण का सिद्धान्त क्या है?
7. स्वराज्य की स्थापना के लिए तिलक ने कौनसा मूल मंत्र दिया?
8. तिलक ने कौन–कौन से समाचार पत्रों का प्रकाशन किया?
9. राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन देने हेतु तिलक ने किन उत्सवों की शुरूआत की?
10. तिलक की प्रमुख रचनाओं के नाम लिखिए?
11. आत्म–निर्णय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किसने किया?
12. नरम दल व गरम दल की उत्पत्ति कब हुई?
13. "स्वतन्त्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेंगे।" यह घोषणा तिलक ने कब और कहाँ की?
14. उपयोगितावाद का प्रतिपादक कौन है?
15. उपयोगितावाद का मूल आधार क्या है?
16. तिलक की स्वतन्त्रता का आधार क्या है?

अध्याय-10
स्वामी विवेकानन्द

संरचना

10.1 उद्देश्य

10.2 प्रस्तावना

10.3 जीवन परिचय

10.4 स्वामी विवेकानन्द की रचनाएँ

10.5 राजनीतिक चिन्तन का दार्शनिक आधार

10.6 राजनीतिक विचार

10.6.1 राष्ट्रवाद का आध्यात्मिकरण

10.6.2 स्वतन्त्रता का सिद्धान्त

10.6.3 शक्ति व निर्भिकता को प्राथमिकता

10.6.4 व्यक्ति के गौरव में विश्वास

10.6.5 आदर्श राज्य की कल्पना

10.6.6 अन्तराष्ट्रीयवाद

10.6.7 समाजवादी दृष्टिकोण

10.6.8 राष्ट्रीय जीवन में जनसाधारण का महत्वपूर्ण स्थान

10.7 स्वामी विवेकानन्द का योगदान

10.7.1 पूर्व व पश्चिम का समन्वय स्थापित किया

10.7.2 हिन्दू पुनरूत्थान में अविस्मरणीय योगदान

10.7.3 धर्म व विज्ञान के समन्वय पर बल

10.7.4 भारतीय राष्ट्रीयवाद को आधार प्रदान किया

10.7.5 राम कृष्ण मिशन का प्रभाव

10.7.6 महान् समाज सुधारक

10.8 सारांश

10.9 अभ्यास प्रश्नावली

10.1 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य स्वामी विवेकानन्द के मुख्य विचारों को जानते हुए कि उन्होंने किस प्रकार भारतीय युवा शक्ति को जगाने का प्रयास किया। उनका यह आह्वान किया कि "उठो जागो और तब तक न रूको जब तक लक्ष्य पर न पहुँच जाओ" आज भी हमारे लिए प्रेरणादायक है, जिसे अपनाकर हम भारत को प्रगति के पथ पर आगे बढ़ा सकते हैं। इस अध्याय के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे–

- विवेकानन्द के शिकागो में आयोजित विश्व धर्म संसद में भाग लेते हुए भारतीय धर्म, संस्कृति एवं मूल्यों की छाप छोड़ी।
- उन्होंने राष्ट्रवाद का आध्यात्मिकरण किया और धर्म को भारत की आत्मा कहा, उसे भी जान सकेंगे।

- राजनीतिक विचारों के माध्यम से उन्होंने व्यक्ति, आत्म–गौरव व आत्म–सम्मान की भावना पर बल दिया, उसे भी जानने का अवसर मिलेगा,
- उनकी सोच मानवतावाद, अन्तरराष्ट्रीयवाद एवं विश्वबंधुत्व पर आधारित थी, जो हमें यह प्रेरणा देती है कि समस्याओं का समाधान शांतिपूर्ण तरीके से करने में ही मानवता की कलाई हैं,
- हिन्दू पुनरूत्थान की दिशा में उनके द्वारा किये गये प्रयत्नों को जान सकेंगे।

10.2 प्रस्तावना

स्वामी विवेकानन्द एक मानवतावादी चिन्तक थे। इन्होंने इस चिन्तन के अनुरूप अपने विचारों का प्रतिपादन किया उनके चिन्तन में मानव गरिमा, मूल्य की सर्वोच्चता में विश्वास और जाति, धर्म या राष्ट्र की सीमाओं को तोड़कर मानव मात्र के कल्याण पर बल दिया गया है। विवेकानन्द की युवा शक्ति के प्रतीक के रूप में भी जाना जाता है, क्योंकि इन्होंने गहरी निन्द में सोये हुए भारतीय युवाओं को जगाने का प्रयास किया। विभिन्न देशों की यात्राएं करके भारतीय संस्कृति की सर्वोच्चता को सिद्ध किया।

10.3 जीवन परिचय

स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी, 1863 ई. को कलकत्ता के एक कायस्थ परिवार में हुआ था। उनके पितामह बहुत सम्पन्न व्यक्ति थे। स्वामी विवेकानन्द का नाम नरेन्द्रनाथ था। लेकिन जब 1893 ई. को बम्बई से शिकागो की यात्रा शुरू की तब उन्होंने अपना नाम बदलकर "विवेकानन्द" रख लिया। आपको इसी नाम से ख्याति मिली। इनके पिताजी प्रसिद्ध वकील थे तथा माताजी अत्यन्त भक्तिमय धार्मिक जीवन जीने वाले सुशिक्षित व उत्कृष्ट चरित्र की महिला थी। नरेन्द्र नाथ के जीवन पर अपनी माता के व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव पड़ा। इसी के चलते 25 वर्ष की अल्प आयु में ही वे सांसारिक मोह त्याग कर सन्यासी हो गये। नरेन्द्रनाथ अपने बाल्यकाल से ही प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने भारतीय दर्शनशास्त्र के साथ–साथ यूरोप के उदारवादी तथा बुद्धिवादी दृष्टिकोण वाले चिन्तकों के विचारों का अध्ययन किया। नवम्बर, 1881 को नरेन्द्रनाथ की भेंट संत रामकृष्ण परमहंस से हुई। यह मिलन प्राचीन भारत और नवीन भारत, पूर्व और पश्चिम, तथा श्रद्धा और बुद्धि का अपूर्व समन्वय था। यह भेंट नरेन्द्रनाथ के जीवन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाने वाली घटना थी। अगस्त, 1886 में रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने अपने गुरू के विचारों का प्रचार–प्रसार करने के लिए सम्पूर्ण भारत की यात्रा की। उनकी यह यात्रा 5 वर्ष तक जारी रही। इस यात्रा के दौरान उन्हें वास्तविक भारत को देखने और समझने का अवसर मिला।

भारत की आध्यात्मिक धरोहर के खजाने को, पूरे विश्व की जनता को मुक्त हस्त से बांटने के लिए स्वामी जी यूरोप और अमेरिका की यात्रा करना चाहते थे। 1892 ई. में उन्हें मालूम हुआ कि अमेरिका के शिकागो शहर में विश्व के सभी धर्मों का एक सम्मेलन होने वाला है। लेकिन स्वामी जी के पास न तो इसका निमन्त्रण था और न ही सम्मेलन की कोई निश्चित तिथि के बारे में जानकारी थी, फिर भी उन्होंने अमेरिका जाने का निर्णय किया और 31 मई 1893 को वहाँ के लिए प्रस्थान किया। अमेरिक पहुँचने पर स्वामी जी की मुलाकात नेक बुद्धिजीवियों जिनमें प्रोफेसर राइट का नाम उल्लेखनीय है। उनके प्रयासों से स्वामी विवेकानन्द को विश्व धर्मसंसद में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ। धर्म संसद के प्रथम दिन 11 सितम्बर, 1893 को विवेकानन्द को सम्मेलन में संबोधित करने का अवसर प्राप्त हुआ। जब अपने भाषण के आरम्भ में ही स्वामी जी ने श्रोतागणों को "अमेरिका निवासी बहिनों और भाइयों" कहकर सम्बोधित किया तो समस्त श्रोतागण अपने स्थानों पर खड़े हो गये। हर्ष ध्वनि गूंज उठी। स्वामी जी को सुनकर समस्त श्रोताओं को ऐसा लगा कि उनके ह्रदय में सम्पूर्ण मानव जाति के लिए सच्चा प्रेम है। इस भाषण की सर्वत्र तारीफ हुई। स्वामी जी ने अमेरिक में तीन वर्ष तक और रहकर भारतीय संस्कृति तथा वेदान्त का प्रचार–प्रसार किया। 16 दिसम्बर, 1896 को वे कोलम्बो पहुँचे। कोलम्बो से अल्मोड़ा तक यात्रा की जो एक विजय यात्रा थी। इस दौरान स्वामी जी ने भारतीय जनता से आह्वान किया, **"उठो, जागो और तब तक न रूको जब तक कि लक्ष्य पर न पहुँच जाओ।"** उन्होंने कहा कि वे दीनता और हीनता की भावना का परित्याग करके राष्ट्र की सेवा के लिए कमर कस लें। 9 दिसम्बर, 1898 को "रामकृष्ण मिशन" की स्थापना की गई। मधुमेह रोग के कारण 4 जुलाई, 1900 को 39 वर्ष की अल्पायु में उनका देहावसान हो गया।

10.4 स्वामी विवेकानन्द की रचनाएँ

स्वामी विवेकानन्द की रचनाएँ निम्नलिखित है–

1. "कोलम्बो से अल्मोड़ा तक व्याख्यान"
2. "पूर्व तथा पश्चिम"
3. "आधुनिक भारत"
4. "सन्यासी का गीत"

10.5 राजनीतिक चिन्तन के दार्शनिक आधार

स्वामी विवेकानन्द के दर्शन के तीन प्रमुख स्त्रोत है– 1. वेद तथा वेदान्त की महानतम् परम्पराएँ, 2. रामकृष्ण परमहंस के साथ सम्पर्क (1881–1886), 3. उनके जीवन का व्यावहारिक अनुभव।

स्वामी विवेकानन्द राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे। उनका न तो राजनीति में विश्वास था और न ही उन्होंने कोई "राजनीतिक सम्प्रदाय" शुरू किया। उन्होंने कभी भी खुलकर देश की स्वतन्त्रता का समर्थन नहीं किया।

डॉ. वी.पी. वर्मा के अनुसार आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में स्वामी विवेकानन्द का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके दो कारण है– पहला, उनकी शिक्षाओं तथा व्यक्तित्व का बंगाल के राष्ट्रवादी आन्दोलन पर गहरा प्रभाव पड़ा। दूसरा, विवेकानन्द ने हमें भारतीय समाज के विकास के संबंध में कुछ नये विचार दिये है।

10.6 राजनीतिक विचार

स्वामी विवेकानन्द के राजनीतिक का चिन्तन अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों द्वारा कर सकते हैं–

10.6.1 राष्ट्रवाद का आध्यात्मिकरण

यदि भारत के इतिहास का अध्ययन करें तो हम पायेंगे कि धर्म इसका महत्वपूर्ण नियामक तत्व रहा हैं। स्वामी जी ने अपने भाषणों में भी "धर्म को भारत की आत्मा कहा है।" धर्म भारत की रीढ़ है।" अतः यदि भारत का उत्थान करना है और राष्ट्र का खोया हुआ गौरव पुनः लौटाना है तो सर्वप्रथम हमें भारत के धर्म को पुनर्प्रतिष्ठित करना होगा। उन्होंने कहा कि धर्म ही निरन्तर भारतीय जीवन की आधार रहा है, इसीलिए भारत में सभी प्रकार के सुधार धर्म के माध्यम से किये जा सकते है। भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माण अतीत की ऐतिहासिक विरासत की सुदृढ़ नींव पर ही करना है। भारत की एकता व अखण्डता बनाये रखने में धर्म ने एक महत्वपूर्ण भावनात्मक शक्ति का कार्य किया है। भारत मं जब–जब राजनीतिक सत्ता कमजोर हुई है तब–तब धर्म ने उसकी सुदृढ़ता में अपना सहयोग दिया। इस प्रकार भारत की आत्मा बताकर राष्ट्रवाद की नींव रखी।

10.6.2 स्वतन्त्रता का सिद्धान्त

उनकी वाणी और उनके कर्म में उनकी स्वतन्त्रता प्रियता सदैव गुंजती रही। उन्होंने कहा, जीवन, मुख और समृद्धि की एकमात्र शर्त– चिन्तन और कार्य में स्वतन्त्रता हैं, जिस क्षेत्र में यह नहीं है उस क्षेत्र में मनुष्य जाति और राष्ट्र का पतन होगा।

स्वतन्त्रता की विवेकानन्द ने मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार माना और कामना की कि समाज के सभी सदस्यों को यह अवसर समान रूप से प्राप्त होना चाहिए। सम्पत्ति, ज्ञान और शिक्षा के अर्जन में किसी प्रकार का बन्धन नहीं होना चाहिए।

10.6.3 शक्ति व निर्भिकता को प्राथमिकता

शक्ति तथा निडरता के अभाव में न तो व्यक्तिगत अस्तित्व की रक्षा हो सकती है और न अपने अधिकारों के लिए संघर्ष ही किया जा सकता है। उन्होंने देशवासियों को सन्देश दिया–उत्साह से ह्यदय भर लों और सब जगह फैल जाओ, काम करों काम करों–पचास सदियाँ तुम्हारी रही हैं। भारत का भविष्य तुम पर निर्भर हैं। काम करते जाओं, उन्होंने देशवासियों से चरित्रवान बनने का आग्रह किया तथा नैतिक शिक्षा को महत्व दिया।

10.6.4 व्यक्ति के गौरव में विश्वास

मानव सम्मान और पुरूषत्व की भावना का जागरण होगा तभी राष्ट्र सच्चे रूप से शक्तिशाली बनेगा। विवेकानन्द ने मनुष्य को स्वाधीनता के उच्चतम रूप का प्रतिनिधि मानते हुए उसके गौरव में अगाध आस्था प्रकट की।

10.6.5 आदर्श राज्य की कल्पना

स्वामी विवेकानन्द आदर्श राज्य की कल्पना करते हैं। उनका मत है कि शासन व्यवस्था में शुद्रों की भी भूमिका होनी चाहिए और अब शुद्र राज्य का काल आ गया है यदि ऐसा राज्य स्थापित करना सम्भव हो जिसमें ब्राह्मण काल का ज्ञान, क्षत्रिय काल की सभ्यता, वैश्य काल का प्रचार–भाव और शुद्र काल की समानता रखी जा सके– उनके दोषों को त्याग करे तो एक आदर्श राज्य होगा। परन्तु यह सम्भव है। विवेकानन्द का मानना था कि पहले तीनों का राज्य हो चुका अब शुद्र राज्य का काल आ गया है, वे अवश्य राज्य करेंगे।

10.6.6 अन्तरराष्ट्रीयवाद

स्वामी विवेकानन्द एक सार्वभौम धर्म, विश्वबन्धुत्व तथा अन्तरराष्ट्रीयवाद के प्रबल समर्थक थे। वे वेदान्त को सामाजिक क्रान्ति का प्रतीक मानते थे। उन्होंने एक बार कहा था कि, निःसन्देह मुझे भारत से प्यार है पर प्रत्येक दिन मेरी दृष्टि अधिक निर्मल हो जाती है, हमारे लिए भारत या इंग्लैण्ड या अमेरिका क्या है? हम तो उस ईश्वर के सेवक हैं जिसे अज्ञानी मनुष्य कहते हैं। जड़ में पानी देने वाला क्या सारे वृक्ष को नहीं है? उनका कहना था कि कोई मनुष्य, कोई जाति दूसरों के घृणा करते हुए जी तक नहीं सकती। भारत के भाग्य का निपटारा उसी दिन हो चुका जब उसने श्लेच्छा शब्द का ढूंढ़ निकाला। धरती के सभी लोगों के बीच कोई सम्बन्ध है तो वह प्रेम और सेवा का है। शिकागों विश्व धर्म संसद में समस्त विश्व मानवता के धर्म की चर्चा की।

10.6.7 समाजवादी दृष्टिकोण

विवेकानन्द के ह्यदय में गरीबों और पद–दलितों के प्रति असीम संवेदना थी। समाज मे उनके लिए समुचित स्थान दिये जाने की उन्होंने जबरदस्त वकालत की और जन साधारण के उत्थान को अपने कार्यक्रम का महत्वपूर्ण अंग बनाया। झोपड़ियों की दशा सुधारनी होगी, गरीबों को निम्न जीवन स्तर से ऊँचा उठाना होगा, यदि गरीबों और दलितों की स्थिति में कोई सुधार नहीं होगा, तब तक देश और समाज का कोई कल्याण नहीं हो सकता। उन्होंने गरीबी, अशिक्षा और अज्ञानता को भारत के लिए कलंक माना और घोषणा की कि भूखे पेट को धर्म की शिक्षा देना अर्थहीन है तथा जन साधारण को ऊँचा उठाएं बिना कोई भी राजनैतिक उत्थान सम्भव नहीं है। जन–साधारण की अवहेलना करना एक महान् राष्ट्रीय पाप है और हमारे राष्ट्र के पतन का कारण है। उन्होंने समाजवाद को अन्य व्यवस्थाओं की तुलना में उचित माना इसलिए समाजवाद की भी अपनाया जाएं। डॉ. वी.पी. वर्मा स्वामी विवेकानन्द को दो कारणों से समाजवादी मानते हैं प्रथम उन्हें भारत में "सामाजिक समानता" का समर्थन किया द्वितीय उन्होंने देश के सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के "अवसर की समानता" का समर्थन किया।

10.6.8 राष्ट्रीय जीवन में जनसाधारण का महत्वपूर्ण स्थान

स्वामी विवेकानन्द ने राष्ट्रीय जीवन में जनसाधारण की भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए उनकी सेवा–सुश्रुषा करने तथा उनको ऊँचा उठाकर उनमें राजनीतिक चेतना का विकास करने पर बल दिया। उन्होंने कहा कि पीड़ित, दलित और शोषित जनता की सेवा करना तथा उनकी आध्यात्मिक और सामाजिक उन्नति करना ही सर्वोपरि देश सेवा का कार्य है। जन–साधारण के विकास से ही देश में राजनीतिक उत्थान संभव है।

10.7 स्वामी विवेकानन्द का योगदान

स्वामी विवेकानन्द के योगदान को भारतीय राजनीतिक चिन्तन और समाज कभी भुला नहीं सकता। इनका जन्म उन परिस्थितियों में हुआ जब देश गुलामी की बेड़ियों से जकड़ा हुआ था, समाज पर बुराईयाँ हावी थी, समाज अपनी दिशा से पथ भ्रष्ट हो चुका था, हम हमारी संस्कृति एवं मूल्यों को त्याग कर पश्चिमी संस्कृति की ओर भाग रहे थे, समाज में गरीबी, आत्म–सम्मान, आत्मनिर्भरता को बढ़ाने का सफल प्रयास किया। स्वामी विवेकानन्द के योदान को हम निम्नलिखित शीर्षकों द्वारा प्रस्तुत कर सकते है–

10.7.1 पूर्व व पश्चिम का समन्वय स्थापित किया

स्वामी विवेकानन्द ने पूर्व व पश्चिम का समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। पश्चिम व पूर्व के राज–दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करके वे इस तथ्य के प्रति आश्वस्त हो चुके थे कि पश्चिम की तुलना में भारत साहित्य, ज्ञान, विज्ञान, इतिहास, संस्कृति और धर्म के पक्ष में कहीं अधिक सहिष्णु और समृद्ध है। स्वामी

विवेकानन्द हर संस्कृति की अच्छाइयों को आदर की दृष्टि से देखते थे, उन्होंने बताया कि वेदान्त व्यक्ति के उत्थान और समाज के निर्माण तथा राष्ट्र के समन्वय का शास्त्र है। वे चाहते थे कि भारत को ऊपर उठाया जायें और विश्व में उसके गौरव को पुनर्प्रतिष्ठित किया जाए।

10.7.2 हिन्दू पुनरूत्थान में अविस्मरणीय योगदान

स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय संस्कृति और धर्म की महानता का पश्चिम में प्रचार–प्रसार करके हिन्दुओं के गौरव तथा आत्मविश्वास में वृद्धि की। उन्होंने शक्ति और निर्भिकता का संदेश देकर सोये हुए भारतीयों को जगा दिया। उन्होंने भारतीय समाज सुधार हेतु सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया। वे चाहते थे कि स्वयं भारतीय अपनी सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों व आडम्बरों को समाप्त करने के लिए आगे आएं। विवेकानन्द ने भारत की आत्मा को पहचान तथा पूरे विश्व में वेदान्त का प्रचार–प्रसार हेतु आजीवन प्रयास किया। वे हिन्दू पुररूत्थानवाद के प्रतीक थे।

10.7.3 धर्म व विज्ञान के समन्वय पर बल

स्वामी विवेकानन्द ने एक मानवतावादी विचारक होने के नाते विश्व के विभिन्न धर्मों के बीच तथा धर्म और विज्ञान के बीच पूर्ण समन्वय पर बल दिया। उनके मतानुसार धर्म का अर्थ आत्मा का विश्वास है, उसकी पूर्ण अनुभूति विश्ववाद के स्तर पर ही की जा सकती है और विज्ञान का लक्ष्य भी विश्ववाद ही है, वह हमें वैश्विक धर्म की ओर ले जा सकता है, जो कि वेदान्त ही है। धर्म और विज्ञान का प्रमुख उद्देश्य सम्पूर्ण मानवता का कल्याण करना है।

10.7.4 भारतीय राष्ट्रीयवाद को आधार प्रदान किया

स्वामी विवेकानन्द ने आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके भारतीय राष्ट्रवाद की सुदृढ़ नींव रखी। आगे चलकर इसी सिद्धान्त का विपिन चन्द्रपाल तथा अरविन्द ने समर्थन करके इसको प्रभावी बनाया। महात्मा गांधी भी विवेकानन्द के इस सिद्धान्त से प्रभावित थे तथा वे मानते थे कि भरतीय संस्कृति और राष्ट्रवाद का मूलाधार धर्म है, अतः वे राजनीति का आधार धर्म एवं नैतिकता के सिद्धान्त को बनाना चाहते थे।

10.7.5 रामकृष्ण मिशन का प्रभाव

रामकृष्ण मिशन की स्थापना स्वामी विवेकानन्द का महत्वपूर्ण योगदान है। इस मिशन ने रामकृष्ण परमहंस के विचारों तथा वेदान्त के सन्देश को विश्व के कोने–कोने पर पहुँचाया है। इसने समाज सुधार एवं मानव कल्याण की दिशा में सराहनीय कार्य किया है।

10.7.6 महान् समाज सुधारक

स्वामी विवेकानन्द सामाजिक क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन करना चाहते थे क्योंकि उस समय भारतीय समाज पर बुराईयाँ हावी हो गई थी। जात–पांत, सम्प्रदायवाद और छुआछूत, कुछ सीखने के प्रति उदासीनता, स्वयं को हीन मानने की मनोदशा, मौलिकता तथा साहस की कमी, आलस्य, संकीर्ण दृष्टिकोण इत्यादि भारत के पतन के कारण है–

1. विवेकानन्द ने छुआछूत और रूढ़िवादिता पर कटु प्रहार किया। उन्होंने माना कि यदि हम मनुष्य हैं तो इन दोनों बुराइयों से दूर रहना होगा।
2. विवेकानन्द का संदेश था कि जीवन प्रगतिशील है और आज का हमारा जीवन पिछली अनेक सदियों में की गई प्रगति तथा विकास का परिणाम है। इसलिए हमें प्रगति के पथ का राही बनना चाहिए। प्रत्येक बात को तर्क और बुद्धि की तराजू पर तोलकर ग्रहण करना चाहिए।
3. स्वामी विवेकानन्द के ह्रदय में गरीबों के लिए सहानुभूति थी। विवेकानन्द ने आह्वान किया "गरीब और अभाव ग्रस्त, पीड़ित और पद–दलित सब आओ हम सब रामकृष्यण की शरण में एक हैं।"
4. विवेकानन्द ने बाल–विवाह की आलोचना की। बाल–विवाह से असमय सन्तानोत्पति होती है और छोटी उम्र में सन्तान धारण करने के कारण हमारी स्त्रियाँ अल्पायु होती है उनकी दुर्बल और रोगी सन्तान देश के सामने अनेक चुनौतियां खड़ी करती हैं। विवेकानन्द ने विधवा के पुनर्विवाह पर बल दिया।

10.7.7 विश्व मानवता को प्रेम, शांति तथा बन्धुत्व का सन्देश

स्वामी विवेकानन्द ने समस्त विश्व में वेदान्त का प्रचार–प्रसार करके प्रेम, शांति और भाईचारे का सन्देश दिया। वेदान्त मनुष्य की दैविकता में विश्वास करता हैं। प्रत्येक मनुष्य एक ही परमात्मा की सन्तान है। हम सब में एक ही परमात्मा के अंश हैं अतः मनुष्य और मनुष्य के बीच कोई संबंध है तो वह प्रेम और सेवा का है। वेदान्त मनुरूप को वैश्विक प्रेम तथा सेवा का सन्देश देता है उनके अनुसार धर्म का मूल तत्व प्रेम, सेवा और त्याग है। अतः वे सम्पूर्ण विश्व में वेदान्त के आध्यात्मिक साम्राज्य की स्थापना करना चाहते थे।

10.8 सारांश

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द के विचारों से भारतीय में नव चेतना का संचार हुआ। उन्होंने स्वतन्त्रता के साथ–साथ व्यक्ति की गरिमा को प्रतिपादित करने का संदेश दिया। अपने आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के माध्यम से भारत को एकता के सूत्र में बांधने का काम किया। विदेशों का भ्रमण कर स्वामी जी ने भारतीय संस्कृति को विश्व व्यापी बनाया और विश्व को प्रेम, शांति, त्याग बन्धुत्व का इकाई पढ़ाया। उनका नाम भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं।

10.9 अभ्यास प्रश्नावली

1. स्वामी विवेकानन्द के राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डालिए।
2. भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में स्वामी विवेकानन्द का क्या योगदान रहा?
3. स्वामी विवेकानन्द के जीवन परिचय का उल्लेख कीजिए।
4. विश्व बन्धुत्व एवं अन्तरराष्ट्रीयवाद के क्षेत्र में विवेकानन्द के विचार बताओ।
5. विवेकानन्द द्वारा समाजवाद के समर्थन के पीछे मूल कारण क्या था?
6. समाज सुधारक के रूप में विवेकानन्द का क्या योगदान रहा हैं?
7. स्वामी विवेकानन्द के स्वतन्त्रता के संबंध में किस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था?
8. स्वामी विवेकानन्द के बचपन का नाम क्या था?
9. स्वामी विवेकानन्द का जन्म कब और कहाँ हुआ?
10. नरेन्द्रनाथ से विवेकानन्द नाम क्यों रखा?
11. स्वामी विवेकानन्द के गुरू का नाम बताओ?
12. स्वामी विवेकानन्द की प्रमुख रचनाओं के नाम बताओ?
13. विश्व धर्म संसद कब और कहाँ हुई?
14. "उठो, जागो और तब तक न रूको, जब तक कि लक्ष्य पर न पहुँच जाओ।" ये विचार किसने दिया?
15. विवेकानन्द का देहावान कब हुआ?
16. स्वामी जी के दर्शन के कौन–कौन के स्त्रोत है?
17. स्वामी विवेकानन्द ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कौनसे मिशन की शुरूआत की?

अध्याय-11
अरविन्द घोष

संरचना

11.1 उद्देश्य

11.2 प्रस्तावना

11.3 जीवन–परिचय

11.4 अरविन्द के राजनीतिक चिन्तन के आध्यात्मिक आधार

11.5 अरविन्द का राजनीतिक चिन्तन

11.5.1 राष्ट्रवाद की संकल्पना

11.5.2 स्वरराज्य एवं राष्ट्रीय विकास

11.5.3 निष्क्रिय प्रतिरोध

11.5.4 व्यक्तिगत और राज्य के संबंध

11.5.5 राजनीतिक एवं सामाजिक सुधार

11.5.6 धर्म और राजनीति

11.5.7 राज्य के आंगिक सिद्धान्त की आलोचना

11.5.8 राज्य के कार्य संबंधी विचार

11.5.9 मानवीय स्वतन्त्रता पर बल

11.5.10लोकतन्त्र संबंधी विचार

11.5.11समाजवाद संबंधी विचार

11.5.12विश्व संगठन की स्थापना की आवश्यकता पर बल

11.6 सारांश

11.7 अभ्यास प्रश्नावली

11.1 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य अरविन्द घोष के राजनीति विचारों को जानना कि उन्होंने किस प्रकार राजनीतिक चिन्तन के आध्यात्मिक आधार प्रस्तुत करते हुए राष्ट्रवाद की भावना को बल प्रदान किया। इसके अध्ययन के बाद जान सकेंगे–

- अरविन्द घोष की स्वराज्य की अवधारणा
- धर्म और राजनीति के पारस्परिक संबंध किस प्रकार के होने चाहिए,
- अरविन्द के राज्य संबंधी विचार,
- लोकतंत्र एवं समाजवाद के सन्दर्भ में अरविन्द के दृष्टिकोण को भी जान सकेंगे।

11.2 प्रस्तावना

आधुनिक भारत के महापुरूषों में महर्षि अरविन्द (अरविन्द घोष) का नाम उल्लेखनीय है। उन्हें भारत की आत्मा का जो गहन ज्ञान था। रोमा रोलाँ ने अरविन्द को "भारतीय विचारकों का सम्राट एवं एशिया तथा यूरोप की प्रतिभा का समन्वय" कहकर पुकारा है, तो डॉ. फ्रेडिरिक स्पजलबर्ग ने उन्हें "हमारी इस वसुन्धरा का मार्ग दर्शक नक्षत्र और हमारे युग का पैगम्बर कहा है। वर्तमान भारत के राजनीतिक विचार के क्षेत्र में अरविन्द एक महान राजनीति चिन्तक थे। उनकी पहचान उग्रवादी चिन्तक के रूप में की जाती है। उन्होंने उदारवादी एवं कांग्रेस के स्वतन्त्रता प्राप्ति के समर्थन का विरोध किया। उनका मानना था कि स्वतन्त्रता तो हमारा जन्म सिद्ध

अधिकार है उसका हनन अंग्रेज किसी भी स्थिति पर नहीं कर सकते। उनके राजनीतिक विचारों का मूल आधार आध्यात्मिक आस्था है। इसलिए उन्होंने राजनीति के आध्यात्मिकीकरण पर बल दिया। राष्ट्रीय आन्दोलन को गूढ़ और आध्यात्मिक महत्व देने, उसके सामने पूर्ण स्वराज्य का प्रेरणाप्रद आदर्श रखने, भारत के विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा के तेज में नवजीवन अनुप्राणित करने, स्वतन्त्रता के आदर्श को प्राप्ति के लिए एक राजनीतिक योजना तैयार करने तथा सारे आन्दोलन को अन्तरराष्ट्रीय और मानव–एकता के आदर्श के मुख्य प्रसंग में रखने का सर्वाधिक श्रेय उन्हीं को हैं।

11.3 जीवन–परिचय

श्री अरविन्द घोष का जन्म 15 अगस्त, 1872 को एक अत्यन्त सम्पन्न परिवार में हुआ था। उनके पिता डॉ. कृष्णधन घोष एक सफल चिकित्सक थे। अरविन्द की प्रारम्भिक शिक्षा लोरेटो कान्वेट स्कूल दार्जीलिंग में हुई। उनके पिता यह चाहते थे कि उन्हें पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति एवं साहित्य के बारे में गहरी जानकारी हो। अतः अरविन्द भी अपने भाईयों के साथ इंग्लैण्ड शिक्षा प्राप्त करने जाते है। उनके पिता उन्हें आई.सी.एस. की परीक्षा दिलाकर भारतीय प्रशासनिक सेवा के साथ जोड़ना चाहते थे। लेकिन इंग्लैण्ड में रहकर ही अरविन्द के मन में राष्ट्रवाद की भावना का विकास हो चुका था। जब 1902 को वे भारत आये तब वे गुप्त आतंकवादी संस्थाओं के सम्पर्क में आये। इससे पूर्व भी वे राष्ट्रवाद से प्रेरित लेख गुप्त नाम से लिखते रहे। उस समय भारत की राजनीतिक स्थितियों में भी व्यापक बदलाव आ गया था। 1905 के बंगाल विभाजन ने घोष को प्रभावित किया और वे राजनीति में सक्रिय हो गये। इस दौरान उनका मूल लक्ष्य कांग्रेस को उदारवादी नेतृत्व से मुक्त। 1908 में उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया, यद्यपि वे आरोपों से मुक्त हो गये। लेकिन बन्दी जीवन में उनमें एक महान परिवर्तन हुआ। वे आध्यात्मकवाद की ओर पहले ही झुके हुए थे पर कारगार में उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण और अधिक प्रखर होकर उभरा। 1910 में वे सक्रिय राजनीति से अलग होकर पांडिचेरी चले गये और वहां जाकर आध्यात्मिकता के संबंध में गहन चिन्तन ओर मनन किया। पांडिचेरी में वे 40 वर्ष तक योग साधना और साहित्यिक क्रिया–कलापों में संलग्न रहें। पांडिचेरी में ही 5 दिसम्बर, 1950 को इस महापुरूष का देहान्त हो गया।

11.4 अरविन्द के राजनीतिक चिन्तन को आध्यात्मिक आधार

अरविन्द घोष के राजनीतिक चिन्तन और कार्य–कलापों को हम तब तक भली–भाँति नहीं समझ सकते जब तक इस आधार को लेकर न चलें कि उनके लिए राजनीति और आध्यात्मिकता के बीच एक घनिष्ट संबंध था। इसी कारण उनकी राजनीति किसी भी अन्य राष्ट्रवाद नेता की राजनीति से भिन्न रही। उनके राजनीतिक चिन्तन का सुदृढ़ आधार उनके गहरे आध्यात्मिक विश्वासों में निहित था और उन्हीं में से उस चिन्तन का विकास हुआ। उनके लिए राजनीति वैयक्तिक, राष्ट्रीय एवं वैश्विक आध्यात्मिक विकास के सिद्धान्त का विस्तार ही थी।

अरविन्द के लिए भारत की स्वाधीनता का अर्थ कोरी राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं था, वरन् यह था कि भारत का लक्ष्य मानव जाति को आध्यात्मिक नेतृत्व प्रदान करना है। आध्यात्मिकता अरविन्द के दर्शन की नींव है। इसमें व्यक्ति की अस्मिता की स्थिति से बाहर निकल कर अपनी अन्तरात्मा को अपना मार्गदर्शक बनाना पड़ता है। अपने अहंकार की तिलांजलि देनी पड़ती है और परमेश्वर के चरणों में समर्पित करना पड़ता है और आत्मा की पुकार के अनुसार काम करना है। अरविन्द ने सार्वभौमिक भ्रातृत्व के लक्ष्य का प्रचार किया। उन्होंने योग का एक रास्ता दिखाया जिससे कोई भी साधक आत्म साक्षात्कार कर सकता था।

श्री अरविन्द इस बात के बार में भी स्पष्ट हैं कि हमारे सामाजिक चिन्तन का प्रारम्भ इस बात से है कि मानव कोई यन्त्र नहीं है, बल्कि वह एक बनता हुआ देवता है। इसी मान्यता के आधार पर व्यक्ति स्वयं भी आध्यात्मिकता में आगे बढ़ सकता है और समाज को आगे बढ़ा सकता है। जीवन के चार पुरूषार्थ धर्म, काम, मोक्ष भी अरविन्द को मान्य है।

श्री अरविन्द घोष का विचार था कि भारत और यूरोप दोनों ही अति की ओर चले है। उनको आशा थी कि भारतीय आध्यात्मवाद और यूरोपीय लौकिकवाद तथा भौतिकवाद के बीच समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

11.5 अरविन्द का राजनीतिक चिन्तन

अरविन्द के मन मस्तिष्ट में राजनीतिक विचारों का उदय इंग्लैण्ड में रहते हुए ही हो गया था, इसलिए भारतीय प्रशासनिक सेवा में न जाकर भारत की राजनीति में सक्रिय होने का निश्चय किया। यद्यपि श्री अरविन्द

घोष 1905–1910 की कालावधि तक भारतीय राजनीति में सक्रिय रहे लेकिन इससे पूर्व एवं पाडिचेरी आश्रम में रहकर जो विचार प्रदान किये वे राष्ट्रीय आन्दोलन को गति देने वाले थे। अपने अल्पावधि की सक्रिय राजनीति के काल में उनकी पहचान एक उग्र विचार धारा वाले विचारक के रूप में की जा रही थी। अरविन्द के राजनीतिक चिन्तन में राजनीति का आध्यात्मिकरण, राष्ट्रवाद, मानवीय एकता आदि की छाया स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। अरविन्द के प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित है–

11.5.1 राष्ट्रवाद की संकल्पना

श्री अरविन्द के अनुसार राष्ट्रवाद केवल एक आन्दोलन तक सीमित नहीं है, वह आस्था का विषय है, वह मानव धर्म है। डॉ. कर्ण सिंह के शब्दों में, "श्री अरविन्द ने यह निर्दिष्ट किया कि भारत केवल भौगोलिक सत्ता नहीं है, यह केवल भौतिक भू–भाग नहीं है, केवल बौद्धिक संकल्पना भी नहीं है। भारत माता स्वयं साक्षात् भगवती है जो शताब्दियों से बड़े प्यार–दुलार से अपनी संतान का पालन–पोषण करती आयी है। परन्तु आज वह विदेशी शासन से पदाक्रांत होकर कराह रही हैं, उसका स्वाभिमान टुकड़े–टुकड़े हो चुका है, उसका गौरव धूल में मिल गया है।" भारत माता के पाँवों में पड़ी बेड़ियों को काटना, उसकी संतान का परम कर्तव्य था। श्री अरविन्द के राष्ट्रवाद का यही मूल मंत्र है।

11.5.2 स्वराज्य एवं राष्ट्रीय विकास

श्री अरविन्द की "स्वराज" की मांग राष्ट्रवाद का स्वाभाविक अंग है, क्योंकि राष्ट्र विदेशी सता के आधिपत्य में रहकर अपना विकास नहीं कर सकता है। उनका कहना है कि–

- पराधीन राष्ट्र अव्यवस्थित हो जाता है और इसी से वह अपनी शक्ति खो देता है।
- उसमे रहने वाले व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी जाती रहती है क्योंकि विदेशी सरकार किसी पराधीन चिन्तन करने वाले नागरिक को पसन्द नहीं करती।
- केवल व्यक्तिगत स्वाधीनता के लिए ही राष्ट्र की स्वाधीनता आवश्यक नहीं है, अपितु राष्ट्र के पूर्ण विकास के लिए भी उसकी आवश्यकता है। इसीलिए विदेशी राज्य न केवल अप्राकृतिक है वरन् राष्ट्र के लिए घातक है। राष्ट्र की स्वतन्त्रता राष्ट्र के विकास की पहली शर्त है।

स्वराज्य की प्राप्ति तथा ब्रिटिश शासन के संबंध में उदारवादियों के दृष्टिकोण की अरविन्द घोष ने कड़े शब्दों में निन्दा करते हुए स्वाधीनता के तीन प्रकार बताए– 1. राष्ट्रीय स्वाधीनता, 2. प्रशासन की स्वाधीनता, 3. व्यक्ति की स्वाधीनता। इनके बिना न तो व्यक्ति का विकास हो सकता है और न ही राष्ट्र का विकास हो सकता है।

11.5.3 निष्क्रिय प्रतिरोध

अरविन्द ने उदारवादियों की "प्रार्थना, याचिक तथा विरोध" की संवैधानिक पद्धति को एकदम ठुकरा दिया। अरविन्द ने देशवायिों का कांग्रेस के नाम नेतृत्व को अस्वीकार करके निष्क्रिय प्रतिरोध की पद्धति का अनुसरण करने का आह्यान किया। इस पद्धति में श्री अरविन्द ने निम्नलिखित बातों को सम्मिलित किया–

- स्वदेशी का प्रसार और विदेशी माल का बहिष्कार।
- राष्ट्रीय शिक्षा का प्रसार, राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं की स्थापना।
- सरकारी अदालतों और न्यायालयों का बहिष्कार।
- जनता द्वारा सरकार से कोई सहयोग न करना एव
- सामाजिक बहिष्कार जिसका कि उन लोगों के प्रति दण्ड के रूप में सहयोग किया जाए तो निष्क्रिय प्रतिरोध के विपरीत आचरण करते हुए सरकार को सहयोग दें।

इन साधनों को अपनाने से भारत की आर्थिक स्थिति में सुधार हो सकेगा, देशवासी आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बन सकेंगे तथा भारतीय संस्कृति का गौरव बढ़ाया जा सकेगा।

11.5.4 व्यक्ति और राज्य के संबंध

अरविन्द का कहना था कि व्यक्ति केवल सामाजिक इकाई ही नही है वरन् अपने आप में एक आत्मा और प्राणी है जिसका अपना अस्तित्व है। उसे एक ऐसा प्राणी मानना चाहिए जिसको अपने व्यक्तिगत सत्य एवं नियमों

के साथ ही साथ सामूहिक अस्तित्व के मध्य और नियमों में अपना स्वाभाविक और निश्चित भाग पूरा करना है। अरविन्द ने व्यक्ति को राज्य का दास मानने से इन्कार करते हुए कहा कि वह सर्वथा अनुचित है कि राज्य व्यक्ति पर अपना पूर्ण नियंत्रण या स्वामित्व जताएं क्योंकि व्यक्ति की आत्मा के विकास और उसके स्वाभाविक उत्थान केलिए अनिवार्य है कि उसे स्वतन्त्रता मिले। उन्होंने राज्य की सर्वोच्चता को चुनौती दी। इस प्रकार व्यक्ति अपने स्तर पर सामूहिक प्रयास के माध्यम से अपना विकास कर सकता है और राज्य को चाहिए कि वह व्यक्ति के कार्यों में कम से कम हस्तरक्षेप करें।

11.5.5 राजनीतिक एवं सामाजिक सुधार

श्री अरविन्द का कहना था कि सामाजिक सुधारों से पहले राजनैतिक सुधार होने चाहिए। जब तक राष्ट्र के हाथ में अपनी राजनीतिक बागडोर नहीं होगी तब तक उनकी सामाजिक स्थिति नहीं सुधरेगी और न ही बौद्धिक रूप से उसमे जान पड़ेगी। उन्होंने इस संबंध में इटली के अत्यन्त प्रभावशाली विद्वान मेजिनी का उल्लेख किया जिन्होंने अपनी सारी साहित्य प्रतिभा को पलीता लगाकर राजनीति में यह कहकर कूदना पसन्द किया कि इटली का कला और साहित्य हमारी मजारों से जाना जायेगा। यदि समाज सुधार का मतलब पश्चिम तरह के समाजों की नकल करना मात्र हो तो उससे कुछ बनने वाला नहीं है। किसी भी तरह का सामाजिक सुधार हो वह राजनैतिक स्वतन्त्रता के बिना प्रभावी होने वाला नहीं है।

11.5.6 धर्म और राजनीति

श्री अरविन्द अपने में इस बारे में बिल्कुल स्पष्ट है कि धर्म को राजनीति से अलग न रखें। भारत जैसे धर्म–प्रधान देश में किसी बात पर जनमत आकृष्ट करना हो तो इस बात में धर्म का तत्व अवश्य डालना पड़ेगा। इसलिए धर्म और राजनीति को अलग–अलग नहीं किया जा सकता है। शासक का सदा से ही यह उत्तरदायित्व रहा है कि वह सभी धार्मिक अनुष्ठानों का संरक्षण करें। परन्तु यह संरक्षण केवल स्वाधीन देश में ही सम्भव है। आखिर जीवन का अंतिम ध्यये मोक्ष है लेकिन उसकी प्राप्ति पराधीनता के वातावरण में नही की जा सकती क्योंकि इसमें व्यक्ति की अन्य स्वतन्त्रताओं के साथ–साथ धार्मिक स्वतन्त्रता पर भी प्रतिबन्ध होता है। अरविन्द ने तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर माना कि किसी भी भारतीय की आत्मा स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि राजनैतिक स्वाधीनता के बिना आत्मिक स्वतंत्रता की कल्पना कैसे की जा सकती है। पूर्ण विकास के लिए व्यक्ति को अपनी सोच न केवल अपने परिवार एवं समाज तक सीमित रखनी चाहिए बल्कि देश और विश्व की समस्याएँ उसके सामने होती है। परन्तु जब हम परतन्त्र होंगे तो विश्व की संस्थाओं को कैसे भाग ले सकते है। यदि कोई राष्ट्र राजनैतिक रूप से मृत है तो उसका कोई महत्व नहीं हैं।

11.5.7 राज्य के आंगिक सिद्धान्त की आलोचना

श्री अरविन्द ने राज्य के आंगिक सिद्धान्त की आलोचना की हैं। वे केवल समाज के संदर्भ में आंगिक समतुलना है। वे राज्य को अंग सदृश न मानकर केवल एक यन्त्र मानते है– ऐसा यन्त्र जिसके द्वारा नियन्त्रित शिक्षा या राज्य के इसी तत्व का प्रतीक है। श्री अरविन्द ने यह व्यक्त किया था कि हमारे सामान्य विकास के लिए राज्य एक सुविधा है। यह एक भद्दी सुविधा अपने आप में साध्य कदापि नहीं बनने देना चाहिए। श्री अरविन्द के चिन्तन में जहाँ राज्य केवल यन्त्र मात्र है और समाज सम्पूर्ण न होकर केवल जीवन का एक पक्ष है वहां सर्वाधिक महत्व सत्य, आत्मा एवं ईश्वर का है जो सर्वव्यापी है।

11.5.8 राज्य के कार्य संबंधी विचार

श्री अरविन्द राज्य के कार्य क्षेत्र को सीमित करने के पक्षधर हैं। उनके अभिमत में राज्य का कार्य केवल बाधाओं को दूर करना और अन्याय को रोकना आदि है। स्पेन्सर तथा श्री अरविन्द के विचारों में काफी समानता देखने को मिलती है। दोनों का मत है कि राज्य को व्यक्ति के मामलों में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए, लेकिन अरविन्द व्यक्तिवाद के समर्थक नहीं थे, ग्रीन की भांति व्यक्ति के सर्वांगीण विकास तथा आत्म–विकास के पक्षपाती थे। वे समाजवादी दर्शन के सर्वहितकारी आर्थिक कार्यक्रमों से प्रभावित थे। उनका तर्क था कि व्यक्ति का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है तथा राज्य का उद्देश्य सामाजिक एवं आर्थिक आदर्शों की प्राप्ति हैं।

11.5.9 मानवीय स्वतन्त्रता पर बल

श्री अरविन्द ने मानवीय स्वतंत्रता को मानव द्वारा स्वीकृत कानूनों का पालन माना है। पर्यावरण से मानव का तारतम्य तभी स्थापित हो सकता है, जबकि प्रत्येक प्राणी अपना स्वयं का नैसर्गिक विकास प्राप्त कर सके।

तब तक यह स्थिति प्राप्त न हो तब तक कानून द्वारा स्थापित बाह्य नियन्त्रणों को मानना उचित है। नियन्त्रण स्थापित करने वाले कानून स्थायी नहीं माने जाने चाहिए। वे केवल उद्देश्य–प्राप्ति तक ही स्वीकृत किये जाए तत्पश्चात् सच्चे कानून की स्थापना जो कि अन्तरात्मा द्वारा होगी, बाह्य बाध्यकारी कानून का स्वतः स्थान ले लेगी। वास्तविक स्वतन्त्रता स्वनियन्त्रित आन्तरिक स्वतन्त्रता है। यह बाह्य लौकिक स्वतन्त्रता से भी अधिक वास्तविक है। आन्तरिक स्वतन्त्रता एवं आत्मिक स्वाधनता जीवन का सार है।

11.5.10 लोकतंत्र संबंधी विचार

श्री अरविन्द ने लोकतंत्र की धारणा को आर्थिक एवं राजनीतिक व्यक्तिवाद का प्रतिफल माना है। व्यक्ति के आर्थिक एवं राजनीतिक हितों की सुरक्षा लोकतंत्र का उद्देश्य रहा है। किन्तु लोकतांत्रिक धारणा ने असमानता, सम्भ्रांत वर्ग का शासन, वर्ग भेद तथा शोषण को जन्म दिया। श्री अरविन्द ने लोकतंत्र को सूक्ष्म दृष्टि से देखा है। वे लोकतंत्र को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पोषक नहीं मानते। व्यक्ति का समष्टिकरण उसके व्यक्तित्व को दबा देता है। जनता के शासन के नाम पर कतिपय धनी एवं कुलीन लोगों का ही शासन स्थापित हुआ है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता एवं समानता केलवल नारेबाजी तक ही सीमित रह गयी है। लोकतांत्रिक संरचना के पार्श्व में एक शक्तिशाली अल्संख्यक नेतृत्व पनपा है जो पूरे शासन पर छाया रहता है। आधुनिक प्रतिनिधि मूलक लोकतंत्र एक मिथ्या है। विधायकों या सांसदों द्वारा जनप्रतिनिधित्व का आदर्श भरना दंभपूर्ण है। जनप्रतिनिधित्व के स्थान पर कुछ व्यावसायिक हित बन कर रह गया हैं बहुसंख्यक दल का शासन व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा न कर उसे स्वार्थपूर्ति का साधन बनाता रहा है। वे लोकतंत्र के इन दोषों के निवारण के लिए पूर्ण सामूहिक जीवन को जागृत करना चाहते हैं। उन्हें आधुनिक लोकतंत्र की केन्द्रीकरण की प्रवृति दोषयुक्त लगती है उनके अनुसार राजनीतिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण की स्थापना कर लोकतंत्र के दोषों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

11.5.11 समाजवादी संबंधी विचार

श्री अरविन्द समाजवाद को व्यक्तिवाद, राष्ट्रवाद तथा विश्व बन्धुत्व का प्रतीक मानते हैं। शोषित श्रमिकों को नवजीवन प्रदान करने में समाजवाद का जो महत्व रहा है उसे श्री अरविन्द ने सराहा है लेकिन वे समाजवादी विचारधारा के प्रमुख सिद्धान्त राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण के पक्ष में नहीं थे। वे समाजवाद के सामाजिक एवं आर्थिक पक्ष के समर्थक थे। वे सामाजिक एवं राजनीतिक क्रियाकलापों को पृथक–पृथक रखने के पक्षपाती है।

11.5.12 राष्ट्रीय आत्म–निर्णय के सिद्धान्त का समर्थन

साम्राज्यवाद के प्रबल विरोधी होने के कारण श्री अरविन्द ने प्रथम विश्व युद्ध के समय प्रचारित राष्ट्रीय आत्म–निर्णय के सिद्धान्त को पूर्ण समर्थन प्रदान किया। उनके अनुसार राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का नियम स्वतन्त्रता एवं कानून का नया कीर्तिमान स्थापित करता है। यह एक उच्चादर्श का प्रतीक है। इस विचार से प्ररेणा प्राप्त कर अन्तरराष्ट्रीय एकता की स्थापना बलवती हो सकती है, किन्तु श्री अरविन्द ने आत्म–निर्णय के सिद्धान्त को युद्ध एवं क्रांति का पूर्ण शमनकर्ता नहीं माना।

11.5.13 विश्व संगठन की स्थापना की आवश्यकता पर बल

राज्यों की पारस्परिक कलह एवं नियन्त्रण प्राप्त करने की नीति के कारण युद्ध एवं साम्राज्यवाद को निर्मूल नहीं किया जा सकता। इसका अन्त करने के लिए विश्व–संगठन की स्थापना आवश्यक है। दो स्तरों पर विश्व–संगठन की स्थापना सम्भव है। पहले स्तर पर स्वतन्त्र राष्ट्रों को स्वयं संगठित होने की आवश्यकता है। इसके पश्चात् संगठित राष्ट्रों को पास्परिक मतभेद व स्वार्थ मिटाकर अन्तरराष्ट्रीय एकता का आदर्श स्थापित करना है। इन दोनों स्तरों को पार करके ही एक सच्चा सार्वभौम धर्म स्थापित हो सकता है, जिससे जो मानवीय एकता का आदर्श स्थापित किया जा सके। राष्ट्रवाद मानवीय एकता की एक माध्यमिक इकाई है। राष्ट्रवाद से ही विश्व–एकता की ओर अग्रसर होता है। केवल राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक संगठनों की स्थापना मात्र से विश्व एकता अनुभूत नहीं होती। राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना मात्र से मानवीय धर्म विकसित नहीं होगा।

11.6 सारांश

निःसन्देह, अरविन्द भारत के महान राजनीतिक विचारकों में से एक थे। वे एक महान योगी, सन्त, मानवता के प्रेमी और दार्शनिक बौद्धिक थे। वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने पूर्ण स्वराज्य की मांग की। उन्होंने आध्यात्मिक

राष्ट्रवाद में एक जान फूंकी और मातृभूमि के देवी स्वरूप को प्रस्तुत किया। विदेशी शासन की पूर्ण मुक्ति के आदर्श का प्रतिपादनन करके श्री अरविन्द

ने राष्ट्रीय आन्दोलन को गति प्रदान की। इसके अलावा मानवीय एकता पर बल देकर विश्व शांति, बन्धुत्व एवं आपसी सहयोग पर बल दिया जो आगे चलकर संयुक्त राष्ट्र संघ स्थापना में निर्णायक साबित हुई।

11.7 अभ्यास प्रश्नावली

श्री अरविन्द घोष के राजनीतिक विचारों को स्पष्ट कीजिए।

1. अरविन्द घोष के राजनीतिक चिन्तन के आध्यात्मिक आधार पर प्रकाश डालिए।
2. अरविन्द को राष्ट्रवाद की संकल्पना का उल्लेख कीजिए।
3. स्वराज्य प्राप्ति के लिए अरविन्द कौन से साधन अपनाने पर बल देते थे?
4. अरविन्द के लोकतंत्र संबंधी विचार बताओ।
5. मानवीय एकता पर अरविन्द घोष की क्या राय है?
6. अरविन्द घोष का जन्म कब हुआ?
7. राजनीति का आध्यात्मिकरण करने का श्रेय किसे जाता है?
8. अरविन्द घोष ने अपने जीवन का अन्तिम समय कहाँ व्यतीत किया?
9. अरविन्द का औपचारिक रूप से भारतीय राजनीति में प्रवेश कब हुआ?
10. घोष ने कितनी स्वाधीनताओं का उल्लेख किया है?

अध्याय:—12
हिन्दुत्व : बी.डी. सावरकर और एम.एस. गोलवकर

सरंचना

12.1 उद्देश्य

12.2 प्रस्तावना

I. विनायक दामोदर सावरकर

12.3 सावरकर एवम् हिन्दू महासभा

12.4 हिन्दूत्व की अवधारणा

12.4.1 राष्ट्र या प्रादेशिक एकता

12.4.2 जाति अथवा रक्त संबंध

12.4.3 संस्कृति

12.5 तुष्टिकरण की नीति में अविश्वास

12.6 हिन्दूत्व व राष्ट्रवाद

12.7 मिश्रित विद्यालयों की स्थापना पर बल

12.8 हिन्दूत्व व राष्ट्रीय सेवा

12.9 राजनीति का हिन्दूकरण

12.10 सावरकर और अखण्ड भारत

12.11 स्वराज्य संबंधी विचार

12.12 सावरकर व अहिंसा

12.13 समाज सुधारों पर सावरकर के विचार

12.14 हिन्दूत्व का विकास व राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

II. एम.एस. गोलवलकर

12.15 सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

12.16 क्षेत्रीय राष्ट्रवाद को अस्वीकार

12.17 हिन्दू राष्ट्र और अल्पसंख्यक वर्ग

12.18 गोलवरकर का धर्मनिरपेक्षता पर विचार

12.19 राजनीतिक विचार

12.20 परिवर्तन के दृष्टिकोण

12.21 नकारात्मक व सकारात्मक हिन्दूत्व

12.22 गोलवलकर के हिन्दू राष्ट्रवाद की आलोचना

12.23 सारांश

12.24 अभ्यास प्रश्नावली

12.1 उद्देश्यः–

हिन्दूत्व व हिन्दू दर्शन अपने आप में एक व्यापक जीवन दर्शन है। जिसका क्षेत्र व्यापक है। इसकी पहचान एक इस प्रकार के दर्शन के रूप में होती है, जो मनुष्य को जीवन जीना सीखाता है और विश्व की अन्य संस्कृतियों व दर्शन को स्वीकार कर उन्हें भी सम्मान देता है। इस अध्याय के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैः–

- हिन्दूत्व की अवधारणा को जानना।
- आधुनिक हिन्दूत्ववादी विचारक सावरकर व गोलवलकर के विचारों को जानना।
- राष्ट्रीय आन्दोलन व स्वतन्त्रता संग्राम के परिपेक्ष्य में हिन्दूत्वादी विचारकों के विचारों को समझना।
- राष्ट्र में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को जानना।
- सामाजिक परिवर्तन में हिन्दूत्ववादी विचारकों का योगदान।
- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का हिन्दूत्व को संरक्षण में योगदान।

12.2 प्रस्तावनाः–

हिन्दू व हिन्दुत्व भारतीय इतिहास, राजनीति, धर्म व जीवन दर्शन अहम पहलू रहा है। इसे विश्व का सबसे प्राचीनतम जीवन दर्शन के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसका संबंध मानव सभ्यता व संस्कृति के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। इसीलिए इसे एक ऐसे जीवन दर्शन के रूप में स्वीकार किया जाता है जिसने मानवता को सभ्यता, संस्कार, सुसंस्कृत, मूल्यों, नैतिकता का पाठ पढ़ाया जिसे स्वीकार कर विश्व की अन्य सभ्यता व संस्कृतियां फली फूली। ये अपने आप में एक विशाल जीवन दर्शन है जिसमें सभी को आत्मसात करने की क्षमता है। जिसमें मानवीय मूल्यों व गरिमा का सर्वोच्च स्थान हैं । संकीर्णता का इसमें कोई स्थान नहीं है। जिसमें जीवन इतिहास, भूगोल, दर्शन इत्यादि तत्वों को जोड़कर व्याख्या की गई है। प्रकृति प्रमुख आयामों में से एक है। इसकी विशालकाय क्षमता जोड़ने की नीति, पास्परिक सामन्जस्य की भावना ने इसे विश्व का नेतृत्व करने का अवसर दिया। वेद, पुराण, उपनिषद इसके मूल में रहे है। इसलिए इसे सनातन या वैदिक धर्म के रूप में स्वीकार किया गया। परन्तु धीरे–धीरे इसकी पहचान हिन्दूत्व के रूप में होने लगी और वही बनकर कर रह गयी। सामान्यतया हिन्दूत्व का संबंध भूगोल से है अर्थात जो सिन्धू नदी के आस पास रहते आये है उनका संबंध चाहे किसी भी धर्म या मत से हो वे स्थायी हिन्दू हैं। इस तरह हिन्दू शब्द अपने आप में सीमित है जो इसे निर्धारित लोगों तक ही सीमित करता है और व्यापकता के विरूद्ध बनाता है। कालान्तर में जो विघटना, बिखराव, जड़त्व, संकीर्णता जैसे तत्व हावी हुए जिसके पीछे मूल कारक उसकी शाब्दिक व्याख्या रहे। जिसके कारण ये हर आदमी को जोड़ने की बजाए एक सीमित दायरे में रह गए और इसका लाभ उन लोगों ने उठाने की कोशिश की जो इसके व्याख्याकार, तथाकथित हर्ताकर्ता। वे शक्तियों थी जिन्होने इसके दर्शन व मापदण्डों की व्याख्या अपनी सुविधानुसार करना शुरू किया परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म में कई विकृतियां आयी जिन्हें समय समय पर कई सुधार को ने दूर करने का प्रयास किया परन्तु उसका वह स्वरूप नहीं लौटा सके जो उसका वास्तविक स्वरूप था। जो मानवीय मूल्यों व गरिमा को सर्वोच्च मानता था। जाति, धर्म, कर्मकाण्ड, उंच नीच का कोई स्थान नहीं था, परन्तु दोषपूर्ण मान्यताएं इसके साथ इस तरह जुड़ी की ऐसा बना दिया कि वही उसकी वास्तविक मापदण्ड व जीवन दर्शन है। जिनके विरूद्ध आवाज समय समय पर विभिन्न सुधारकों ने उठायी जैसे भगवान महावीर, बुद्ध, गुरू नानक, कबीर, संत रेदास, राजा राम मोहन राय, विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, गांधी, सावरकर, नेहरू व अम्बेडकर ने अपने विचारों में खुलकर इन दोषपूर्ण मान्यताओं का न केवल विरोध किया अपितु इन्हें सनातन धर्म के अस्तित्व के लिए घातककारी माना। इन दोषपूर्ण मान्यताओं का असर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है इन्हीं के चलते हिन्दू धर्म में बिखराव हुआ, जाति बंधनों की झंझीरों ने धर्म का गला घोटा, संस्कारों पर कर्मकाण्डों को हावी करने से आम आदमी का जीवन नरकपूर्ण हो गया जिसकी परिणित हमें भारत में अन्य धर्मो के उदय व फैलाव के रूप में स्पष्ट रूप से देख सकते है। इस तरह जो जीवन दर्शन का प्रतीक था, जो केवल धर्म तक सीमित न रहकर बल्कि मनुष्य जीवन कैसे जीये, जीवन का आधार तत्व क्या हो, अर्थात् इसका संबंध **"जीवन जीने की कला"** से था जिसमें प्रतिकात्मक तत्वों से कोई सरोकार नहीं।

I. विनायक दामोदर सावरकर

जैसा कि पूर्व में भी हमने स्पष्ट लिखा है कि कई व्याख्याकारों ने हिन्दू धर्म की व्याख्या समय समय पर कर उसे पुनर्जीवित करने तथा सशक्त आधार देने का प्रयास किया। जिसमें आधुनिक हिन्दूवादी चिन्तक के रूप में विनायक दामोदर सावरकर का प्रमुख स्थान है।

वी.डी. सावरकर का जन्म 28 मई 1883 को नासिक (महाराष्ट्र) के निकट थगुर गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। यह एक ऐसा दौर था जब भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम हो चुका था तथा राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी नवीन करवट ले रहा था। इस तरह बाल्यकाल से ही उनके ऊपर राष्ट्रीय राजनीतिक गतिविधियों का प्रभाव पड़ा। उस समय उग्रवादी व क्रांतिकारी विचारधारा पूरे परवान पर थी। बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व में उग्रवादी विचारधारा से जुड़ी विचार धारा की गतिविधियां सम्पूर्ण भारत में फैल चुकी थी तथा क्रांतिकारी गतिविधियां भारत के साथ साथ ब्रिटेन में भी सक्रिय थी। इन दोनों का सावरकर पर पूरा प्रभाव पड़ा और उनका झुकाव इन गतिविधियों की तरफ होने लगा। जब आयुक्त रैण्ड की हत्या चाफेकर के द्वारा की गई तब चाफेकर को फांसी की सजा दी गई। सावरकर ने चाफेकर को महान बलिदान माना और उनके रास्ते पर चलने का संकल्प लिया। लोकमान्य तिलक का भी सावरकर पर प्रभाव पड़ा।

क्रांतिकारी आन्दोलन से प्रेरित सावरकर ने महाराष्ट्र में **"मित्र मेला" तथा "अभिनव भारती"** जैसे गुप्त संगठनों की स्थापना की थी और इण्डिया हाउस लन्दन में रहते हुए क्रांतिकारी गतिविधियों को जारी रखना। उनकी इन गतिविधियों के कारण इण्डिया हाऊस को बंद कर दिया गया। जज जैक्सन की हत्या के आरोप सावरकर पर भी लगा। जब एक कैदी के रूप में 1910 को भारत लाया जा रहा था तब वे फ्रांस की भूमि पर जहाज से कूद गए। इस तरह वे इस हत्या के आरोप में 27 वर्ष अण्डमान जेल में रहे।

उनके विचारों में हिन्दू धर्म, संस्कृति तथा हिन्दू राष्ट्र के पुनरूत्थान के तत्वों की प्रधानता रही है। अपने इन्हीं विचारों को साकार रूप देने के लिए हिन्दू महासभा के साथ जुड़े। उन्हें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे संगठनों के साथ अखण्ड भारत तथा हिन्दू राष्ट्रवाद की विचारधारा के प्रवर्तक के रूप में भारतीय राजनीति में स्थान दिया गया। इस प्रकार वीर सावरकर तिलक की भांति हिन्दुत्व और हिन्दू राष्ट्रवाद के प्रबल समर्थक थे तथा हिन्दू सांस्कृतिक और दार्शनिक उपलब्धियों में उन्हें गहन विश्वास था। उनका मानना था कि हिन्दुओं के संगठित होने से भारत को गुलामी से मुक्ति मिल सकती है।वे एक व अखण्ड भारत के प्रबल समर्थक थे परन्तु स्वतन्त्र भारत के दो टूकड़े उन्हें किसी भी रूप में स्वीकार्य नहीं थे।

सावरकर का यह भी मानना था कि हिन्दू के आपसी बिखराव का दूसरे फायदा उठा रहे है। इसीलिए न केवल हिन्दूओं को संगठित होने की जरूरत है, अपितु जाति या अन्य आधार पर जो आपसी भेदभाव है वह समाप्त होना चाहिए। उसके समाप्त हुए बिना हिन्दू में कभी भी एकता स्थापित नहीं की जा सकती।

12.3 सावरकर एवं हिन्दू महासभाः–

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि वीर सावरकर हिन्दूत्व के प्रमुख प्रवर्वता व विचारक थे। अतः उन्होनें अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए हिन्दू महासभा के साथ जुड़े और दिसम्बर 1937 के हिन्दू महासभा के अहमदाबाद अधिवेशन में अध्यक्ष बने। सावरकर से पहले हिन्दू महासभा के विचारों में स्पष्टता नहीं थी। वे महासभा के सुस्पष्ट विचारधारा के प्रथम रचनाकार थे। एक सिद्धान्त के रूप में "हिन्दूत्व" व "हिन्दू राष्ट्र" की विचारधारा का निर्माण किया। इस तरह सावरकर की विचारधारा हिन्दूत्व पर केन्द्रित थी। मुस्लिम व अन्य धर्मों के प्रति उनका रूख कांग्रेस व गांधी से हटकर था। उनका कहना था कि जितना समर्पण व त्याग इस राष्ट्र के लिए हिन्दू कर सकता है उतना मुस्लिम व इसाई नहीं कर सकते। इस तरह की भावना भारत को कभी भी हिन्दू मुस्लिम एकता के सुत्र में नही बांध सकती। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत की आजादी व पुर्ननिर्माण में हर उस भारतीय का योगदान रहा है जिसने सकारात्मक सोच के साथ देश को अपनी कुर्बानी दी। ऐसे लाखों बेनाम राष्ट्रभक्त थे जिन्होंने सब कुछ राष्ट्र को समर्पित किया। हम उनकी राष्ट्रवादिता को किसी धर्म विशेष के साथ नहीं जोड़ सकते। इस तरह की एक पक्षीय या कट्टर सोच हमारे समाज व मुल्क को किस ओर ले जा सकती है इसका आकलन इस बात से लगाया जा सकता है कि जब गांधी जी की हत्या हुई तब नाथुराम गौडसे की इसी प्रकार की विचारधारा से प्रभावित थे। इस तरह की सोच कभी भी देश को आगे नहीं बढ़ा सकती। यही कारण है कि इस प्रकार की सोच का स्वतन्त्र भारत में कोई स्थान नहीं रहा। हमें यह भी नहीं

भूलना चाहिए कि पाकिस्तान इसी तरह कट्टरवादी सोच के साथ अस्तित्व में आया उसका परिणाम हमारे सामने है। किसी भी देश या समाज के विकास के लिए सबका साथ सबका विकास अनिवार्य जरूरत है। किसी एक समुदाय को नजरअंदाज करके विकास के सपनों को साकार नही किया सकता।

12.4 हिन्दुत्व की अवधारणाः–

सावरकर ने अपनी पुस्तक "हिन्दुत्व" में हिन्दू को परिभाषित करते हुए कहा कि हिन्दू वह है जो सिन्धु नदी से समुद्र तक सम्पूर्ण भारतवर्ष को अपनी पितृभूमि और पुण्य भूमि मानता है। सावरकर ने हिन्दुत्व अथवा हिन्दू होने के तीन कसौटियां बताईः–

12.4.1 राष्ट्र या प्रादेशिक एकताः– सावरकर का विश्वास था कि क्षेत्रीय या प्रादेशिक एकता की भावना का संचार करती है। एक हिन्दू के मन में सिन्धु के ब्राह्मपुत्र तक हिमाचल से कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण भौगोलिक राष्ट्र के प्रति अनुराग होना स्वाभाविक है। इस तरह भूगोल के आधार पर हिन्दुत्व की व्याख्या की।

12.4.2 जाति अथवा रक्त संबंधः– सावरकर के अनुसार हिन्दूत्व का दूसरा तत्व जाति अथवा रक्त संबंध है। हिन्दू वह है जिसकी नसों में उन लोगों का रक्त बहता है जिसका मूल स्त्रोत वैदिक सप्त सिंध के हिमालय प्रराष्ट्र में बसने वाली जाति थी। सावरकर ने किसी जातिगत या नस्लगत श्रेष्ठता का सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया बल्कि इस तथ्य पर जोर दिया कि सदियों के ऐतिहासिक जीवन के फलस्वरूप हिन्दुओं में ऐसी जातिगत विशेषताऐं विकसित हो गई ळें

12.4.3 संस्कृतिः– हिन्दुत्व होने की तीसरी कसौटी संस्कृति है। जिस व्यक्ति को हिन्दू सभ्यता व संस्कृति पर गर्व है व हिन्दू है। इस तरह सावरकर हिन्दू संस्कृति को विश्व की श्रेष्ठतम संस्कृति मानते थे।

इस प्रकार सावरकर के द्वारा उपरोक्त तीनो कसौटियों के आधार पर हिन्दू शब्द की व्याख्या की गई। जिसमें भूगोल, समाज विज्ञान व इतिहास तीनो पहलूओं पर केन्द्रीत है। और यह कहा कि इन तीनों को हिन्दू राष्ट्रवाद के अनिवार्य बताया। उन्होंनें कांग्रेस द्वारा प्रतिपादित "भारतीय राष्ट्रवाद" के मत से असहमति प्रकट की जिसके अनुसार राष्ट्रवाद प्रादेशिक होता हे। अतः भारत में पैदा और पोषित सभी व्यक्ति बिना जाति और भेदभाव के भारतीय राष्ट्र का निर्माण करते है। सावरकर के अनुसार राष्ट्रीयता हेतु केवल सामान्य प्रदेश का होना जरूरी नहीं है वरन् प्रजातीय, भाषाई, धार्मिक तथा अन्य प्रकार की एकता का होना भी अनिवार्य है। यदि जनता पर प्रादेशिक राष्ट्रीयता थोपी जाए, जैसा कि पौलेण्ड और चैकोस्लोवाकिया में किया गया, तो इस प्रकार का राष्ट्र सही अर्थो में जीवित नहीं रह सकता।

सावरकर ने कहा कि हिन्दुत्व वह वस्तु है जिसे कभी खोया नहीं जा सकता। भारतीय राष्ट्रवाद जैसे बात करना बेमानी है जो न कोई चीज है और न ही कोई हो सकती है। इस तरह राष्ट्र में सदैव हिन्दू राष्ट्र ही रहा है और भविष्य में भी सदैव हिन्दू राष्ट्र ही रहेगा। सावरकर ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि मुसलमान व ईसाई उस तरह भारत को प्यार नहीं दे सकते जितना एक हिन्दू देता है। उनके इस विचार की व्यापक आलोचना हुई तथा इस विचार को स्वीकृति नहीं मिली। आलोचको का कहना था कि भारतीय राष्ट्रवाद का संबंध उस हर व्यक्ति से है जो इस मातृभूमि पर पैदा हुआ। इसके अलावा सावरकर के हिन्दूत्व की परिभाषा के आधार पर भी विरोध किया गया कि भारत में रहने वाला अधिकांश मुस्लिम व ईसाई यहीं पैदा हुए है यहां की संस्कृति व समाज के अनुरूप जीवन जीता है तो उनके विचारों के अनुसार जब यहां के सभी लोगों का प्रादेशिक एकता, रक्त संबंध व संस्कृति से जुड़ा है तो मुसलमानों व ईसाईयों को राष्ट्र से अलग नहीं किया जा सकता और देश की आजादी व राष्ट्रवाद की भावना को प्रोत्साहन देने में हर उस भारतीय का योगदान है जिसने अपने स्तर पर हर सम्भव योगदान दिया। राष्ट्रवाद को धर्म के आधार पर बाधक उसका दायरा सीमित किया जा सकता है और राष्ट्र के अल्पसंख्यक समुदाय को इस मुख्यधारा से तोड़कर अलग थलग किया जा सकता है जो कांग्रेस व गांधी को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं थी। क्योंकि इसी तरह की मुस्लिम लीग व मोहम्मद अली जिन्ना जैसे नेताओं की सोच के चलते देश विभाजन की पीड़ा झेल रहा था और इसमें एंकाकी राष्ट्रवाद की धारणा इसमें आग में घी का कार्य कर रही थी। इस तरह सावरकर का अधिमत हिन्दुत्व के जोश की पराकाष्ठा थी कि मुसलमान हिन्दू राष्ट्र के अंग नहीं बन सकते थे।

12.5 तुष्टीकरण की नीति में अविश्वासः–

सावरकर का तुष्टीकरण की नीति में विश्वास नहीं था। वे मुसलमानों के सहयोग का स्वागत तो करते थे परन्तु उन्हें यह विश्वास था कि स्वराज्य मुसलमानों के सहयोग के बिना भी प्राप्त किया जा सकता है। उन्होनें कांग्रेस की उन नीतियों का विरोध किया जिसमें मुसलमानों को स्वतन्त्रता संग्राम में कुछ ज्यादा महत्व दिया जा रहा था। उनके अनुसार इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। इस तुष्टीकरण की नीति के कारण ही हिन्दू राष्ट्रवाद की अवधारणा कमजोर हुई है।

12.6 हिन्दुत्व और राष्ट्रवाद एक सिक्के के दो पहलूः–

वीर सावरकर ने हिन्दूत्व और राष्ट्रवाद को भारतीय सन्दर्भ में यह एक सिक्के के दो पहलू है और इन दोनों के बीच किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। उनकी मान्यता थी कि भारत भक्त हुए बिना हिन्दू नाम सार्थक नहीं है। भारत हिन्दुओं की पितृ–भूमि और पुण्यभूमि हैं, इसलिए विदेशी शासन को उखाड़ फैकने हेतु राष्ट्रीय संघर्ष में सबसे आगे हिन्दू ही है। सावरकर ने अपने हिन्दुत्व में संकीर्णता का कोई स्थान नहीं दिया उन्होंने हिन्दू को संगठित होने की प्रेरणा दी तथा हिन्दूओं में व्यापत अस्पृश्यता का विरोध किया, हिन्दू मंदिरों में अछुतों के प्रवेश का समर्थन किया और यह कहा कि अस्पृश्यता हिन्दू एकता के लिए सबसे घातक है इसके कारण हिन्दूओं में आपसी फूट, बिखराव फैला है जिसके कारण हिन्दू खण्डित हो गए। जब ऐसी स्थिति रहेगी तो राष्ट्रवाद कभी भी सशक्त नहीं हो सकता है। अस्पृश्यकता के चलते हिन्दू का एक बड़ा भाग हिन्दुत्व से अलग हो रहा हे। जिसका लाभ मुस्लिम व ईसाई उठाकर अपनी ओर उन्हें शामिल कर रहे है। उनका कहना था कि छुआछुत का यह व्यवहार सम्पूर्ण मानवता के लिए कंलक है। इस संबंध में 1937 में उन्होंने मार्मिक अपील की।

12.7 मिश्रित विद्यालयों की स्थापना पर बलः–

इस दौर में अस्पृश्यता इस कदर हावी हो कई थी कि तथाकथित उच्च जाति के लोग निम्न जाति के लोगो से किसी भी प्रकार का सम्पर्क रखना तो दूर की बात उनका उन सभी स्थलों पर प्रवेश निषेध था जहां इन उच्च जाति के लोगों का प्रवेश था। सार्वजनिक स्थलों जैसे जल स्त्रोतो, मंदिरों, धर्मशालाओं, विद्यालयों इत्यादि अलग अलग होते थे इसलिए सावरकर ने ऐसे मिश्रित विद्यालयों की स्थापना पर बल दिया जहां पर सभी जातियों के बच्चे एक साथ पढ़े। उनके प्रयासों के फलस्वरूप रत्नागिरी जिले मिश्रित विद्यालय खोले गये। इसका उद्देश्य अस्पृश्यता को कम करना तो था ही साथ में भारत की सभी जातियों में सम्पर्क स्थापित करना भी था जो राष्ट्रता के लिए नितान्त आवश्यक था और उससे बढ़कर ईसाई मिशनरियों के प्रभाव को कम करना था जो हिन्दू धर्म की अस्पृश्यता से ग्रस्त लोगों को प्रलोभन देकर अपनी ओर न केवल आकर्षित कर रहे थे अपितु व्यापक स्तर पर धर्म परिवर्तन करवा कर हिन्दू धर्म को तोड़ने का प्रयास कर रहे थे। सावरकर किसी भी रूप में हिन्दू धर्म की एकता को समाप्त होते नहीं देख सकते थे। इसलिए मिश्रित विद्यालयों ने हिन्दू राष्ट्रवाद को एक नवीन दिशा दी।

12.8 हिन्दुत्व और राष्ट्र सेवाः–

सावरकर ने हिन्दुत्व की सेवा और राष्ट्र की सेवा के बीच घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हुए कहा कि जो व्यक्ति जितना अधिक सच्चा हिन्दू होगा उतना ही अधिक अच्छा राष्ट्र भक्त भी होगा। स्वतन्त्रता और स्वाधीन भारत के लक्ष्य की पूर्ति हेतु जरूरी है कि हिन्दूत्व का विकास किया जाए। हिन्दूत्व में वह शक्ति है जो मानव सभ्यता को प्रकाश दे सकती है। सावरकर ने यह भी कहा कि यदि हिन्दूओं की जनंसख्या कम हो जाएगी और अन्य जातियों की जनसंख्या बढ़ जाएगी तो वह हिन्दूत्व हेतु अहितकारी होगा।

12.9 राजनीति का हिन्दुकरणः–

सावरकर ने राजनीति के हिन्दूकरण पर बल देते हुए राष्ट्र, राष्ट्रवाद, राज व्यवस्था, स्वतन्त्रता संग्राम इत्यादि को हिन्दूत्व के साथ जोड़ा और यह कहा कि राजनीति में उच्च आदर्श व मूल्यों की स्थापना हिन्दूत्व से ही की जा सकती है। अपने इन्हीं लक्ष्यों को हासिल करने के लिए सावरकर हिन्दू महासभा के साथ न केवल जुड़े बल्कि हिन्दू महासभा को राजनीति के उन मूल्यों से जोड़ा जो हिन्दू धर्म व दर्शन के अनुरूप थे। हिन्दू पुनर्जागरण में उनकी अटूट आस्था थी और यह कहना था कि इसके बिना राष्ट्रवाद की कल्पना नहीं की जा सकती। उन्होने मुस्लिम लीग के द्विराष्ट्र सिद्धान्त व कट्टर सम्प्रदायकता का विरोध किया और ब्रिटिश सरकार

की फूट डालो और राज करो की नीति को भारत के दमन व शोषण का प्रमुख हथियार कहा। सावरकर ने कहा जो मुस्लिम सच्चे राष्ट्रवादी है तो उन्हें हिन्दूत्व के नेतृत्व में एक राष्ट्र एक भारत के सिद्धान्त को मजबूती पर काम करना चाहिए न कि विभाजनकारियों की गतिविधियों का साथ देना।

12.10 सावरकर और अखण्ड भारतः–

सावरकर आजीवन स्वतंत्र, सम्प्रभुता सम्पन्न अखण्ड भारत की कामना की उन्हें भारत का विभाजन किसी भी रूप में स्वीकार्य नहीं था इसलिए जब मुस्लिम लीग व जिन्ना भारत विभाजन के सन्दर्भ में जो भी कृत्य कर रहे थे उनका हर स्तर पर सावरकर ने विरोध किया। जब 1947 में राष्ट्र विभाजन हुआ तो उनकी भावना को काफी आघात लगा । अथक प्रयासों के बावजूद वे भारत विभाजन को रोक नहीं पाये।

सावरकर की यह एक हिन्दू राजनीतिक विचारधारा है। इस विचारधारा द्वारा सावरकर यह स्पष्ट करते है कि हिन्दूवाद तथा हिन्दूत्व में मौलिक भेद है। हिन्दूवाद केवल हिन्दूओं के धर्म रीति रिवाजों, धार्मिक अनुष्ठान आदि की सूचक धारणा है जबकि "हिन्दूत्व" शब्द में हिन्दुओं के राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक आदर्शो मूल्यों का समावेश है। इस तरह सावरकर के द्वारा हिन्दुत्व की विस्तृत व्याख्या देकर इसे आत्मसात करने व इसके मूल्यों के अनुरूप क्रियाकलापों का संचालन करने की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा कि इन पर आधारित राष्ट्र कभी कमजोर नहीं हो सकता। यह एक ऐसी राजनीतिक विचारधारा है जो हिन्दूत्व के अनुसार स्थापित करने पर बल देती है।

कांग्रेस ने विभाजन की इस योजना को स्वीकार कर लिया। राष्ट्रविभाजन के बाद भी सावरकर ने लड़ाई जारी रखी और 1947 में एक हिन्दू सम्मेलन में पाकिस्तान को उसी तरह अस्वीकार करने के लिए कहा जिस तरह भारतीयों ने ब्रिटिश शासन को स्वीकार नहीं किया था। इस प्रकार सावरकर एक भारत अखण्ड भारत की नीति में विश्वास करते थे।

12.11 स्वराज्य संबंधी विचारः–

स्वराज्य के संबंध में भी सावरकर के विचार कांग्रेस से मेल नहीं खाते है। वे कांग्रेस की इस मांग को भ्रामक बताते है और कहते है कि स्वराज्य को केवल हिन्दुत्व के सन्दर्भ में ही समझ सकते है। उनका कथन है कि ऐसा स्वराज्य जो हिन्दू जड़ों से कटा हुआ है उसका कोई औचित्य नहीं हैं भारतीय स्वराज का आधार हिन्दूत्व होना चाहिए। उनकी दृष्टि में ऐसा स्वराज्य हिन्दुओं के लिए आत्महत्या के समान है जिसकी प्राप्ति हिन्दुत्व की कीमत तथा अपमान के साथ होती हो। इस तरह स्वतन्त्रता संग्राम की उग्रपंथी विचारकों बाल, पाल व लाल के द्वारा जो स्वराज्य की मांग रखी उसका विरोध किया।

12.2 सावरकर व अहिंसाः–

सावरकर अहिंसा के समर्थक नहीं थे वे निरपेक्ष अहिंसा को काल्पनिक पाप मय एवं अनैतिक मानते थे। इसकी अपेक्षा **सापेक्ष अहिंसा का समर्थन करते है।** इसलिए तो मानवीय स्वभाव को आधार मानकर कहते है कि जैसी मानवीय प्रकृति है, उस मानवीय प्रकृति के सन्दर्भ में अहिंसा एक प्रकार की दुर्बलता है जो शक्ति के द्वारा दूर की जा सकती हैं। वे गांधी जी के अहिंसा के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहते थे कि भारत को आजादी याचना द्वारा नहीं अपितु संघर्ष के जरिये हासिल करनी चाहिए। अत्याचार व शोषण के खिलाफ की गई हिंसा सर्वधा उचित माना जाता है और सैन्य शक्ति से सम्पन्न राज्य प्रगति व यश हासिल कर सकता है। उन्होंने अपने दावों की पुष्टि ऐतिहासिक आधारों पर की जब भारत में अहिंसावादी बौद्धमता की प्रधानक रही तो उसे हूण और शकों ने रौंद डाला। इसलिए सावरकर ने हिन्दुओं के सैन्यकरण का समर्थन किया। सावरकर ने स्कूलो व कॉलेजो में अनिवार्य सैन्य शिक्षा देने का भी समर्थन किया। इस तरह सावरकर क्रांतिकारियों के साधनों का न केवल समर्थन किया अपितु उनका उपहास भी किया।

12.13 समाज सुधारों पर सावरकर के विचारः–

सावरकर समाज सुधारों के महान समर्थ थे। उस समय समाज सुधार हमारे समाज की जरूरी आवश्यकता भी थी। उन्होनें हिन्दुओं से विज्ञान और तर्क के आधार पर आधुनिक प्रथाओं को अपनाने के लिए कहा और उन धार्मिक अंधविश्वासों को छोड़ने के लिए कहा जो सामाजिक प्रगति में बाधक है। उनका मानना है कि सभी धर्मग्रंथ मानव निर्मित है और उन्हे तर्क के आधार पर उनकी जाँच होनी चाहिए। धार्मिक सता में अंध आस्था के

कारण हिन्दू अंधविश्वासी, भाग्यवादी और सहज विश्वासी हो गए और इसने अधिक सीखने की उनकी इच्छा को कमजोर किया। उन्होनें विज्ञान और प्रौद्योगिकी की उपेक्षा कर दी थी। सावरकर जातिवाद के आलोचक थे और यह कहा कि जातिवादी व्यवस्था हिन्दू समाज के लिए विनाशकारी सिद्ध हुई है। छुआछुत अमानवीय व्यवस्था हैं। जाति ने असामनता को बढ़ावा दिया है, हिन्दू समाज अनेक खण्डों में विभाजित हो गया है और हिन्दू में आपसी घृणा के बीज बोएं। ऐतिहासिक रूप से भारत पर जो भी आक्रमण हुए उसमें पराजय का कारण जाति रही। जाति की ये दीवार इतनी मोटी थी कि इसके लोगो में आपसी सामन्जस्य तो समाप्त हुंआ ही अपितु एक दूसरे से सम्पर्क बनाना ही पाप माना जा रहा था। समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा इस जाति बंध की घोर उपेक्षाओं का शिकार होकर रह गया था। तथाकथित उच्च जातियों निम्न व शुद्र जातियों पर अत्याचार करना अपना अधिकार तक समझने लग गये और सामाजिक कुरीतियों ने महिलाओं को भी दास बनाकर रख दिया था।

12.14 हिन्दूत्व का विकास और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघः–

हिन्दुत्व या हिन्दू राष्ट्रवाद की दूसरी विचारधारा का प्रचार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेताओं द्वारा किया गया राश्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना हिन्दू हितों की रक्षा करने के लिए डॉ. **केशव बलिराम हेडगेवार ने 1925 में की थी।** हेडगेवार तिलक के अनुयायी थे। उनका संपर्क क्रांतिकारियों से भी था। 1920 के असहयोग आन्दोलन में भी भाग लिया। इस आन्दोलन के बाद हिन्दू मुसलमान के बीच संबंध बिगड़ गए जिसके कारण साम्प्रदायिक दंगे हुए और हिन्दुओं का नुकसान हुआ। अतः हेडगेवार ने हिन्दूओं को संगठित करने व उनके हितों की सुरक्षा करने के लिए 1925 में राश्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की। यह एक सांस्कृतिक संगठन था। इसका राजनीति से कोई सीधा संबंध नहीं **था।**

डॉ. हेडगेवार ने राश्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तीन उद्देश्य बताएः–

1. हिन्दुओं को उनके हितों के लिए संगठित रखना व उनके हितों की सुरक्षा करना।
2. ब्रिटिश सशस्त्र राजनीति और साम्प्रदायिक मुस्लिम राजनीति और मुसलमानों के तुष्टीकरण की नीति पर चलने वाली कांग्रेस का विरोध।
3. संगठन के कार्य को भाांतिपूर्वक आरम्भ करके और देशभक्ति की भावना भरकर जीवन के सभी क्षेत्रो में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रभाव को बढ़ाना। डॉ. हेडगेवार के अनुसार राश्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का उद्देश्य राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना नहीं था बल्कि देश के सार्वजनिक जीवन में हिन्दुओं के प्रभाव को बढ़ाना था।

डॉ. हेडगेवार के समय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ मध्यम वर्ग में बहुत लोकप्रिय हुआ। इसने 1930 में हेडगेवार माधव गोलवकर को संघ प्रमुख बनाया। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में भी संघ ने भाग नहीं लिया और 1973 तक गोलवकर संघ के प्रमुख बने रहे। संघ यद्यपि एक गैर राजनीति संगठन कहलाता है परन्तु वास्तव में संघ की भूमिका सांस्कृतिक या सामाजिक गतिविधियां ज्यादा राजनीति में अति सक्रिय भूमिका है। यद्यपि आजादी के बाद से ही संघ अपने आप को सशक्त बनाने का प्रयास करता रहा परन्तु उसकी सही अर्थो में पहचान 90वें दशक के बाद मिलना शुरू हुई जब उसके राजनीतिक संगठन के रूप में भारतीय जनता पार्टी की स्थापना हुई, तब संघ की सक्रियता अपेक्षाकृत बहुत बढ़ी। धीरे धीरे जिस संघ के प्रति लोगों में हीन भावना थी वह संघ आम आदमी तक पहुंचने में सफल रहा हैं आज संघ की भाखाएँ हर छोटे स्तर पर देखी जा सकती है। रामजन्म भूमि व बाबरी मस्जिद विवाद ने संघ व भाजपा को वो भाक्ति दी जिसकी बदौलत ये आज भारतीय राजनीति के भीर्श पर है। केन्द्र व राज्य की सत्ता पर भाजपा काबिज होने के बाद संघ की भूमिका के पीछे बड़ी वजह है और आज भारत के सबसे शक्तिशाली संगठन के रूप में उभरकर सामने आया है। संघ ने समय के अनुसार अपने आप काफी बदलाव भी किया है जहां संघ केवल तथाकथित उच्च जातियों तक सीमित था आज दलित समुदाय के लोगो को भी संघ के साथ जोड़ा जा रहा है। संघ के द्वारा शिक्षा क्षेत्र में भी काफी सराहनीय कार्य किये जा रहे है और सम्पूर्ण भारत में आदर्श बाल मंदिर के नाम से विद्यालयों का जाल सम्पूर्ण भारत में फैलाया गया है, महिलाओं को संघ से जुड़ने के लिए दुर्गा वाहिनी संघ के भीतर स्थापित की गई। आदिवासी समुदाय में हिन्दुत्व को मजबुत करने व धर्म परिवर्तन को रोकने के लिए वनवासी परिशद की स्थापना की गई है। इसी तरह सीमान्त क्षेत्रों के लोगो में राष्ट्रवाद को मजबूत करने के लिए सीमा कल्याण समितियां बनाई गई है, किसानों के हितों की रक्षा हेतु अखिल भारतीय किसान संघ, छात्र हितों के लिए अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद्, मजदूरों के हितार्थ अखिल भारतीय मजदूर संघ जैसे अनेक संगठन संघ की छत्रछाया में रहकर कार्य कर रहे है।

अल्पसंख्यक को संघ के साथ जोड़ने के लिए संगठन कार्य कर रहा है। इस तरह संघ उस हर क्षेत्र में कार्य कर रहा है जिसका संबंध राष्ट्रीय विकास, राष्ट्रीय अस्मिता व राष्ट्रीय एकता से है। संघ की अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में सक्रिय भूमिका रही है और इसमें स्वदेश को सबसे ज्यादा बल दिया है तथा सरकारों के द्वारा निजीकरण की अंधाधुंध प्रवृति का भी वे विरोध करता है। आज संघ व संघनिष्ठ विचारधारा अपने पूरे परवान पर है। वर्तमान दौर संघ के लिए सबसे सशक्त है। जिसका प्रभाव आज हर स्तर देखा जा सकता है।

II. एम.एस. गोलवलकर का हिन्दू राष्ट्रवादः–

हिन्दू विचारक के रूप में एम.एस. गोलवलकर का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। वे ऐसे समय 1940 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख बने जब भारत में स्वतन्त्रता संग्राम जारी था और देश की आजादी के लगभग 5 वर्शों तक 1973 तक संघ के प्रमुख के रूप में अपनी भूमिका निर्वहन किया। उन्होने हिन्दूत्व व हिन्दू राष्ट्रवाद की व्याख्या की। उनकी ये व्याख्या वी.डी. सावरकर से कुछ हटकर थी। गोलवलकर का राष्ट्रवाद का सिद्धान्त भारतीय आध्यात्मवाद पर आधारित था वहीं सावरकर आधुनिकतावादी थे और उन्होनें पश्चिमीकरण का विरोध नहीं किया और वे किसी न किसी रूप में इसका समर्थन कर रहे थे परन्तु गोलवलकर हिन्दू संस्कृति के प्रबल समर्थक थे। उनका मानना था कि भारतीय आध्यात्मकवाद पश्चिमी भौतिकवाद से श्रेष्ठ है। उनका मानना था कि भारत एक पवित्र भूमि है और यह ई वरीय इच्छा है कि भारत विश्व का नेतृत्व करें।

12.15 सांस्कृतिक राष्ट्रवादः–

गोलवलकर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रतिपादक थे और उन्होनें हमारी मातृभूमि के लिए राष्ट्रवाद के प्रति से हमें परिचित कराया उनका मानना था कि हिन्दू भारत को अपनी मातृभूमि समझते है क्योंकि हजारों वर्षों से इस पवित्र भूमि से उनका परिचय रहा है। केवल इसी पवित्र भूमि से हिन्दूओं ने सभी महान उपलब्धियां अर्जित की है। हिन्दू इस प्राचीन भूमि की संतान है क्योंकि उनका पालन पोषण इसकी नदियों से बहने वाले जल और समृद्ध भूमि द्वारा उत्पन्न अन्न से हुआ है । यह मानना गलत है कि भारत कुछ ही वर्षो से एक राष्ट्र बना। वास्तव में भारत हजारों वर्शों से एक राष्ट्र के रूप में मौजूद रहा है। कुछ बाहरी मतभेद हो सकते है परन्तु भारत में बुनियादी एकता मौजूद है। सभी हिन्दू एक ही धर्म, एक ही भाषा और एक ही संस्कृति से बंधे है। गोलवलकर हिन्दू राष्ट्र के कई महत्वपूर्ण महत्व बताए है। जो इस प्रकार हैः–

1. निकटवर्ती क्षेत्र का होना
2. क्षेत्र के लोगो की विशेषताएं
3. क्षेत्र में रहने वाले लोगो के समान हित
4. समान सांस्कृतिक तत्वों का होना

इस प्रकार गोलवलकर ने लोगो को उपयुक्त प्रशिक्षण व शिक्षा देकर उनके मस्तिश्क को स ही ढंग से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अनुरूप विकसित करने की बात कही।

12.16 क्षेत्रीय राष्ट्रवाद को अस्वीकारः–

जैसा की उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि गोलवलकर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रबल समर्थक थे और उन्होनें अपने राष्ट्रवाद को हिन्दुओं की सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रकाश में परिभाषित किया। उनका मानना था कि केवल क्षेत्रीय आधार पर राष्ट्रवाद नही मजबूत होता बल्कि राष्ट्रवाद की मजबूती के लिए भाषा, संस्कृति धर्म जैसे की आवश्यकता होती है जो उसे सशक्त बनाता है। इसके बिना राष्ट्रवाद किसी भी रूप में नहीं आ सकता है। इसलिए भारत के सन्दर्भ में हिन्दू धर्म पर आधारित तत्व राष्ट्रवाद के लिए अति आवश्यक है। और हमें हिन्दू धर्म को ही ज्यादा महत्व देने की आवश्यकता है।

12.17 हिन्दू राष्ट्र और अल्पसंख्यक वर्गः–

गोलवलकर का यह कहना है कि कुछ ऐतिहासिक व सांस्कृतिक कारको के कारण भारत में हिन्दुओं ने एक राष्ट्र की रचना की और उन्होनें भारत को अपनी मातृभूमि समझा। जहां तक अल्प धार्मिक समुदायों है उन्होने कभी भी भारत को अपनी मातृभूमि नहीं समझा। गोलवलकर के अनुसार अल्संख्यक आक्रमणकारी के

वंशज मानते है जिन्होने मुख्य रूप से हिन्दूओं के विरूद्ध ही कार्य किया है। यद्यपि भारत के अधिकांश मुस्लिम व ईसाई पहले हिन्दू ही थे परन्तु उन्होंने अपनी निष्ठा खो दी है। उन्होंने विदेशी वंशजको को अपना लिया है।

इस प्रकार गोलवलकर अल्पसंख्यको को भारतीय राष्ट्रवाद का अंग नही मानते थे। उन्होंने मुसलमानों व ईसाईयों को मुख्यधारा में शामिल होने और हिन्दू परम्परा का अंग बनने के लिए प्रोत्साहित किया यदि गैर हिन्दू पृथकतावादी प्रवृति छोड़ देते है तो वे हिन्दू राष्ट्रवाद का अंग बन सकते है। उन्होंने यह भी तर्क दिया कि काफी समय से हिन्दुओं ने समावेशन और घुलने मिलने की अनोखी पद्धति विकसित कर ली जिसके कारण विदेशी तत्वों ने अपनी पहचान खोए बिना समाज में प्रवेश कर लिया है और भारतीय समाज में घुल मिल गए है। जिसका प्रमुख उदाहरण पारसी है जो धार्मिक उत्पीड़न से बचने के लिए ईरान से भारत आये और अपने धर्म व पहचान खोये बिना ही भारतीय परम्परा का हिस्सा बन गए।

गोलवलकर ने धर्म निरपेक्ष हिन्दूओं की कड़ी आलोचना की और यह कहा कि धर्मनिरपेक्षता व लोकतंत्र की आड़ में विघटनकारी प्रवृतियों को बढ़ावा दिया है।

12.18 सामाजिक व्यवस्था पर गोलवलकर के विचारः–

गोलवलकर हिन्दू जीवन पद्धति के समर्थक थे। उनके सामाजिक विचारों में निम्न तत्वों को स्पष्ट झलक देखी जा सकती हैः–

- वर्ण व्यवस्था का समर्थन और हिन्दू जीवन का आधार मानना
- जाति व्यवस्था का विरोध
- छुआछुत को आमनवीय प्रवृति मानना
- वर्णव्यवस्था को कार्य कुशलता के साथ जोड़ना

12.19 राजनीतिक विचारः–

गोलवलकर ने अपने विचारों में राष्ट्रवाद पर सर्वाधिक बल दिया। राष्ट्रवाद और राजनीति का भारतीय परिप्रेक्ष्य बहुत ही आध्यात्मिक था। अतः भारतीयों ने भाांति और अहिंसा का समर्थन किया परन्तु बदलती हुई परिस्थितियों में हिन्दूओं को शक्तिशाली बनने के लिए हथियार व बमों को बनाना चाहिए। उनका मानना था कि अतीत में हिन्दूओं को जो पराजय का सामना किया उसका मूल कारण हथियार व सैन्य तैयारियों का न होना था। अतः यदि भारत को सशक्त व शक्तिशाली राष्ट्र बनाना है तो इस क्षेत्र में अपनी शक्ति बढ़ाने की आश्यकता है। अंहिसा को उन्होंने कायरता का प्रतीक माना है और अच्छाई की रक्षा के लिए दुनिया से बुराई को दूर करना चाहिए।

12.20 परिवर्तन के दृष्टिकोणः–

1. पूंजीवाद
2. साम्यवाद
3. हिन्दू आध्यात्मवाद

पूंजीवाद एक वह विचारधारा है जो व्यक्ति केन्द्रित है वहीं साम्यवाद समाज केन्द्रीत, परन्तु गोलवलकर हिन्दू आध्यात्मवाद को सबसे श्रेष्ठ मानते है। हिन्दूओं ने जीवन के भौतिकवादी दृष्टिकोण को अस्वीकार कर दिया है। उनका मानना था कि भौतिक आवश्यकताएं और शारीरिक जरूरतें जीवन का लक्ष्य नहीं हैं हिन्दूओं का विश्वास है कि मानव जीवन एकरूप है और सर्वोच्च आत्मा में व्याप्त है। मनुष्य केवल अपने लिए नहीं जीता बल्कि दूसरे मनुष्यों की सेवाओं के लिए जीता है और इसी सोच के अनुसार मनुष्य को कार्य करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति समाज का अंग है जिसका मुख्य उद्देश्य एक ऐसे समाज की स्थापना करना जिसमें न कोई दण्ड हो और न हीं कोई दण्ड देने वाला हो।

12.21 नकारात्मक और सकारात्मक हिन्दुत्वः–

गोलवलकर के अनुसार भारत में दो प्रकार का हिन्दुत्व रहा है। पहला नकारात्मक हिन्दुत्व कहलाया व दूसरा सकारात्मक हिन्दुत्व कहलाया।

नकारात्मक हिन्दुत्वः– मुस्लिम साम्प्रदायिकता या कांग्रेस की धर्म निरपेक्ष्य प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुआ। इसने नकारात्मक रूप से दूसरों के बारे में सोचा व दूसरों ने इसके बारे में नकारात्मक सोचा। अतः उनका मानना था कि हमें हमारी सामाजिक व्यवस्थाओं को मुस्लिमों व अंग्रेजों के विरोध में विकसित नहीं करना चाहिए क्योंकि इसमें किसी भी प्रकार का सकारात्मक अंश नहीं है।

सकारात्मक हिन्दुत्वः– ये हिन्दुत्व का वह स्वरूप है जो किसी विरोध के प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित नहीं हुआ। उनका उद्देश्य था कि सकारात्मक हिन्दुत्व का उद्देश्य समाज में एक सामाजिक शक्ति के रूप में हिन्दुओं का संगठन होना चाहिए जो सर्वाधिक कष्टकारक परिस्थितियों में दृढ़ निश्चयी और अटल बना रहे। राजनीतिक सता की प्राप्ति सकारात्मक हिन्दुत्व का उद्देश्य नहीं है क्योंकि इसका वि वास था कि हमारी सभी समस्याओं को राजनीतिक भाक्ति से नहीं सुलझाया जा सकता है। हिन्दू समुदाय के लचीलेपन का रहस्य जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में पाया जा सकता है। हिन्दूओं ने अपने राजनीतिक व सामाजिक संगठन के बल के आधार पर नहीं बल्कि धर्म के आधार पर बनाया है। इस तरह गोलवलकर राजनीतिक सता की बजाए धर्म को ज्यादा महत्व देते है। उनके अनुसार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रमुख लक्ष्य व्यक्ति और समाज का विकास करना हे। ताकि समाज मजबूत व शक्तिशाली बन सके।

12.22 गोलवलकर के हिन्दु राष्ट्रवाद की आलोचनाः–

गोलवलकर ने अपने हिन्दुत्व को भारतीय आध्यात्मवाद अथवा शंकराचार्य के अद्वैतवाद के आधार पर विकसित करना चाहा परन्तु उनकी स्थिति में कुछ तनाव थे क्योंकि वेदांत में व्यक्ति के आत्मा और सर्वोच्च आत्मा के बीच एकत्व है। इस एकत्व में हिन्दू और मुस्लिम आत्माओं में कोई अन्तर नहीं करता। दूसरे उन्होनें क्षेत्रीय राष्ट्रवाद की अवधारणा को अस्वीकार करने का प्रयास किया क्योंकि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की उनकी अपनी अवधारणा मातृभूमि की क्षेत्रीयता पर आधारित थी। उनका सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अनेक आलोचनाएं की गई। जैसे गोलवलकर का यह कहना कि राष्ट्रवाद का संबंध तो केवल हिन्दू व हिन्दू धर्म व संस्कृति में आस्था व अटूट विश्वास रखने वालो में ही आ सकता है परन्तु गोलवलकर यह भूल जाते है कि राष्ट्रवाद जैसी भावना को हमें किसी धर्म या संस्कृति के साथ जोड़ नहीं सकते इसके अलावा भारत की आजादी में हिन्दू और मुसलमानों व अन्य तमाम धर्मो के अनुनायियों का महत्वपूर्ण योगयदान रहा है और ऐसे लोग सभी धर्मों से थे जिन्होंने देश की आजादी के लिए अपने प्राण न्यौछावर किये थे। हिन्दू और मुस्लिम दोनो धर्मो में ऐसे तत्व उत्पन्न हुए है जिन्होंने देश के साथ विश्वासघात किया परन्तु कुछ इस तरह के तत्वों के आधार पर सम्पूर्ण धर्म के लोगो को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इस तरह गोलवलकर का सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का विचार राष्ट्रीय एकता व अखण्डता लाने के बजाए विभाजनकारी माना जाता है जो देश को तोड़ने का कार्य करने वाली सोच है जिससे बचने की निहायत जरूरत है। गोलवलकर का यह विचार कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को राजनीतिक शक्ति से कोई सबंध नहीं है और वह एक सांस्कृतिक संगठन है जो हिन्दू धर्म व संस्कृति के संरक्षण के लिए कार्य करता है परन्तु व्यवहार में यह संभव नहीं है कि कोई भी संगठन अपने आप को राजनीतिक भाक्ति से दूर नहीं कर सकता।

12.23 सारांशः–

इस अध्याय में हमने हिन्दूवादी विचारक वी.डी. सावरकर व एम.एस. गोलवलकर के विचारों को जाना। यद्यपि दोनों के विचार हिन्दू धर्म व दर्शन पर केन्द्रित थे परन्तु दोनों के विचारों में अन्तर देखा जा सकता है। वी.डी. सावरकर ने हिन्दू राष्ट्रवाद में यह बताया गया कि जो लोग भारत को अपनी पितृ भूमि मानते है वे हिन्दू राष्ट्रवाद के समर्थक है उन्होने हिन्दू राष्ट्रवाद को मजबूत बनाने के लिए सावरकर ने सामाजिक सुधारों व जाति व्यवस्था को समाप्त करने पर बल दिया वे सामाजिक परिवर्तन के लिए आधुनिकता के ही समर्थक थे।

एम.एस. गोलवलकर का हिन्दू राष्ट्रवाद, अध्यात्मवाद पर आधारित था। उनका मत था कि भारत में हिन्दू समुदाय राष्ट्र बना है क्योंकि केवल हिन्दू समुदाय ही भारत को अपनी मातृभूमि मानता है। इस तरह वे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का प्रतिपादन करते हैं जिसमें गैर हिन्दुओं का कोई स्थान नहीं है।

12.24 अभ्यास प्रश्ननावली:–

1. भारत में हिन्दूत्व की राजनीति पर प्रकाश डालिए।
2. सावरकर के द्वारा प्रतिपादित हिन्दुत्व की अवधारणा का उल्लेख कीजिए।
3. मिश्रित विद्यालय की स्थापना पर सावरकर के विचार बताए।
4. हिन्दूत्व व राष्ट्रवाद के पारस्परिक संबंधों की विवेचना कीजिए।
5. सावरकर के सामाजिक सुधारों पर टिप्पणी लिखिए।
6. भारतीय राजनीति में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
7. सांस्कृतिक राष्ट्रवाद क्या है? इस पर गोलवलकर के विचारों को स्पष्ट कीजिए।
8. अल्पसंख्यकों पर गोलवलकर के विचार बताए।
9. गोलवलकर के प्रमुख राजनीतिक विचार बताओ।
10. सकारात्मक हिन्दूत्व पर टिप्पणी लिखिए।

अध्याय – 13

मुस्लिम चिन्तकः: सर सैयद अहमद, मौहम्मद इकबाल, मौलाना मौदूदी और मौहम्मद अली जिन्ना

सरंचना

13.1 उद्देश्य
13.2 प्रस्तावना
I. साम्प्रदायिकता व भारतीय राजनीति
13.3 भारत में साम्प्रदायिकता का उदय
13.4 भारत में लोकतंत्र व साम्प्रदायिकता
13.5 उत्तर दक्षिण की साम्प्रदायिकता में अन्तर
13.6 भारत में साम्प्रदायिकता का बदलता स्वरूप
13.7 पाकिस्तान व भारत में साम्प्रदायिकता
13.8 साम्प्रदायिकता के कारण
13.8.1 आडम्बरपूर्ण धर्म निरपेक्षता
13.8.2 वर्ग विशेष की तुष्टिकरण पर आधारित
13.8.3 कट्टरपंथी धार्मिक विचारकों व नेताओं द्वारा विकृत करना
13.8.4 भारतीय समाज द्वारा जीवन का यांत्रिक दृष्टिकोण अपनाना
13.8.5 पृथकता को मानना व अपने सम्प्रदाय समूह को राष्ट्र से उच्च मानना
13.8.6 मुसलमानों का पिछड़ापन
13.8.7 संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद
13.8.8 पाकिस्तान का प्रचार
13.8.9 समान नागरिक आचार संहिता का अभाव
13.8.10राजनीतिक दलों की भूमिका
13.9 साम्प्रदायिकता के दुष्प्रभाव
13.9.1 आपसी द्वेष
13.9.2 आर्थिक हानि
13.9.3 प्राण हानि
13.9.4 राजनीतिक अस्थिरता
13.9.5 राष्ट्रीय एकता में बाधा
13.9.6 राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा
13.9.7 आर्थिक विकास में बाधक
II. मुस्लिम राजनीतिक चिन्तक
प्रस्तावना
13.10 सर सैयद अहमद खान (1817–1898)
13.10.1 आधुनिक शिक्षा में सर सैयद अहमद का योगदान
13.10.2 हिन्दू–मुस्लिम एकता
13.11 मौहम्मद इकबाल (1876–1938)
13.11.1 जीवन परिचय
13.11.2 इकबाल का राष्ट्रवाद
13.11.3 मुसलमानों के लिए पृथक प्रांत की मांग
13.11.4 पूंजीवाद व समाजवाद का विरोध

13.11.5 इकबाल का कांग्रेस विरोध
13.12 मौलाना मौदुदी (1903–1979)
13.12.1 राष्ट्रवाद पर मौलाना मौदुदी के विचार
13.13 मोहम्मद अली जिन (1876–1948)
13.13.1 जीवन परिचय
13.13.2 हिन्दू मुस्लिम एकता
13.13.3 धर्म व राजनीति को पृथक करने पर बल
13.13.4 जिन्ना साम्प्रदायिकता के शिकार कैसे बने
13.13.5 जिन्ना व मुस्लिम लीग
13.13.6 द्विराष्ट्र सिद्धान्त
13.14 सारांश
13.14 अभ्यास प्रश्नावली

13.1 उद्देश्यः–

इससे पूर्ववृर्ती अध्याय में हिन्दुत्व, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, सावरकर व गोलवलकर के विचारों को समझा गया। इस अध्याय में हम मुस्लिम विचारकों व हिन्दुत्व व मुस्लिम विचारकों की कट्टर सोच से उत्पन्न साम्प्रदायिकता के रूप व वर्तमान समय में भी इसके बढ़ते दुष्प्रभाव को जानेगें। इसका प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैः–

- दोंनों पक्षों की कट्टरवादी सोच के कारण उत्पन्न साम्प्रदायिकता को जानना।
- साम्प्रदायिकता के प्रमुख कारणों का अध्ययन।
- साम्प्रदायिकता किस प्रकार आज भी हमारे चुनौतीपूर्ण है।
- दोनों पक्षों की एंकाकी सोच हमारी राष्ट्रीयता के लिए कितनी घातककारी है।
- स्वतन्त्रता संग्राम में दोनों धर्मों के विचारकों का कितना प्रभाव पड़ा।
- सौहार्द्र की भावना हमारे राष्ट्रीय परिपेक्ष्य में कितनी जरूरी है।
- 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से लेकर अब तक साम्प्रदायिकता के कारण हमें कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ी।
- मुस्लिम चिन्तक जो पहले राष्ट्रवादी थे किस प्रकार उनमें एंकाकी सोच आयी।
- इकबाल जैसा राष्ट्रवादी कवि किस तरह साम्प्रदायिकता के रंग में रंगा।
- मौहम्मद अली जिन्ना जो अपने प्रारम्भिक काल में कांग्रेस व गांधी से जुड़े रहे परन्तु अन्त में भारत विभाजन के कारक बने।
- मुस्लिम लीग की नीतियों के कारण भारतीय मुसलमानों पर कितना नकारात्मक प्रभाव पड़ा।

13.2 प्रस्तावना

इससे पूर्ववर्ती अध्याय में हिन्दुत्व से जुड़े राजनीतिक व सामाजिक विचारकों का उल्लेख किया गया। जिससे हिन्दुत्व के उस पहलु को समझा गया जो सांस्कृतिक राष्ट्रवाद पर आधारित है। वी.डी. सावरकर व एम. एस. गोलवलकर ने जो विचार प्रस्तुत किये उसमें अल्पसंख्यकों का कोई स्थान नहीं है जो कहीं न कहीं उसी सोच को स्पष्ट करते है जो सोच मुस्लिम लीग, मोहम्मद अली जिन्ना या अन्य कट्टर पंथी मुस्लिम विचारधारा की थी। इस तरह भरत में स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान ही साम्प्रदायिकता का ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया था जिसकी परिणित विभाजन तक ही सीमित नहीं रही अपितु दोनों समुदायों के बीच एक मोटी दिवार पैदा कर दी जो दोनो के बीच समय समय पर अविश्वास उत्पन्न करने का कार्य करती है। इन दोनों कट्टरपंथी विचारधारा ने हमारे राष्ट्रीय अस्मिता व सामाजिक सौहार्द के वातावरण को बहुत प्रभावित किया इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि हम इस अध्याय में साम्प्रदायिकता व भारतीय राजनीति को जाने कि ये कट्टरपंथी विचारधाराऐं किस प्रकार हमें प्रभावित कर रही है तथा इनकी चुनौतियां कितनी है?

I. साम्प्रदायिकता व मारतीय राजनीति–

भारत एक विविधता वाला राष्ट्र रहा है। हमारे यहाँ हर स्तर पर चाहें वह जाति, धर्म, वर्ग, भाषा, संस्कृति, सभ्यता, आचार–विचार, खानपान, रहन–सहन, पहनावे, सामाजिक सरोकारों, राजनीति, आर्थिक क्रियाकलापों, भौगोलिक, जैविक, पर्यावरण इत्यादि में व्यापक विविधता देखने को मिलती है और यही विविधता हमारी पहचान है, जो दुनिया के अन्य मुल्कों को प्रेरित करती हैं। हमारे राष्ट्र की विविधता ने विश्व के देशों को यह संदेश दिया है कि बुनियादी स्तर पर इतनी विविधता होते हुए भी यह हमारा राष्ट्र किस तरह एकता के सूत्र में बंधा हुआ है। हमारी इसी विशेषता ने यह सिद्ध किया है कि हमारे संस्कृति व धर्म ने विश्व की अन्य संस्कृतियों व धर्मों को न केवल गले लगाया है अपितु उन्हें आत्मसात भी किया है और यही कारण है कि हमारा भारत विश्व के पांच प्रमुख धर्मो (सनातन धर्म, सिख, बौद्ध, फारसी व जैन धर्मों) की जन्म भूमि विश्व में सम्भवतः दूसरे नंबर पर सर्वाधिक मुस्लिम धर्म के अनुयायी भारत में रहते है। इतिहास गवाह है कि भारत ने यहां रहने वाले हर व्यक्ति के धर्म व उसके क्रियाकलापों व मान्यताओं को सम्मान दिया है और हर धर्म को फलने–फूलने का पूरा अवसर भी दिया है। हमारा यह मानना है कि धर्म व सम्प्रदाय के प्रति सहिष्णुता हमारी संस्कृति व विरासवत को बनाए रखने में मददगार सिद्ध हुई है। यही कारण है कि आज भी हमारी संस्कृति सशक्त रूप से प्रकट हो रही है और हमारी संस्कृति के मुकाबले विश्व की अन्य संस्कृतियों ने तो अपना वजूद ही खो दिया है। इसीलिए महाकवि अल्लामा इकबाल ने कहा है कि "यूनान, मिश्र रोम मिट गये जहां से बाकी अब तलग है नामोनिशां हमारा कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी दौर जहां हमारा"।

इस तरह ऐसे कई आक्राता आये जिन्होंने हमारी संस्कृति, सभ्यता, धर्म और विरासत पर हमला किया और उसे तहस–नहस करने की हर संभव कोशिश की परन्तु हमारी संस्कृति व धर्म में व्याप्त सौहार्द व सहिष्णुता के भावना ने हमें मजबूत बनाया है। ऐसे कई दौर आये है जब धर्म को सहारा बनाकर हमारे साम्प्रदायिक सौहार्द को धूमिल करने की कोशिशें की गयी। जिस मल्क की बुनियाद साम्पदायिक सौहार्द व आपसी प्रेम औ भाईचारे पर टिकी हैं तो उस पर आक्रांता की नजर लगना स्वभाविक है। हर समाज व समुदाय में ऐसे कुछ तत्व होते हैं जो इन आक्रांताओं के बहकावे में आकर साम्प्रदायिकता की भावनाओं को भड़का कर आपसी भाईचारे व हमारी राष्ट्रीय अस्मिता व एकता को चोट पहुंचाने की कोशिश की है। जिसकी कीमत हमारा देश चुका रहा है और आज भी कई मौके की तलाश में यह तत्व रहते है।

13.3 भारत में साम्प्रदायिक उदयः–

1947 में भारत विभाजन इसी साम्प्रदायिकता सोच का शिकार बना। इतिहास गवाह है कि किस तरह अंग्रेजों ने फूट डालों व राज करो की नीति के आधार पर हिन्दू–मुस्लिम समुदाय में फूट पैदा की जिसकी परिणिती एक अलग राष्ट्र पाकिस्तान के रूप में हुई। यद्यपि स्वतंत्रता संग्राम की लड़ाई 1857 से लेकर 1947 तक दोनों सम्प्रदायों ने मिलकर लड़ा और हजारों लोगों ने आजादी के लिए अपनी कुर्बानियां दे दी। परन्तु दोनों सम्प्रदायों के कुछ स्वार्थी तत्व है जिन्होंने हमारे देश को साम्प्रदायिकता की एक ऐसी आग में झोंक दिया जिसके घाव आज भी हमारे लिए नासूर बने हुए है। मुस्लिम लीग व मोहम्मद अली जिन्ना की हठधर्मिता न केवल पाकिस्तान बनने तक सीमित रहा बल्कि उस विभाजन के दंश ने दोनो समुदायों के लोगों के बीच दीवार पैदा कर दी। हिन्दु महासभा व राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कृत्यों ने इस आग में घी का काम किया। जिसकी परिणीति राष्ट्रीय पिता महात्मा गाँधी की हत्या के रूप में हुई अर्थात् कट्टरवादी सोच हमें यदाकदा ये सोचने को विवश कर देतीं है कि कट्टरपंथी विचारधाराएं हमारी राष्ट्रीय अस्मिता के लिए सबसे बड़ी चुनौती है।

आजादी के पश्चात ऐसे कई दौर आये जब इस कट्टरपंथी सोच ने हमारे देश को साम्प्रदायिकता की आड़ में धकेलने का काम किया है। विभाजन के बाद जो शरणार्थी समस्या आयी और लाखों की संख्या में लोगों को अपने घरों से बेघर होना पड़ा। 1984 के सिख विरोधी दंगों से पंजाब व दिल्ली जल गये। 90वें दशक में राम जन्मभूमि व बाबरी मस्जिद विवाद ने तो 1947 की उस भयावह तस्वीर की याद दिला दी। इस विवाद के कारण उत्तर भारत के हर क्षेत्र में साम्प्रदायिक उन्माद हुए। जिसमें हजारों बेगुनाह लोग मारे गए, अरबों की सम्पति इन असामाजिक तत्वों के हाथों चढ़ गई। यह एक ऐसी आग थी जिसने भारत के हर छोट–बड़े सभी शहरों को अपनी आगोश में लिया। इसके चलते बम्बई सीरियल बम विस्फोट की घटनाएं हुई और दाउद अब्राहम जैसे अन्तरराष्ट्रीय आंतकवादी उभरकर सामने आए।

2002 के गोधरा काण्ड के पश्चात जिस तरह गुजरात साम्प्रदायिकता के भेंट चढ़ा उसने तो हमारे देश की शीर्ष नेतृत्व तक को झकझोर कर रख दिया कि गुजरात जैसा अपेक्षाकृत शांत माने जाने वाले राज्य को किस

तरह सुनियोजित तरीके से साम्प्रदायिक दंगो के हवाले कर दिया गया। उस समय गुजरात में नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में राज्य सरकार व अमित शाह के पास गृह मंत्रालय था और उस समय की तत्कालीन भयावह स्थिति को देखकर तत्कालीन प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी को "राज धर्म" का हर संभव स्थिति में करने की नसीहर दी।

सामान्यतः यह देखने में आया है कि साम्प्रदायिकता की भावना का प्रयोग हमारे राजनेता अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति व सत्ता हासित करने के लिए भी करते है। यह एक वो माध्यम है जिसके दम पर वोटों का ध्रुवीकरण एक पक्ष विशेष की तरफ किया जा सकता है। भारतीय राजनीति में वोटों के ध्रुवीकरण के खेल ने राजनीतिक दलों को वो हथियार दे दिया जिसका इस्तेमाल वे यदाकदा चुनावों के समय कर लेते हैं। यह ध्रुवीकरण कभी अल्पसंख्यक वोटों के लिए तो कभी बहुसंख्यक वोटों के लिए। लोकसभा की लगभग 110 सीटें ऐसी है जहाँ अल्पसंख्यकों के वोट निर्णय स्थिति में जिसका लाभ हर राजनीतिक दल उठाना चाहते हैं। कोई अल्पसंख्यक समुदाय मे असुरक्षा की भावना पैदा करके तो कोई बहुसंख्यक समुदाय में नफरत की भावना भरकर सत्ता हासिल करना चाहते हैं। इस तरह वोटों की राजनीति ने भी साम्प्रदायिकता को बढ़ाने में मदद की है। यह राजनीतिक दल ऐसे तत्वों को विशेष संरक्षण देते हैं। जैसे सत्ता में आने पर उन पर लगे मुकदमे वापस लेना, सत्ता में उनको भागीदारी बनाना, पार्टी संगठन में स्थान देना, धर्म विशेष के रक्षक के रूप में प्रस्तुत करना इत्यादि और जब से इलेक्ट्रॉनिक मीडिया व सोशल मीडिया का प्रभाव बढ़ा है तब इस तरह की साम्प्रदायिकता को बढ़ाने वाले उन्मादियों को एक ऐसा सशक्त माध्यम दे दिया है जिनकी बदौलत उन्हे फायर ब्रांड के रूप में स्थापित कर दिया है। मीडिया ने जो स्थान ऐसे लोगों को मिल रहा है उससे कहीं न कहीं हमारे सम्प्रदाय सौहार्द को धक्का लग रहा है और ऐसा वातावरण तैयार किया जा रहा है कि हमारे केवल धर्म या सम्प्रदाय ही महत्वपूर्ण हैं यदि देश की आजादी के 73 वर्षों के बाद भी ऐसा वातावरण बनाकर वोट बटोरने की योजना बनायी जाती हैतो यह हमारी देश व संविधान की आत्मा के विपरीत है। भले ही इनसे राजनीतिक दलों को तत्कालीन लाभ हो जाए परन्तु जो घाव नासूर बन गए वो कहीं कैंसर का रूप ना लें ले ओर हमारे पास जिसका समाधान तक न रहे। इस 21वीं सदी में हमें सभी संकीर्ण मानसिक सोच के

ऊपर उठने की जरूरत है। हमारा केवल एक ही लक्ष्य होना चाहिए कि हम विश्व में हमारे देश को सशक्त राष्ट्र के रूप में स्थापित करें जिसकी पहचान संकीर्णता या तुच्छ सोच की बजाय विकासवादी व वैज्ञानिक सोच पर आधारित हो। जो पहचान हमारी विश्व गुरू के रूप में थी वहीं पहचान हमें पुनः हासिल हो। जिसे प्राप्त करने का मूल मंत्र केवल और केवल साम्प्रदायिक सौहार्द व आपसे प्रेम और विश्वास है जिसकी यह डोर हमें बहुत आगे ले जा सकती है।

13.4 लोकतंत्र व साम्प्रदायिकताः–

भारतीय लोकतंत्र की मजबूती के लिए भी साम्प्रदायिकता का अंत जरूरी है। लोकतंत्र की बुनियाद ही सौहार्द पर टिकी हुई होती है और जब बुनियाद ही कमजोर होगी तो लोकतंत्र कभी भी मजबूत नहीं हो सकता। भारतीय राजनीति में कई ऐसे राजनीतिक दल हैं जो साम्प्रदायिकता को अपनी पहचान मानते है और जिसके दम पर ही वे राजनीति करते है परन्तु हमारी यह राय है कि राजनीतिक दलों को धर्म या सम्प्रदाय का सहारा नहीं लेना चाहिए। भारत में प्रमुख रूप से अकाली दल, मुस्लिम लीग, ए.आई.एम.ए., शिवसेना, भारतीय जनता पार्टी इत्यादि। यद्यपि चुनाव आयोग धर्म के नाम पर वोट मांगना व धार्मिक अपील पूरी तरह गैरकानूनी है परन्तु चुनावों में साम्प्रदायिकता एक इतना सरल व सीधा मुद्दा है जिसके दम पर चुनाव जीते जा सके है। पिछले 30 वर्षो से 10वीं लोकसभा चुनाव से लेकर 17वीं लोकसभा चुनाव व इस दौरान होने वाले राज्यों विशेष रूप से उत्तर भारत के राज्यों के विधानसभा चुनावों में राम जन्मभूमि व बाबरी मस्जिद विवाद मुख्य रूप से उठाया जाता है और जब इस मुद्दे के समाधान की बात आती है तो राजनीति दल अपना सुर बदल लेते हैं। राजनीतिक दल यह मानते है कि साम्प्रदायिकता व धर्म आम लोगों की भावनाओं से जुड़ा मुद्दा होता है और भावनात्मक मुद्दों को हवा देकर वे सत्ता हासिल कर सकते हैं। अब तक के चुनावों का विश्लेषण बताता है कि अनेकों राजनीतिक दलों व राजनेताओं का उदय व अस्तित्व धर्म व सम्प्रदाय से हुआ हैं। भले ही वे कहने के लिए सब का साथ सब के विकास की बात करें परन्तु वास्तविक मुखौटा सामने आ ही जाता है।

हमारा यहां किसी धर्म के विरोध की बात नही है धर्म तो वो रास्ता है जो हमें इंसानियत व मानवतावादी सोच की ओर ले जाता है अर्थात् धर्म वो है जिसके विचार हमारे लिए धारण योग्य है धर्म कभी कभी संकीर्णता व तुच्छ सोच की बात नहीं करता परन्तु जब धर्म की आड़ में साम्प्रदायिकता का जहर घोला जाता है वह हमें

स्वीकार्य नहीं है। साम्प्रदायिकता की कीमत हमारा देश पहले से ही चुकाया हुआ और इसे साम्प्रदायिकता के हवाले किया जाएगा तो हम हमारे आने वाली पीढ़ी को जवाब देने की स्थिति में नहीं रहेंगें।

13.5 उत्तर–दक्षिण की साम्प्रदायिकता में अन्तरः–

यदि हम उत्तर–दक्षिण के राज्यों में तुलनात्मक देखे तो हम यह पायेगें कि उत्तर के लोगों की बजाय दक्षिण के लोग धर्म वीरू ज्यादा होते। धर्म वीरू होना अपने आप बहुत अच्छी बात है परन्तु उनमें साम्प्रदायिकता जैसे संकीर्ण सोच कम है। जिसकी पृष्टि इस बात से होती है कि पिछले 73 वर्षों में सांप्रदायिक हिंसा उत्तर की तुलना में दक्षिण में काफी कम हुई है। भावनात्मक रूप से यहां के लोगों का झुकाव बहुत ज्यादा रहा है परन्तु यहां के लोगों की व्यापक सोच ने साम्प्रदायिकता की ओर जाने से रोका है जो हमारे लिए गौरव की बात है और हमारे लिए प्रेरणा स्त्रोत भी है। एक सभ्य समाज व सशक्त लोकतंत्र में साम्प्रदायिकता को कोई स्थान नहीं है। यह संकीर्ण मानसिकता लोकतंत्र को कभी मजबूत नहीं होने देगी। लोकतंत्र एक ऐसी विचारधारा है जिसमें हर एक नागरिक के विचार व सोच को सम्मान दिया जाता है। इसलिए यह कहा जाता है कि यदि 99 व्यक्तियों की राय एक तरफ और 1 व्यक्ति की राय दूसरी तरफ वोट करे तो वह भी उतने सम्मान का हकदार है जितना 99 व्यक्ति। लोकतंत्र कहता है कि सभी नागरिकों का देश के संसाधनों पर हक है और बिना किसी पूर्वाग्रह या बाधा के विकास होना चाहिए। यदि अल्पसंख्यकों को नजरअंदाज कर विकास करने की बात करना बेमानी है परन्तु सम्प्रदायकता की भावना इन लोकतांत्रिक मूल्यों से सरोकार नहीं रखती। इसलिए हमारा यह मानना है कि साम्प्रदायिकता के आधार पर किये जाने वाले हर कृत्य को किसी भी रूप से समकालिन स्वीकार्यता नहीं होनी चाहिए। यद्यपि हमारे इस तरह की किसी भी कार्य को अवैध घोषित करता है परन्तु संविधान में भी कुछ ऐसे प्रावधान है जो विरोधाभासी है जैसे समान नागरिक आचार संहिता का न होना। संविधान के भाग 4 में वर्णित राज्य के नीति निदेशक तत्वों में यह कहा गया है कि राज्य ऐसे अल्पसंख्यकों की तुष्टीकरण के चलते 70 वर्षों में भी यह नहीं हो सका। जो कहीं न कहीं साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देती हैं।

13.6 भारत में साम्प्रदायिकता का बदलता स्वरूप :–

भारत में सम्प्रदयिकता केवल धार्मिक उन्माद के रूप में दिखाई नहीं देती है। यह भावना समय–समय पर कई माध्यमों से बढ़ायी जाती है जिसका स्वरूप समय, काल, परिस्थिति व स्थान के अनुसार बदलता रहता है। जैसे सामाजिक रूप में "लव जिहाद" के माध्यम से धर्म के तथा कथित ठेकेदार विपरीत धर्मों के युवाओं के द्वारा की जाने वाली शादियों का विरोध करते हैं और ऐसा करने वालों को यह तत्व चैन से भी जीने नहीं देते हैं। इसी तरह आर्थिक रूप से सम्प्रदाय विशेष के द्वारा एक–दूसरे के प्रति

अघोषित बहिष्कार की नीति अपनायी जाती हैं। इसी तरह राजनीति स्तर पर नागरिकों के द्वारा अपने मताधिकार का प्रयोग धर्म विशेष के उम्मीदवार को ध्यान में रखकर किया जाता है। इस तरह धर्म मतदान व्यवहार का एक प्रमुख कारकों में से एक है। इस तरह धर्म का इस्तेमाल हमारे धर्माधिकारी संकीर्णता के रूप में करने लग जाते हैं तब वह सांप्रदायिकता में परिवर्तित हो जाता है।

साम्प्रदायिकता (गाय–सूअर), कभी रंग (केसरिया–हरा), खान–पान (शांकाहार–मांसाहारी) जैसे प्रतीकों के रूप में दिखाई देती है परन्तु साम्प्रदायिकता की भावना भरने वाले यह भूल जाते है कि यदि गाय किसी की आस्था के जुड़ी हुई है तो किसी दूसरे की रोजी रोटी से। इसी तरह केसरिया व हरे रंग पर कोई अपना एकाधिकार नहीं कर सकता जहाँ हरा शांति व सौहार्द का प्रतीक है वहां केसरिया रंग भारत की सुफी आन्दोलन का प्रतीक है मुस्लिम समुदाय का एक बड़ा हिस्सा सुफीजय के अनुयायी हैं और यह माना जाता है कि सुफीजम के कारण ही भारत में इस्लाम फैला। इसी तरह शाकाहार–मांसाहारी के मुद्दे को हम धर्म विशेष के साथ नहीं जोड़ सकते हैं। भारत में एक अनुमान के अनुसार 70 प्रतिशत मांसाहारी है और ऐसे कई मुस्लिम संत हुए है जिन्होंने शाकाहार का संदेश दिया जैसे सुफी हमीदूदीन नागौरी जिनका मजार नागौर (राजस्थान) में है जहाँ आज भी उनके मजार पर जाने वाले मांस खाकर नहीं जाते और आज भी जब आपका उर्स मुबारक (मेला) होता है तब राजस्थान के स्थानीय व्यंजन मोट बाजरे की खिचड़ी बनायी जाती है। इसी तरह राजस्थान के लोक देवता बाबा रामदेव जिन्हें यहां के हर धर्म का धर्मावलंबी अपने आराध्य देव के रूप में मानते है वहीं ख्वाजा गरीब नवाज के प्रति तो पूरी दुनिया के लोगो की आस्था है।

13.7 पाकिस्तान व भारत में साम्प्रदायिकताः–

यह सही है कि जिस पौधे का बीज ही दूषित व जहरीला हो तो वह पौधे से निकलने वाले फल कभी भी सकारात्मक नहीं हो सकता। जिसके परिणामस्वरूप भारत में सहिष्णुता के वातावरण पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। जिस तरह कुछ तथाकथित अल्पसंख्यक समुदाय के लोगों के द्वारा कहीं न कहीं पाकिस्तान की नीति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन रूप से समर्थन करना भी पूरी तरह से गलत है। इसके अलावा हमारे कई आन्तरिक मामलों में पाकिस्तान अपनी नापाक हस्तक्षेप करने की हिमाकत करने की कोशिश करता और यह जताने की कोशिश करता है कि वह भारत के मुसलमानों का शुभचिंतक है परन्तु उसकी नापाक इरादे हमारे सहिष्णुता के वातावरण को धूमिल करने का प्रयास करते है। कश्मीर में आतंकवाद को पाक के संरक्षण के कारण भारत के मुसलमानों पर भी आरोप लगते रहे हैं कि उनका मौन आंतकवाद को समर्थन सम्प्रदायता व कट्टरपंथी विचारधारा को प्रोत्साहन करता है। हमारा इस संबंध में यह कहना है कि आंतकवादी गतिविधियों के कारण भी साम्प्रदायिकता को बढ़ाने वाली सिद्ध हुई है। जहाँ 8 वें दशक में पजाब में खालिस्तान के नाम पर अलगाववादी गतिविधियां चली जिसकी शिकार हमारे देश की पहली महिला प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी बनी। उसके पश्चात सिख विरोधी दंगों से हजारों बेगुनाह निहत्थे लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया। 9 वें दशक में कश्मीर अलगाववादी की चपेट मे आया जो पिछले 30 वर्षों से जारी है। जिसका असर हमारे देश के अल्संख्यक व बहुसंख्यक समुदायों के आपसी रिश्तों पर पड़ रहा है। जिसके कारण आतंकवाद को धर्म के साथ जोड़ने की प्रवृत्ति शुरू हुई यह केवल भारत में ही नही वैश्विक स्तर पर हुआ। जिसकी पुष्टि राजनीति वैज्ञानिक हंटीगटन की पुस्तक "संस्कृतियों की बीच संघर्ष" में भी हुई परन्तु हमारा यह मानना है कि आंतकवाद का कोई धर्म नहीं होता है। विश्व का कोई भी धर्म आंतकवाद की बात नहीं करता।

सौहार्द व विश्वास ही वो धागा है जिस पर सभी धर्मों के लोगों का रिश्ता टीका हुआ है परन्तु यदाकदा जब इसमें एक दूसरे के प्रति अविश्वास पैदा हो जाता है तब साम्प्रदायिकता हावी हो जाती है।

आंद्रे मालरा ने पण्डित नेहरू के साथ 1958 में एक मुलाकाल में पूछा कि उनके सामने सबसे बड़ी चुनौती क्या है? तो नेहरू बोले उचित तरीके से न्यायसंगल राज्यतन्त्र की स्थापना करना, उसके बात रूक कर कहा शायद एक धार्मिक देश में धर्म–निरपेक्ष राज्य की स्थापना करना सबसे बड़ी चुनौती है।

भारत का संविधान एक धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना करता हैं जिसके अनुसार राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होगा तथा न ही राज्य द्वारा किसी धर्म को प्रोत्साहन दिया जाएगा और सभी धर्मों के लोगों को विकास के समान अवसर उपलब्ध होंगे लेकिन इन सबके बावजूद भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या अपना विकराल रूप धारण कर चुकी है। सम्पूर्ण भारत साम्पदायिकता की आग की चपेट में है। पिछले कुछ समय से इनमें और तेजी आयी हैं। रामजन्मभूमि एवं बाबरी मस्जिद के विवाद ने हिन्दू व मुसलमानों के बीच गहरी खाई पैदा कर दी हैं। इसके अलावा कुछ निहित स्वार्थी तत्वों ने अपनी राजनीतिक इच्छा की पूर्ति के लिये साम्प्रदायिकता के कार्ड का सहारा ले लिया हैं गुजरात में गोधरा कांड के बाद जिस प्रकार से सम्पूर्ण गुजरात में साम्प्रदायिक हिंसा के दौर चला वह एक चिंता का विषय है। इससे न केवल जानमाल की क्षति हुई है अपितु हमारी साख अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गिरी है।

13.8 साम्प्रदायिकता के कारणः–

भारतीय संविधान में यद्यपि भारत को पूर्णतया व विशुद्ध धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है परन्तु आज भारत की धर्मनिरपेक्षता के सम्मुख जो चुनौतियां व समस्या पैदा हो रही है वे हमारे धर्म निरपेक्ष ढ़ाचें के लिए काफी खतरनाक साबित हो रही है। 6 दिसम्बर, 1992 की बाबरी मस्जिद को ध्वस्त करने की घटना ने तो भारत के धर्मनिरपेक्ष ढांचे को हिला कर रख दिया था।

यह घटना भारतीय इतिहास के लिए एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी, जिसकी राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक आलोचना की गई थी। इस घटना को लेकर सम्पूर्ण भारत में साम्प्रदायिक दंगों की ज्वाला भड़क उठी थी, जिसमें हजारों बेगुनाह लोग मारे गये तथा अरबों रूपयों की सम्पत्ति इसकी भेंट चढ़ी। बाबरी मस्जिद की घटना ने अल्पसंख्यक वर्ग में असुरक्षा की भावना पैदा कर दी है। यदि स्वतन्त्र भारत के पिछले 15–20 वर्षों का इतिहास देखे तो भारतीय धर्मनिरपेक्ष ढांचे के सम्मुख निम्नलिखित चुनौतियां हैः–

13.8.1 आडम्बरपूर्ण धर्मनिरपेक्षताः–

भारतीय समाज में साम्प्रदायिकता का मूल कारण आडम्बरपूर्ण धर्मनिरपेक्षता की है। इसके सन्दर्भ में असम उच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश तथा भाजपा के वरिष्ठ नेता श्री गुमानमल लोढ़ा ने कहा है कि भारत में दिखावें व आडम्बरपूर्ण धर्मनिरपेक्षता हैं। उनके अनुसार धर्मनिरपेक्षता एक शाश्वत जीवन प्रणाली, जीवन दर्शन तथा संविधान में उद्घोषित उच्च आदर्श की अभिव्यक्ति है। परन्तु वर्तमान समय में आडम्बरपूर्ण धर्मनिरपेक्षता के पोषकों ने वोट बैक की राजनीति का साधन बना लिया है।

13.8.2 वर्ग विशेष के तुष्टिकरण पर आधारितः–

पिछले कुछ वर्षों से धर्मनिरपेक्षता को केवल अल्पसंख्यक वर्ग के तुष्टिकरण तक सीमित होकर रह गयी है। सम्प्रदायिक सद्भावना का तात्पर्य अल्पसंख्यकों के खुशामद का प्रतीक बन गया है। भारत में लगभग 17 प्रतिशत मुस्लिम मतदाता है। जो करीब 100 निर्वाचन क्षेत्रों के परिणामों को प्रभावित करते है। जिनकी एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मुस्लिम मतदाता एकजुट होकर मतदान करते है। इन मतों को प्राप्त करने के लिए लगभग सभी राजनीतिक दल प्रयास करते है। इसके लिए सभी नकली धर्मनिरपेक्षता का नाटक रचते है। ह्यदय से कोई भी अल्पसंख्यकों के हितों के लिए कार्य नहीं करता है। **कोई तो मुसलमानों को आरक्षण देने की बात करते है तो कुछ पुनः मस्जिद निर्माण की बात करते है,** लेकिन उनके आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक उत्थान की कोई भी बात नहीं करता।

13.8.3 कट्टरपंथी धार्मिक नेताओं व चिन्तकों द्वारा इसको विकृत करनाः–

हिन्दू व मुस्लिम दोनों धर्मों के कट्रपंथी नेताओं ने अपने–अपने धार्मिक दृष्टिकोण से धर्मनिरपेक्षता की अपने हित मे व्याख्या की है। उदाहरण के लिए मौलाना अब्दुल्ला बुखारी, आजम खां, सैयदशहाबुदीन जिलानी, अलीमियां नकवी आदि मुस्लिम लोगों की धार्मिक भावना को समय–समय पर भटकते रहते है। दूसरी तरफ हिन्दुओं में आर.एस.एस., बजरंग दल, शिवसेना व भाजपा के कट्टर धर्मावलम्बी धार्मिक कट्टरता की भावना को भडकाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। इससे दोनों धर्मों के बीच धार्मिक कट्टरता की भावना प्रबल हो रही है जो कि धर्मनिरपेक्षता के लिए एक समस्या के रूप में उभरकर सामने आयी है।

13.8.4 भारतीय समाज द्वारा जीवन के प्रति यांत्रिक दृष्टिकोण अपनानाः–

धर्मनिरपेक्ष मानस, धर्मनिरपेक्ष जीवन और राजनीति का निर्माण पश्चिम में निःसन्देह एक सहज प्रक्रिया रही है और यह सिलसिला 15वीं सदी में पुनर्जागरण के दौरान शुरू हुआ। यदि यूरोप

का आदमी जीवन के प्रति यांत्रिकी दृष्टिकोण नहीं अपनाता और विज्ञान पूर्णता नैतिकवादी मोड़ नहीं लेता तो शायद उन्हें भी धर्मनिरपेक्षता में सफलता नहीं मिलती। भारत इस तरह की घटनाओं से अप्रभावी रहा है। धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा मूलतः पश्चिम से प्रभावित लोगों हावी रही। इसका नतीजा यह हुआ कि बुद्धिजीवी वर्ग अलग थलग पड़ गया और धार्मिक कट्टरता हावी हो गयी है। हिन्दू–मुस्लिम बुद्धिजीवियों के साथ उचित तालमेल नहीं बैठा सके और वे कट्टरता व धार्मिकता के जाल में फंसते गये।

13.8.5 पृथकता का मानना तथा अपने सम्प्रदाय समूह को राष्ट्र से उच्च माननाः–

जहां फारसी, बौद्ध, जैन, ईसाई आदि संगठन सम्प्रदाय आदि संगठन सम्प्रदाय नहीं है। वे तो अपने सदस्यों की भावना से लिप्त है, परन्तु पृथकतावादी भावना की ओर प्रेरित नहीं है। जबकि कुछ अल्पसंख्यक वर्ग बहुसंख्यकों के अत्याचार से पृथकतावादी भावना की ओर प्रेरित हुए है। वे अपने गुटीय हितों की तुलना में राष्ट्रीय हित को गौण मानते है। पंजाब में उग्रवादी गतिविधियां, जम्मू कश्मीर में चल रहा आन्दोलन इसी सन्दर्भ में माना जा सकता है। इसी प्रकार नागालैण्ड में ईसाई पृथक राज्य बनाना चाहते हैं, इसके लिए वे खूनी संघर्ष कर रहे हैं।

13.8.6 मुसलमानों का पिछड़ापनः–

स्वाधीनता के बाद मुसलमानों की आर्थिक स्थिति मे निरन्तर गिरावट आती रही है। सरकारी नौकरियां व्यापार व उद्योग धन्धों में हिन्दुओं की तुलना में वह काफी पिछड़े हुए हैं। 1971 में एक सर्वेक्षण के मुताबिक भारतीय प्रशासकीय सेवा आई.ए.एस. व आई.एफ.एस. में चुने जाने वाले उम्मीदवाद में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व मात्र 1 प्रतिशत था जबकि उनकी आबादी 20 प्रतिशत है। आखिर मुसलमानों के प्रति इस भेदभाव के कारण

उनमें असंतोष की भावना निरन्तर बढ़ती गयी है। अत्यधिक असंतोष धार्मिक कट्टरता को जन्म देता है जो धर्म निरपेक्षता के लिए काफी खतरनाक है।

13.8.7 संकुचित हिन्दू राष्ट्रीयवादः–

भारत में कुछ हिन्दू गुट ऐसे है जो संकीर्ण भावना से ओत–प्रोत है जो धर्मनिरपेक्षता के लिए विशेष रूप से समस्या बनी है, जैसे हिन्दू महासभा, विश्व हिन्दू परिषद, शिवसेना, बजरंग दल, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ आदि। इन्होंने हिन्दुओं की धार्मिक भावना को उत्तेजित करके अल्पसंख्यकों में असुरक्षा की भावना पैदा कर दी है। ऐसे गुट भारत को हिन्दू राष्ट्र बनाने का नारा देकर अल्पसंख्यकों बना रहे है। अयोध्या में बाबरी मस्जिद के विध्वंस के बाद अब इनकी नजरे काशी व मथुरा की मस्जिदों पर है। इस संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद के कारण भारत के धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के सम्मुख बड़ी चुनौती उभरकर सामने आयी है।

13.8.8 पाकिस्तान का प्रचारः–

भारतीय साम्प्रदायिकता को बढ़ाने में पाकिस्तानी प्रचार एक बहुत बड़ी समस्या है। उनके प्रचार माध्यम छोटे–मोटे हिन्दु मुस्लिम तनाव को राजनीतिक तूल देते है इसके अतिरिक्त वे विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर भारतीय मुसलमानों को आधार मानकर भारत को नीचा दिखाने का प्रयास करते है। भारतीय मुसलमानों के प्रति झूठी सहानुभूति दिखाकर उनमें हिन्दुओं के प्रति नफरत पैदा करने का प्रयास करते है।

13.8.9 समान नागरिक आचार संहिता का अभावः–

कुछ हिन्दू गुट तथा भाजपा सहित कुछ राजनीतिक दलों का यह आरोप रहा है कि भारत में समान आचार संहित नहीं है। जम्मू व कश्मीर को संविधान के अनु0 370 के द्वारा विशेष दर्जा मिला हुआ है। अलग–अलग धर्म व अलग–अलग सम्प्रदायों के लिए कानून के अलग कोर्ट है, जैसे–हिन्दुओं के लिए हिन्दू कोर्ट बिल, मुसलमानों के लिए मुस्लिम कोड बिल इससे समान आचार संहित में बाधा पहुंचती है जो धर्मनिरपेक्षता के मार्ग में बाधा है।

13.8.10 राजनीतिक दलों की भूमिकाः–

कुछ राजनीतिक दल देश की धर्मनिरपेक्षता के लिए चुनौती बने हुए है। इन दलों का निर्माण की सम्प्रदाय या धर्म के आधार पर हुआ है इन दलों में प्रमुख है मुस्लिम लीग, जमाते इस्लामी जमाते ऊल, मुस्लिम युनाईटेड फ्रंट, हिन्दु महासभा, शिवसेना, अकाली दल, बहुजन समाजवादी पार्टी, भाजपा आदि। यह राजनीति दल सामान्य समस्याओं पर कम ध्यान देते हैं। इनका संगठन कार्यप्रणाली साम्प्रदायिकता पर आधारित होती है। निर्वाचन के समय उम्मीदवारों का चयन चुनाव प्रचार मंत्रिपरिषद् का निर्माण आदि में यह साम्प्रदायिकता का डंका बजाते हैं।

विशेषः– 11वीं लोकसभा चुनाव में भाजपा की राष्ट्रीय पार्टी ने एक भी अल्पसंख्यक को अपना पार्टी का उम्मीदवाद नहीं बनाया था जो इस बात के शतक है कि यह राजनीतिक दल अल्पसंख्यकों के प्रति कितनी हीन भावना रखते हैं। जो साम्प्रदायिकता की भावना को बढ़ावा नहीं देगी तो फिर किसको देगी?

13.9 साम्प्रदायिकता के दुष्परिणामः–

13.9.1 आपसी द्वेषः– साम्प्रदायिकता के विभिन्न वर्गो में आपसी द्वेष को बढ़ावा मिलता है। यही द्वेष समाज की शांति भंग कर देता है और यही देष के सदस्यों में मारकाटा फैला देता है।

13.9.2 आर्थिक हानिः– साम्प्रदायिकता के कारण आर्थिक हानि भी होती है। न जाने कितनी दुकाने लुट जाती हैं, न जाने कितनी राष्ट्रीय सम्पत्ति नष्ट की जाती है। अयोध्या की घटनाओं के बाद दिसम्बर 1992 में तथा गोधरा काण्ड के बाद अप्रैल 2002 गुजरात में हुई हिंसा से करोड़ो रूपये की सम्पत्ति का नुकसान देश में हुआ है।

13.9.3 प्राण हानि :– साम्प्रदायिकता के कारण प्राण हानि भी अत्यधिक होती है। शायद की कोई ऐसा साम्प्रदायिक दंगा हुआ हो जिसमें कुछ व्यक्तियों की जाने न गई हों। रांची, श्रीनगर बनारस, अलीगढ़, निवडी, हैदराबाद, मेरठ और अहमदाबाद आदि के साम्प्रदायिक दंगों के उदाहरण सामने हैं। इन दंगों में अनेक व्यक्तियों की जाने गई तथा अनेक हमेशा के लिए अपंग तथा अपाहिज बन गये।

13.9.4 राजनीतिक अस्थिरताः– साम्प्रदायिकता का एक दुष्परिणाम राजनीतिक अस्थिरता भी है। साम्प्रदायिकता वे परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देती है या उन परिस्थितियों को उत्पन्न करने में सहायक होती हैं, जिनसे कि देश में राजनीतिक अस्थिरता आ जाती है, जिससे भारतीय लोकतन्त्र को खतरा उत्पन्न हो गया है।

13.9.5 राष्ट्रीय एकता में बाधाः– साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता की गम्भीर शत्रु हैं। राष्ट्रीय एकता का तात्पर्य है, सभी लोग आपस मे एक होकर रहे तथा सबके हित को अपना हित मानें जबकि साम्प्रदायिकता इसके बिल्कुल विरूद्ध हैं।

13.9.6 राष्ट्रीय सुरक्षा को खतराः– भारत बहुसम्प्रदायवाद देश हैं इसमें अनेक अल्संख्यक एवं बहुसंख्यक व्यक्ति निवास करते हैं और इन्हीं अल्पसंख्यक और बहुसंख्यकों के बीच जो साम्प्रदायिक झगड़े और तनाव पैदा होते हैं, उनसे भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा पैदा हो सकता है।

13.9.7 आर्थिक विकास में बाधकः– साम्प्रदायिकता से देश में आर्थिक उन्नति व औद्योगिक विकास में भी बाधा पड़ी है।

II. मुस्लिम चिन्तकः–

जैसा कि उपरोक्त विवचेना में यह स्पष्ट किया मजा चुका है कि भारतीय संस्कृति विश्व की श्रेष्ठतम संस्कृतियों में से एक रही है। जिसने हर धर्म, सम्प्रदाय, संस्कृति, मान्यताओं, दर्शन सरजमीं पर फलने फूलने का भी पूरा अवसर दिया है। इन विभिन्न गैर हिन्दू धर्मों व संस्कृतियों में मुस्लिम धर्म प्रमुख है, जिनकी संख्या भी हिन्दूओं के बाद दूसरे स्थान पर सदैव से रही है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सदियों से हिन्दू व मुस्लिम पारस्पर मैत्री व समरसता के भाव से जीवन जीते आये है जिसका श्रेष्ठ उदाहरण मुगलकाल है जब इन दोनों धर्मों के बीच विवाह संबंध भी स्थापित हुए है और मिलकर भारत में स्थापत्य कला, संगीत, प्रशासन, वास्तुकला आदि की नींव रखी जो आगे चलकर भारत के गौरवशाली पहचान के साथ जुड़ी। धार्मिक रूप से सूफीजम सौहार्द के प्रतीक के रूप में जाना गया जिसके प्रति हिन्दू व मुसलमानों में समान रूप से आस्था रही है। ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि भारत का मुसलमान भारतीय संस्कृति के साथ सदैव जुड़ा रहा जिसका प्रभाव उनके जीवन, रहन–सहन, खान–पान, आचार विचार इत्यादि पर देखा जा सकता है। इसका मुल कारण भारतीय मुसलमानों का हिन्दू धर्म से मुस्लिम धर्म में हस्तातंरण होना रहा है। ब्रिटिश शासन के दौरान अंग्रेजों ने भारतीय मुसलमानों को अपनी ओर जोड़ने का भरपूर प्रयास किया और मुसलमानों में भावना पैदा करने की कोशिश की कि हिन्दू व मुसलमानों के हित आपस में टकराते है और अंग्रेजों का साथ देकर वे न केवल अपना विकास कर सकते है बल्कि सत्ता के करीब रहकर शक्तिशाली भी बन सकते है, परन्तु इसके बावजूद मुसलमानों का अधिकांश हिस्सा अंग्रेजों के विरूद्ध ही खड़ा रहा। 1857 की क्रांति में मुसलमानों की सक्रिय भागीदारी और ब्रिटिश सरकार को उखाड़ फैंकने के संकल्प ने यह सिद्ध किया कि भारत का मुसलमान अपनी बलिदानी देने में अन्य समुदायों से किसी भी रूप में कम नहीं हैं। कुछ तत्व जरूर थे जिन्होंने अंग्रजों की मुकालपत की थी परन्तु इस तरह के लोग हिन्दूओं में भी थे, जिन्होंने अंग्रेजों का साथ दिया तथा कांग्रेस का विरोध करते हुए कट्टरवाद व हिन्दूत्व पर आधारित राष्ट्रवाद का समर्थन किया। इस तरह हम यह नहीं कह सकते कि भारत के स्वतंत्रता संग्राम व राजनीति नवजागरण में किसी समुदाय या धर्म विशेष का ही योगदान हैं या राष्ट्रवाद किसी धर्म विशेष के लोगों में ही आ सकता है, ऐसा करना या कहना किसी भी रूप में उचित नहीं है।

अंग्रेजों के द्वारा अपनी चतुराई से दोनों प्रमुख धर्मों के कुछ लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने की कोशिश की, जिसमें से हिन्दू धर्म से हिन्दू महासभा व मुस्लिम धर्म से मुस्लिम लीग दो ऐसे संगठन थे जो ब्रिटिश साम्राज्य के पैरोकार थे। इस प्रकार ये दोनों तरफ तत्वों का फायदा उठाते हुए अंग्रेजो ने "फूट डालों, राज करों" की नीति का अंगीकार किया। जिसका पूरा लाभ उठाते हुए न केवल भारत पर लम्बे समय तक राज किया अपितु दोनों धर्मों के बीच नफरत व आपसी अविश्वास की इतनी भावना पैदा कर दी, जिसकी परिणिति केवल भारत विभाजन तक सीमित नहीं रही अपितु भारत साम्प्रदायिकता की ऐसी आग में झुलस गया जो आजादी के बाद से लेकर अब तक जारी है। जिसका विस्तृत विवरण हम इस अध्याय की शुरूआत में साम्प्रदायिकता व भारतीय राजनीति के शीर्षक के रूप में कर चुके है।

भारतीय प्रतिनिधित्व मुस्लिम राजनीतिक विचारकों के रूप में सर सैयद अहमद खान, मो. इकबाल, मो. अली जिन्ना व मौलाना मौदुदी इत्यादि को माना जाता है। जिन्होंने अपने विचारों के माध्यम से राजनीति चिन्तन को प्रतिपादित किया।

13.10 सर सैयद अहमद खान (1817–1898)

जैसा कि उपरोक्त विवचेना से यह स्पष्ट हो गया है कि भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में हर एक समुदाय या वर्ग का योगदान रहा। 1857 की क्रांति भारतीय इतिहास व ब्रिटिश शासन के लिए निर्णायक साबित हुई।

इससे पूर्व हैदर अली व टीपू संल्तान ने अंग्रेजों से संघर्ष किया। यह एक ऐसा दौर था जब लगभग 250 वर्षो से चला आ रहा मुगल साम्राज्य का अंत हो चुका था और धीरे–धीरे सम्पूर्ण भारत पर अंग्रेजो का वर्चस्व स्थापित हो गया था परन्तु 1857 की क्रांति अंग्रेजो के विरूद्ध पहली चिंगारी साबित हुई। जिसमें समाज के हर वर्ग ने भाग लेकर राष्ट्र के प्रति अपने त्याग को प्रमाणित किया परन्तु इस समय जिस तरह हिन्दूओं में भी एक वर्ग था जो ब्रिटिश साम्राज्य को भारत के लिए "वरदान" मानता था और पाश्चात्य शिक्षा व संस्कृति को अपनाकर भारतीय समाज में व्याप्त बुराईयों को दूर करने में सहायक मानते थे। ठीक इसी प्रकार मुसलमानों में भी एक वर्ग था जो अंग्रेजो के प्रति उदार दृष्टि रखते हुए ब्रिटिश शासन का समर्थन करते थे। इस तरह 1857 के पश्चात अंग्रेजो के साथ किस प्रकार का संबंध रखा जाए इसको लेकर मुस्लिम समुदाय में दो वर्ग उभरकर सामने आये जिसमें से एक वर्ग था जो किसी भी कीमत में अंग्रेजी साम्राज्य को उखाड़ फैंकना चाहते थे। दूसरी ओर एक वह वर्ग था जो मुस्लिम समुदाय के विकास के लिए ब्रिटिश साम्राज्य को मुसलमानों के लिए लाभकारी मानते थे। पहले वर्ग का नेतृत्व सैयद अहमद बरेलवी ने किया जबकि दूसरे वर्ग की विचारधारा ने अलीगढ़ आन्दोलन का जन्म दिया, जिसका नेतृत्व सर सैयद अहमद खान ने किया।

सर सैयद अहमद खान 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सबसे प्रमुख मुस्लिम चिन्तकों के रूप में स्वीकार किया जाता है। उन्हे सुधारक, शिक्षाविद् और आधुनिक भारत के निर्माता के रूप में जाना जाता है। वे पहले मुस्लिम सुधारक थे जिन्होंने मुसलमानों में व्याप्त पिछड़ापन को दूर करने के लिए शिक्षा को प्रमुख साधन माना जिसको पूरा करने के लिए **"मोहम्मद एंग्लो ओरिएंटल कॉलेज"** की **स्थापना 1885** में की जो आगे चलकर **अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय** के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

सर सैयद अहमद खान की पहचान एक ऐसे चिन्तक व सुधारक के रूप में की जाती है जिन्होंने अंग्रेजो के प्रति उदार दृष्टिकोण रखा। उनका जन्म 17 अक्टूबर, 1817 को मुगल दरबार से जुड़े परिवार में हुआ था। उन्होंने मुगलों के पतन को अपनी आँखों से देखा था और इस बात से भी भलीभांति परिचित थे कि भारत में अंग्रेजों की शक्ति व सत्ता सर्वत्र स्थापित हो चुकी है और इसके जड़े भी इतनी मजबुत है कि आसानी से उखाड़ फैंका नहीं जा सकता। 1803 से ही अंग्रेजों ने मुगलों को कैद कर रखा था। यद्यपि प्रारम्भ में सर सैयद अहमद खान को परिवार अंग्रेजों का विरोधी था परन्तु इसके बावजुद उन्होंने ब्रिटिश ईष्ट इण्डिया कम्पनी में छोटी सी नौकरी प्राप्त की और 1846 से 1854 तक वे दिल्ली के सदर अमीन रहे। 1855 में उनका तबादला बिजनौर में हो गया।

1857 की क्रांति के समय उन्होंने अंग्रेजो की रक्षा की। अंग्रेज इस क्रांति को दबाने में सफल रहे परन्तु जब हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों के प्रति भी नफरत की भावना और बढ़ी और मुसलमानों से हर हाल मे बदला लेने का निश्चय किया। सर सैयद अहमद खान ने अंग्रेजों व मुसलमानों के बीच बिगड़े संबंधों को जोड़ने के लिए कड़ी के रूप में कार्य किया। उन्होंने अपने जीवन के दो प्रमुख उद्देश्य बनाये– पहला मुसलमानों व अंग्रेजों के बीच संबंधों का ठीक करना, दूसरा मुसलमानों में पाश्चात्य मूल्यों पर आधारित आधुनिक शिक्षा का प्रसार करना। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने मुसलमानों को समझाया कि ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी रखने से उनके हितों की पूर्ति हो सकती है। इस तरह उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन मुसलमानों को शिक्षा के साथ जोड़ने के लिए समर्पित किया ताकि शिक्षा व विज्ञान के माध्यम से मुसलमान के पिछड़ेपन को दूर किया जा सके तथा उनका समग्र विकास सुनिश्चित किया जा सके।

13.10.1 आधुनिक शिक्षा में सर सैयद अहमद का योगदान–

जैसा कि हमारे द्वारा पूर्व में भी यह स्पष्ट कर दिया गया था कि सर सैयद अहमद के दो प्रमुख उद्देश्यों मे से एक मुसलमानों के लिए आधुनिक शिक्षा प्रमुख था। अपने विचारों व उद्देश्यों को लागू करने के लिए अलीगढ़ को केन्द्र बनाया। यहां से किये गये उन सभी प्रयासों को भारतीय इतिहास में सामूहिक नाम "अलीगढ़ आन्दोलन" रखा गया। 1885 में सर सैयद अहमद खान ने अलीगढ़ में "मोहम्डन एंग्लो ओरिएंटल कॉलेज" की स्थापना की। इस कॉलेज ने मुसलमानों में नवचेतना लाने व उन्हें संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस कॉलेज के माध्यम से ब्रिटिश स्वामी भक्त मुस्लिम तैयार करने थे। इस प्रकार शिक्षा के प्रति उनका समर्पण व मुस्लिम लोगों का विकास उनका ध्यये था जिसके लिए वे जीवन पर्यन्त प्रयासरत् रहे परन्तु वे अपने इन विचारों को आम मुस्लिम तक नहीं पहुंचा सके जिसके कारण वे शिक्षा के साथ कुछ उच्च परिवारों से संबंध रखने वाले लोगों को ही जोड़ पाये। वे आगे चलकर अंग्रेजों की "फूट डालो राज करों" की नीति के शिकार हुए और कांग्रेस विरोधी मोर्चे व मुस्लिम लीग के संस्थापक सदस्य बने।

13.10.2 हिन्दू मुस्लिम एकताः–

सर सैयद अहमद खान हिन्दू मुस्लिम एकता के पेरोकार (समर्थक) थे। उनका दृष्टिकोण हिन्दुत्ववादी विचारों से भिन्न थे क्योंकि वी.डी. सावरकर व एम.एस. गोलवलकर ने कभी भी हिन्दू मुस्लिम एकता की बात नहीं की बल्कि इसके विपरीत संकुचित विचारों को अपनाते हुए धर्म विशेष पर केन्द्रीत राष्ट्रवाद का प्रतिपादन किया जा भारत जैसी विविधता वाले देश के लिए उचित नहीं कहा जा सकता। सर सैयद अहमद खान ने हिन्दूओं और मुसलमानों को एक सुंदर दुल्हन की दो सुदंर आँखे कहा था। उन्होंने 1888–1898 में तहजीब–उल–अखलाक में दो निबंध लिखे जिसमें उन्होंने मुसलमानों को गौ हत्या छोड़ने के प्रेरित किया ताकि हिन्दू व मुसलमानों के बीच अच्छे संबंध स्थापित हो सके क्योंकि गौ के प्रति हिन्दुओं की आस्था भी जुड़ी है।

सर सैयद अहमद खान के विभिन्न विचारों के ये कुछ पहलु थे। जहाँ पर वे कुछ जगह मुसलमानों की भलाई के लिए वचनबद्ध थे, जबकि कुछ ऐसे भी पहलु थे जिसमें वे मुसलमानों को दूसरे राजनीतिक विकल्प का भी सुझाव दिया। वे मुसलमानों को कांग्रेस के निकट नहीं लाना चाहते थे। 1888 में सर सैयद अहमद खान ने कहा था, "कांग्रेस में हिन्दू लोग बंगालियों के साथ मिलकर अपनी शक्ति बढ़ाना चाहते है जिससे कि वे मुसलमानों को दबा सके।" इस प्रकार सर सैयद मुसलमानों को राजनीतिक रूप से सशक्त बनाने के लिए सम्भव प्रयास किया। उन्होंने इस बात का प्रचार–प्रसार किया कि यदि भारत में प्रतिनिधिमूलक लोकतांत्रिक सरकार बन जाती है और ब्रिटिश शासन समाप्त हो जाता है तो भारत पर हिन्दुओं का शासन हो जाएगा और मुसलमानों को उनकी अधीनता में रहना होगा। इस तरह सर सैयद के विचारों से ऐसा प्रतीत होने लगा कि भारतीय समाज में हिन्दु मुस्लिम दो विपरीत धुव्र है। जिनके हित व उद्देश्य अलग–अलग है परन्तु यह कहना उचित व समय के अनुसार उचित नहीं था क्योंकि भारत जिस गुलामी के दौर से गुजर रहा था उससे मुक्ति भारत से संबंध रखने वाले हर एक व्यक्ति के साथ जुड़ी हुई थी क्योंकि इस गुलामी की कीमत भारत लम्बे समय से चुका रहा था। हमारे स्वतंत्रता संग्राम का उद्देश्य यही था कि हर हाल में भारतीय गौरव को प्राप्त करना और हमारे सांस्कृतिक मूल्यों व विरासत को पुनः हासिल कर भारत को सशक्त राष्ट्र के रूप प्रतिस्थापित करना था। यहां केवल हिन्दू व मुसलमानों के हितों से कोई सरोकार नहीं। हर व्यक्ति या समूह या धर्म के कोई विशेष हित हो सकते है परन्तु यहां सम्पूर्ण राष्ट्र के हितों की पूर्ति करना परम ध्येय था। धर्म के नाम पर बांटना किसी भी रूप से भारत के लिए उचित नहीं परन्तु यह बांटने की राजनीति साम्प्रदायिकता का बीजारोपण करने वाली सिद्ध हुए जिसको बढ़ाने में हिन्दू व मुस्लिम दोनों ही धर्मों से जुड़े विचारकों ने किया। यह एक अलग बात है कि दोनों धर्मों के अधिकांश लोगों ने इन बातों पर ध्यान नहीं दिया। जैसे बदरूद्धीन तैयब जी ने सर सैयद के तर्क का खण्डन किया कि मुसलमानों का हित भारत की प्रगति के कारण ही अच्छी तरह पूरा होगा। इस तरह कांग्रेस के साथ प्रारम्भ से ही अनेक मुसलमान जुड़ने लगे। देवबंद के द्वारा मुसलमानों को कांग्रेस में शामिल होने के लिए फतवे जारी किये गए। इस तरह सर सैयद सहित उन तमाम विचारकों का प्रभाव कुछ लोगों तक ही सीमित रहा।

इस तरह हम कह सकते है कि सर सैयद अहमद खान भारत में किसी घृणा का प्रचार नहीं कर रहे थे उनका प्रमुख उद्देश्य मुसलमानों के पिछड़ेपन को दूर करना और उनमें शिक्षा का व्यापक प्रचार–प्रसार करना। भारत में जहां विभिन्न धर्मों व अन्य विविधताओं के लोग रहे है और उन्होंने अपने स्तर पर अपने समुदाय या धर्म विशेष के लिए विकल्प दिये या विकल्प तलाशने की कोशिश की ताकि उनके वजूद को बचाया जा सके। उनका देहांत 27 मार्च 1898 को हो गया।

13.11 मौहम्मद इकबाल (1876–1938) :–

अल्लामा इकबाल को एक राजनीतिक चिन्तक से ज्यादा एक दार्शनिक व कवि के रूप मे जाना जाता है। "सारे जहां से अच्छा हिन्दुस्तां हमारा" उनका गीत भारत के स्वतंत्रता संग्राम के प्रमुख गीतों में से एक था जिनका बंकिमचन्द्र बनर्जी ने आनन्द मठ में वंदेमातरम राष्ट्रीय गीत बना ठीक उसी तरह स्थान अल्लामा इकबाल के **तराना–ए–हिन्द** में लिये इस गीत का स्थान है। जिसके आधार पर हम यह आकलन उन्होंने इस गीत के माध्यम से हिन्दुस्तान (भारत) की श्रेष्ठता को स्थापित करने की कोशिश की और इसको प्रमाणिकता के साथ सिद्ध किया कि भारतीय संस्कृति व दर्शन इतना महान व गौरवशाली है कि इतने हमले होने के बावजूद हमारी संस्कृति विश्व की अल्प संस्कृतियों से श्रेष्ठ है और अन्य सभी संस्कृतियाँ समाप्त हो चुकी है परन्तु इसकी गौरवशाली गरिमा कायम है यद्यपि हर आक्रमणकारी की बुरी नजर इस पर रहने के बावजूद यह विश्व का नेतृत्व करने की क्षमता रखती है। इसके माध्यम से न केवल हिन्दू मुस्लिम एकता पर जोर दिया।

13.11.1 जीवन परिचय :–

मोहम्मद इकबाल जिन्हें अल्लामा इकबाल के रूप में जाना जाता है। वे एक प्रमुख कवि, साहित्यकार, दार्शनिक व सुधारक थे। कुरान व हदीस के अनुसार जीवन जीने पर उन्होंने बल दिया। वे आजीवन मुस्लिम उत्थान के लिए प्रयासशील रहे। इनका जन्म 27 फरवरी, 1873 को पंजाब के स्यालकोट में हुआ। उनके पूर्वज कश्मीरी ब्राह्मण थे जिन्होंने तीन सौ वर्ष पहले इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था। वे अपने वंश को गौरव से देखते थे। जिसकी झलक उनकी कविताओं व शायरी में देखी जा सकती है। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा परम्परागत मकतब में हुई। बाद में उन्होंने स्यालकोट मिशनरी स्कूल में प्रवेश लिया और स्कूली शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात्

उच्च शिक्षा के लिए लाहौर चले गए और वहां के गर्वमेंट कॉलेज में प्रवेश लिया और 1897 में बी.ए. पूरी की, उसके बात स्नातकोतर की उपाधि लेकर लाहौर कॉलेज में ही लेक्चरर बन गए। 1899 से 1905 तक वे लाहौर में रहकर अध्यापन कार्य करवाया। उसके पश्चात यूरोप गए और म्यूनिख में पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की।

यद्यपि अल्लामा इकबाल का झुकाव प्रारम्भ से ही इस्लाम व कुरान के द्वारा बताए गए तरीकों पर था परन्तु यूरोप की यात्रा ने उनमें जो राष्ट्रवाद से जुड़ी विचार धाराएं थी, परन्तु वे धीरे धीरे केवल मुसलमानों के प्रति झुकने लगे। उनके विचारों के परिवर्तन में 1905 का बंगाल विभाजन (बंगभंग) ने आग में घी का काम किया। प्रो. ताराचन्द लिखते है कि "उनके मन से भारत को निकला कर इस्लाम को प्रतिष्ठित कर दिया।" इस तरह बंगाल विभाजन से हिन्दू और मुसलमानों में फूट पड़ गई। इससे पहले बंगाल में मुसलमानों को भड़काया गया कि बंगाल का विभाजन होने से पूर्व बंगाल में उनका बहुमत हो जाएगा और मोहम्मद इकबाल सहित अनेक इस्लामिक चिन्तकों ने इसका समर्थन इस रूप में किया कि इससे शासन में विशेष रूप से बंगाल प्रान्त जिस पर अब तक केवल हिन्दुओं का प्रभाव रहा है वहां पर मुसलमानों को भागीदारी मिल सकेगी परन्तु बंगाल विभाजन आगे चलकर भारत के विभाजन की नींव बना।

जिस प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू धर्म के पुर्नउत्थान हेतु "वेदों की ओर लौटों" की प्ररेणा दी ठीक उसी प्रकार अल्लामा इकबाल के द्वारा मुस्लिम समाज को "कुरान की ओर लौटों" अर्थात् कुरान के द्वारा बनाए गए तरीके व नियमों के अनुसार जीवन जीओं किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती और ऐसा करने से यह जीवन में सुखी होगा और अखिरियत भी सुधरेगा अर्थात् स्वर्ग (जन्नत) की प्राप्ति होगी।

13.11.2 इकबाल का राष्ट्रवादः–

राष्ट्रवाद की भावना ही वह माध्यम है जो बड़ी से बड़ी विपदा में और हजारों विविधताओं में भी राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांध सकती है। राष्ट्रवाद की भावना का कमजोर होने की कीमत भारत कई बार चुकाई। जब भारत का स्वतंत्रता संग्राम जारी था उस समय की राष्ट्रवाद के विविधित रूपों की बात हुई जैसे वी.डी. सावरकर के द्वारा जिस राष्ट्रवाद की बात कही गई वह हिन्दू केन्द्रीत भी अर्थात् उनका लक्ष्य केवल हिन्दुओं का विकास था वही इकबाल केवल मुसलमानों के विकास तक सीमित थे। समग्र सोच में यह विचार संकुचित माने जाते है। किसी भी एक समूह या समुदाय के विकास की बात करना बेमानी है और यह विकास का अधूरा रूप है इस प्रकार इकबाल राष्ट्रवाद का विरोध व अखिल इस्मालवाद का समर्थन किया।

अल्लामा इकबाल प्रारम्भ में राष्ट्रवाद की भावना से ओत प्रोत विचारक के रूप में जाने गए, परन्तु आगे चलकर वे अपने प्रतिक्रियावादी रूप को छिपा नहीं सके। इकबाल अखिल इस्लामवाद के विश्वास करने लग गए। उन्होंने एक कवि व विचारक के

रूप में एक आदर्श समाज वैश्विक समाज का स्वप्न देखा जिसमें जाति, धर्म, रंग आदि के आधार पर भेद न हों। उनका विश्वास था कि इस प्रकार के आदर्श समाज की सामाजिक व्यवस्थाओं और मूल्यों की स्थापना केवल इस्लाम ही कर सकता है। जब दयानन्द सरस्वती के द्वारा वेदों की ओर लौटों व महात्मा गांधी के द्वारा अपने उपादर्श अहिंसात्मक राज्य को चित्रित करने में रामराज्य की परम्परागत हिन्दू धर्म की धारणाओं का अनुसरण किया तब इकबाल के द्वारा आदर्श वैश्विक समाज की बात करना स्वाभाविक ही था। परन्तु दयानन्द सरस्वती व गांधी के विचारों में मानवतावादी सोच सर्वोच्च भी परन्तु इकबाल के विचारों में इस्लामिक विचारों की प्रधानता थी। उनकी विचारधारा के मूल में एक अभ्रिपाय यह रहा कि विभिन्न मुस्लिम राष्ट्र मिलाकर एक अखिल भारतीय इस्लामी संगठन बनाया जाए इसलिए उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद की भावना को प्रोत्साहन नहीं दिया। इकबाल के अनुसार राष्ट्रवाद एक संकुचित विचारधारा है जिसके आधार पर राष्ट्र एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास कर

रहे है। राष्ट्रवाद की पराकाष्ठा उस राष्ट्र की जनता के लिए भी उपयुक्त नहीं है। जिसकी आड़ में शासक जनता की भावनाओं से खेलकर अपनी सता को सुरक्षित बनाएगा। इस तरह धीरे धीरे यह राष्ट्रवाद की धारणा खोखली होकर शासकों के स्वार्थ सिद्धी का माध्यम बन जाती है। जब इकबाल यूरोप से लौटे तब यह भावना उनके घर कर गई, परन्तु यहां पर इस बात पर अवश्य ध्यान देने की आवश्यकता है कि भारत जैसे औपनिवेशिक समाज में राष्ट्रवाद किसी अन्य देश पर अधिकार जताने के लिए नहीं था बल्कि अंग्रेजो के हाथों औपनिवेशिक शासन और शोषण से मुक्ति के लिए था। यह सही है कि जिस तरह एक राज्य के सम्प्रभुत सबसे अनिवार्य व महत्वपूर्ण तत्व है ठीक उसी प्रकार एक राष्ट्र के लिए राष्ट्रवाद निहायत जरूरी है जिसके अभाव मे राष्ट्र अपनी पहचान व अस्तित्व को लम्बे समय तक नही बनाए रख सकता।

13.11.3 मुसलमानों के पृथक प्रांत की मांगः–

इकबाल का मानना था कि भारत के मुसलमानों के उज्ज्वल भविष्य के लिए अलग प्रांत की स्थापना की जाए। वे मुसलमानों को न केवल एक अखिल भारतीय अलसंख्यक समाज मानते थे, बल्कि उन्हें एक अलग राष्ट्र तक कहने के लिए तैयार थे। वे एकात्मक भारतीय राष्ट्र के आदर्श के खिलाफ थे। उनकी नजरों में मुसलमानों पर बहुसंख्यक आधिपत्य स्थापित करना चाहते है।

इस प्रकार इकबाल पुनः भारत आकर धीरे धीरे राजनीति में सक्रिय होने लगे। वे पृथक निर्वाचन मण्डलों की मांग के मुस्लिम लीग के प्रचार से प्रभावित हुए। 1908 मे भारत लौटने पर पंजाब की प्रान्तीय मुस्लिम लीग में शामिल हो गए। यही से इकबाल का सरोकार व चिन्ताएं केवल मुसलमानों तक जुड़ी रही। 1927 में वे पंजाब विधानसभा के लिए चुने गए और उन्होंने सभा की चर्चाओं में सक्रिय रूप से भाग लिया जिसमें उन्होंने जनहितों से जुड़े कई मुद्दे भी उठाए, जिसमें शिक्षा लोगों के लिए हितकारी है के मुद्दे को प्रबलता के साथ उठाया। विधानसभा की गई बहसों में उन्होंने संयुक्त राष्ट्रवाद का विरोध किया।

1930 में इलाहबाद में मुस्लिम लीग के एक विशेष अधिवेशन मे अध्यक्षीय भाषण देते हुए उन्होंने अपने उत्तरी–पश्चिमी भारतीय मुस्लिम राज्य की स्थापना की योजना का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा–"मेरी इच्छा है कि पंजाब सीमा प्रान्त, सिन्ध और ब्लूचिस्तान को एक राज्य के रूप में संगठित किया जाए। हमें स्वराज चाहे जो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही मिले अथवा उसके बाहर परन्तु स्पष्ट रूप से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि एक एकीकृत पश्चिमोत्तरी भारतीय मुस्लिम राज्य का निर्माण मुसलमानों की कम से कम पश्चिमोत्तरी भारत के मुसलमानों की इच्छा है।" अपने मत की व्याख्या करते हुए उन्होंने आगे कहा कि "मैं केवल भारत और इस्लाम की भलाई के मत से एक संगठित इस्लामी राज्य की स्थापना की मांग कर रहा हूँ। इससे दोनो प्रमुख धर्मो की मांग पूरी हो सकेगी व शक्ति सन्तुलन भी बन जाएगा। जो स्थाई शांति के लिए जरूरी भी है।" इस तरह इकबाल ने भारत के भीतर मुस्लिम भारत की मांग रखी।

13.11.4 पूंजीवाद व समाजवाद का विरोधः–

इकबाल ने पूंजीपतियों और जमींदारों के एकाधिकारी दावों का विरोध किया। उनका यह विरोध आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में किया गया। इकबाल ने पूंजीवाद के भयावह आर्थिक चित्र के दर्शन किए, लोकतंत्र के उदारवादी आवरण को झॉककर उसके शोषण को देखा और अपनी कविताओं में पूंजीवाद के अन्याय के खिलाफ अपना विद्रोह व्यक्त किया। इस तरह सभी प्रकार के अन्याय का विरोध किया।

इकबाल पूंजीवाद के विरोधी थे परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि समाजवाद के समर्थक थे। उन्होंने हर समस्या का समाधान कुरान के दृष्टिकोण से देखा। हॉ वे भावात्मक रूप से समाजवादी थे क्योंकि मानव जाति के प्रति प्रेम उन्होंने प्रकट किया।

13.11.5 इकबाल का कांग्रेस विरोधः–

इकबाल ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का भी विरोध किया क्योंकि उनकी नजर में यह मूलतः पूंजीपतियों का एक संगठन था। इतना ही नहं वे कांग्रेस को भारत के देशों नरेशों का संगठन मानते थे। इसलिए उन्होंने मुसलमानों से कांग्रेस से दूर रहने की अपील की परन्तु भारत के अधिकांश मुसलमानों से कांग्रेस से दूर रहने की अपील की क्योंकि इकबाल का कांग्रेस विरोध के पीछे मूल कारण अपनी राजनीति को प्रभावी बनाना था। इकबाल की इस सोच के विपरीत कांग्रेस एक जन आन्दोलनकारी पार्टी थी बल्कि मुस्लिम लीग जमींदारों के प्रभुत्व वाली

पार्टी थी। समकालीन राजनीतिक प्रक्रिया में इकबाल की भागीदारी अंतर्विरोध से भरी हुई थी कथापि साहित्य व दर्शन के क्षेत्र में उनका योगदान सदैव अमर रहेगा। 21 अप्रैल, 1938 को उनका देहान्त हो गया।

13.12 मौलाना मौदुदी (1903–1979)

सैयद अबुल मौदुदी जिन्हें मौलाना मौदुदी के नाम से भी जाता है, बीसवीं शताब्दी के इस्लाम के महान तक पुनर्जागरणवादियों में से एक थे। इस्लाम और मुसलमानों से संबंधित प्रचुर साहित्य की रचना करने के अतिरिक्त, उन्होंने 1941 में जमात–ए–इस्लामी की स्थापना की। मौलाना मौदुदी वर्तमान महाराष्ट्र के औरंगाबाद के एक धर्मपरायण मुस्लिम परिवार में 2 सितंबर, 1903 को उत्पन्न हुए। उन्होंने शुरू से ही इस्लामिक अध्ययन में शैक्षिक प्रशिक्षण प्राप्त किया। बीसवीं शताब्दी के दुसरे दशक के अंत में, वे असहयोग–खिलाफत आन्दोलन की ओर आकृष्ट हुए तथा गांधीजी के कार्य से इतना प्रभावित हुए कि उन्होंने उनके व्यक्तित्व और कार्य पर एक पुस्तक लिखी परन्तु इस ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया। जबलपुर में ताज नामक पत्र से वे भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के कार्य के प्रति वचनबद्ध मुस्लिम धर्मविशेषज्ञों (विद्वान) की एक संस्था जमायते–उल–उलेमा–ए–हिन्द के संपर्क में आए जिसे 1919 के अंत में स्थापित किया गया था। वे इस संस्था द्वारा शुरू किए मुस्लिम नामक पत्र के संपादक हो गए और इसके बंद होने तक 1923 के अंत तक इसमें कार्य किया। बाद में जमायते–उल–उलमा–ए–हिन्द ने अल–जमायत नामक दूसरा पत्र आंरभ किया। वे इसके संपादक बन गए और 1927 के अंत तक इस पत्र के लिए कार्य करते रहे।

जमायत के साथ अपने संपर्क तोड़ने के बाद, वे एक स्वतंत्र इस्लामी चिंतक के रूप में उभरे और 1927 में अल–जिहाद–फिल–इस्लाम का प्रकाशन आरंभ किया। इसमें उन्होंने श्रद्धानंद की हत्या के कारण उत्पन्न कई मुद्दो के बारे में लिखा था और तर्क दिया कि मुसलमानों द्वारा किए गए आक्रमण के सभी कार्यों को जिहाद नहीं कहा जा सकता। इस पुस्तक को धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में व्यापक मान्यता मिली। परन्तु मौलाना मौदुदी के भविष्य का कोई स्पष्ट लक्ष्य नहीं था। उन्हें 1936 में हैदराबाद में तर्जमन–उल–कुरान के संपादक पद से बहुत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई। उनके लेखों ने मौहम्मद इकबाल का भी आकृष्ट किया और इकबाल ने उन्हें पठानकोट बुलाया और वहां अपना अध्ययन जारी रखने के लिए कहा। उन्होंने वहां वक्फ के कुछ संपत्ति सहायता के रूप में सौंपी। वे जनवरी, 1938 में दारूल इस्लाम अकादमी स्थापित करने के लिए पठानकोट चले गए। परन्तु मौहम्मद इकबाल की मृत्यु के तुरन्त बाद मौलाना मौदुदी लाहौर लौट गए और वहां इस्लामिया कॉलेज में इस्लामियत पढ़ाने लगे।

13.12.1 राष्ट्रवाद पर मौलाना मौदुदी के विचारः–

मुसलमान क्षैत्रीय राष्ट्रवाद के अंग है अथवा उससे अलग हैं, इस संबंध में मौलाना मौदुदी के विश्व मुसलमान में कुछ परिवर्तन दिखाई देता है। हमने इस बात की पहले ही चर्चा की है कि मौलाना मौदुदी ने आरम्भिक वर्षों में संयुक्त क्षेत्रीय राष्ट्रवाद (composite territorial nationalism) में विश्वास किया परन्तु बाद में उनमें वैचारिक परिवर्तन आ गया। उन्होंने कहना शुरू कर दिया था कि इस्लामिक "राष्ट्रत्व" क्षेत्रीय राष्ट्रवाद से अधिक प्रासंगिक है। इसमें सभी को समाविष्ट करने की क्षमता है। उनका मानना था कि इस्लामिक "राष्ट्रत्व" (nationhood) मूलवंश, भाषा और देश की अन्य राष्ट्रीयताओं के साथ सह–अस्तित्व नहीं कर सकती। उन्होंने कहा कि मुसलमानों को जन्म भूमि से सभी संबंध तोड़ लेने चाहिए। मौलाना मौदुदी के विचार में, इस्लामिक और भौगोलिक राष्ट्रवाद दो परस्पर विशिष्ट पहचान थीं, अतः उन्हें डर था कि मुसलमानों में भौगोलिक राष्ट्रवाद इस्लामिक "राष्ट्रत्व" और एकता को कम कर देगा। उन्होंने सोचा कि भारतीय नेताओं का यह विश्वास गलत था कि अंग्रेजों से लड़ने के लिए उन्हें आम राष्ट्रीयता उत्पन्न करनी चाहिए। वे हुसैन मदनी के इस दावे से सहमत नहीं हुए कि भारतीय एक राष्ट्र का निर्माण नहीं करता। इसके विपरीत, सभी समुदायों को राजनीतिक रूप से एक हो जाना चाहिए, ताकि वे क्षेत्रीय आधार पर एक अलग राष्ट्र बन सकें। हालांकि हुसैन अहमद मदनी जमाय–उल–उलेमा–ए–हिंद की ओर से ये तर्क प्रस्तुत कर रहे थे, फिर भी दे इस तथ्य से परिचित थे कि मुसलमान राष्ट्र निर्माण करने की प्रक्रिया में शामिल होने के इच्छुक है परन्तु उन्हें अपनी अलग धार्मिक–सांस्कृतिक पहचान बनाए रखनी चाहिए। मौलाना मौदुदी की इस्लामिक "राष्ट्रीकता" व की अवधारणा को बिल्कुल भी नहीं समझा जा सकता था क्योंकि जब उन्होंने कहा कि वे सभी जो अंग्रेजों के साथ लड़ रहे हैं, उन्हें पता होना चाहिए कि यदि अंग्रेजों को गैर–मुसलमानों को सत्ता हस्तांतरित करनी है, तो इस प्रक्रिया में एक मुस्लिम की सहभागिता धर्म के दृष्टिकोण से ठीक नहीं होगी। उन्होंने आगे कहा कि यदि मुसलमान वास्तव में अंग्रेजों से स्वतंत्रता के लिए लड़ना चाहते हैं तो उन्हें दिमाग में एक स्पष्ट उद्देश्य रखना चाहिए कि वे भारत

को दर–अल–इस्लाम बनाने का प्रयास करेंगे जिसमें मुसलमानों के लिए इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार अपने जीवन को व्यवस्थित करना संभव होगा। 1937–38 के आसपास, मौलाना मौदुदी ने राज्य के अंदर ही विशेष राज्य का प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें मुसलमानों को शरिया के अनुसार अपने जीवन को व्यवस्थित और अपने "राष्ट्रीय जीवन" को परिरक्षित करने की स्वतंत्रता होगी।

एक प्रकार से मुसलमानों के लिए धार्मिक राष्ट्र की मौलाना मौदुदी की अवधारणा इतनी शक्तिशाली थी कि उन्होंने समस्त भारत के सभी लोगों को जन संप्रभुता ;चवचनसंत वअमतमपहदजलद्ध के अधीन लाने के लिए न तो कांग्रेस की नीति का समर्थन किया और न ही मुस्लिम लीग के दावे का समर्थन किया कि भारतीय मुसलमान स्वयं एक राष्ट्र हैं जिससे कि भारत के विभाजन की मांग को और पाकिस्तान के निर्माण को उचित ठहराया जा सके। मौलाना मौदुदी के अनुसार राष्ट्रवाद की मुस्लिम लीग की अवधारणा भी अपने आप में सीमित थी। मौलाना मौदुदी के धार्मिक और राजनीतिक दर्शन का प्रचार करने के लिए 25 अगस्त 1941 को उनकी अध्यक्षता में जमात–ए–इस्लामी नाम से एक दल स्थापित किया गया। जमात की स्थापना करते समय, एक संविधान भी तैयार किया गया जिसमें राजनीतिक मामलों की अपेक्षा धार्मिक मामलों पर अधिक बल दिया गया।

कांग्रेस की आलोचना से प्रोत्साहित होकर मुस्लिम लीग ने मौलाना जफर अहमद अंसारी के माध्यम से दो बार मौलाना मौदुदी की सहायता प्राप्त करने के बारे में सोचा। उन्हें 1937 में लीग के शोध समूह ;तमेमंतबी हतवनचद्ध में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया गया। 1945 में फिर मौलाना अंसारी ने उन्हें उसी तरह का निमंत्रण भेजा। दोनों अवसरों पर उन्होंने लीग का निमंत्रण ठुकरा दिया। 1944 में राह–ए–अमल शीर्षक से प्रकाशित एक लघु पुस्तक में मौलाना मौदुदी ने कहा कि मुसलमानों का विरोध न तो हिन्दूओं के लिए है और न ही अंग्रेजों के लिए हैं उनका एकमात्र उद्देश्य ईश्वर (अल्लाह) की प्रभुसत्ता स्थापित करना है। इसे ध्यान में रखकर उन्होंने सभी मुस्लिम संगठनों को फटकार लगाई कि वे या तो हिन्दूओं की "स्वतंत्रता " से अथवा ब्रिटिश साम्राज्यवाद से ग्रस्त हैं। उनके अनुसार मुसलमानों की वास्तविक सुरक्षा ईश्वर के अलावा उन लोगों के शासन से मुक्ति में है।

मौलाना मौदुदी ने पाकिस्तान के लिए मुस्लिम लीग के दावे का समर्थन नहीं किया क्योंकि यह इस्लामिक राष्ट्र की उनकी अवधारणा के अनुरूप नहीं था। ऐसी मांग क्षेत्रीय राष्ट्रवाद पर आधारित थी। वह इसे नहीं मान सके। परन्तु जब विभाजन होने वाला था, उन्होंने जमात–ए–इस्लामी को दो भागों में विभाजित कर दिया ताकि एक भाग पाकिस्तान में कार्य करें और दूसरा भाग भारत में कार्य कर सके तथा उन लक्ष्यों को पूरा किया जा सके जो इसने अपनी स्थापना के समय निर्धारित किए थे। यह दूसरी बात है कि 1948 में मौलाना मौदुदी स्वयं पाकिस्तान चले गए और अनेक बार पाकिस्तान सरकार के हाथों मुसीबतें झेलीं।

13.13 मौहम्मद अली जिन्ना (1876–1948):–

आधुनिक भारतीय राजनीतिक व चिन्तकों की श्रेणी में मुस्लिम चिन्तक विचारक के रूप में मौहम्मद अली जिन्ना तीसरी पीढ़ी के विचारक के रूप में माना जाता है। यद्यपि द्वि राष्ट्र सिद्धान्त व भारत विभाजन के लिए जिन्ना को ही उत्तरदायी ठहराया जाता है क्योंकि यह सब कुछ उन्हीं के नेतृत्व में हुआ और मुस्लिम लीग की इन योजनाओं को व्यावहारिक रूप उन्हीं के हाथों से हुआ। परन्तु भारत में साम्प्रदायिकता व विभाजन का बीजारोपण बहुत पहले से ही हो चुका था। सर सैयद अहमद ने साम्प्रदायिकता की भावना को जन्म दिया क्योंकि उनके विचार केवल मुस्लिम हितों तक ही सीमित थे। अल्लामा इकबाल ने इसे सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया और मौहम्मद अली जिन्ना इसे व्यवहारिक रूप देते हुए पाकिस्तान के निर्माण का लक्ष्य पूरा किया। भारत विभाजन किसी तत्कालीन घटना के कारण नहीं हुआ अपितु एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम था। जिसके लिए कई उत्तरदायी कारण थे उनके बारे में यहां संक्षिप्त चर्चा करना जरूरी है।

- 1905 का बंगाल विभाजन (बंगभंग)
- हिन्दू महासभा की नकारात्मक भूमिका
- वी.डी. सावरकर का हिन्दू राष्ट्रवाद की धारणा
- अंग्रेजो की फूट डालो राज करो की नीति
- सर सैयद अहमद खान का अलीगढ़ आन्दोलन
- मुसलमानों में बढ़ती असुरक्षा की भावना

- मुसलमानों की बढ़ती राजनीतिक महत्वकांक्षा
- उच्च व शिक्षित मुसलमानों का राष्ट्रवाद से मोह भंग होना
- कांग्रेस व राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े नेताओं द्वारा मुस्लिम लीग को गम्भीरता से न लेना
- एम.एस. गोलवलकर व राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की मुस्लिम विरोधी विचारधारा
- 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में मुसलमानों की सक्रिय भागीदारी के बावजूद मुसलमानों पर संदेह की नजर रखना
- मुस्लिम लीग व अन्य कट्टरपंथी तत्वों के द्वारा भारतीय मुसलमानों में राष्ट्रवाद व कांग्रेस के प्रति दुष्प्रचार

उपरोक्त ऐसे कई ऐसे कारक थे जो भारत विभाजन के उत्तरदायी बने परन्तु यहां यह स्पष्ट करना जरूरी है कि भारत विभाजन व पाकिस्तान निर्माण के लिए भारत का सम्पूर्ण मुसलमान जिम्मेदार नहीं था। यदि कोई इसके लिए सम्पूर्ण मुस्लिम समाज को उत्तरदायी ठहराने का प्रयास करता है तो यह अन्यायपूर्ण है। हम पहले भी यह स्पष्ट कर चुके है कि भारत की आजादी में सभी धर्मों के लोगों ने कुर्बानी दी है जिसकी बदौलत हम एक स्वतंत्र व सशक्त भारत में रह रहे है।

13.13.1 जीवन परिचयः–

मोहम्मद अली जिन्ना का जन्म कराची में 25 दिसम्बर, 1876 को हुआ था। कानून की शिक्षा इंग्लैण्ड से हासिल की। जिन्ना 1906 में कांग्रेस नेतृत्व वाली राजनीति में शामिल हो गए। कांग्रेस के वार्षिक सत्र में उन्होंने दादा भाई नौरोजी के निजी सचिव के रूप में कार्य किया और इसी वर्ष नौरोजी कांग्रेस के अधिवेशन में अध्यक्ष बने। दादा भाई नौरोजी के सम्पर्क आने से उनके विचारों में काफी स्पष्टता आई। विश्व के प्रति उदार दृष्टिकोण प्राप्त किया और संवैधानिक प्रक्रिया में विश्वास किया। 1908 में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की पैरवी की थी। 1909 में जिन्ना इंपीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल के लिए मुंबई से चुन लिए गए इस दौरान जनहित से जुड़े कई मुद्दे उठाए व अफ्रीका में गांधीजी के नेतृत्व में चल रहे आन्दोलन का समर्थन किया।

1913 का वर्ष मौहम्मद अली जिन्ना के लिए काफी निर्णायक रहा। उन्होंने एक महत्वपूर्ण कदम उठाते हुए इसी वर्ष मुस्लिम लीग में शामिल हो गए। इस तरह कांग्रेस को छोड़ कर साम्प्रदायिकता पर आधारित दल में शामिल हो गए। मौलाना मोहम्मद अली और वजीर हुसैन के प्रयासों से यह कदम उठाया यद्यपि उनको यह भरोसा था कि कांग्रेस में रहकर राष्ट्रीय हितों को सर्वोच्च माना उसे वे मुस्लिम लीग में शामिल होकर भी राष्ट्र हितों से कोई भी समझौता नहीं करूंगा परन्तु ज्यादा समय तक वे अपने इस विचार पर कायम नहीं रह सके।

13.13.2 हिन्दू–मुस्लिम एकताः–

मौहम्मद अली जिन्ना मुसलमानों के कल्याण के लिए कार्य करना चाहते थे परन्तु मुस्लिमों के लिए उनका सरोकार हिन्दू–मुस्लिम एकता की कीमत पर नहीं था। मौहम्मद अली जिन्ना की महत्वपूर्ण बात यह थी कि 1937 के चुनावों तक उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि दोनों समुदायों को मजबूत बने रहने के लिए एक हो जाना चाहिए और अंग्रेजों के द्वारा पहुंचाई गई समस्याओं का मिलकर सामना किया जा सकता है। 1916 के लखनऊ समझौते में भी इसी विचार को व्यक्त किया। जिसमें हिन्दूओं और मुसलमानों के बीच सीट बंटवारे के फार्मूले पर सहमति बनी जिसका फायदा दोनो समुदाय के लोगों को मिला। हिन्दू बहुसंख्यक वाले प्रान्तों संयुक्त प्रांतों में मुसलमानों को तथा मुस्लिम बहुसंख्यक वाले पंजाब व बंगाल प्रान्त में हिन्दूओं को सम्मानजनक प्रतिनिधित्व मिला जिससे दोनों समुदाय में आपसी समन्वय व तालमेल बढ़ा और एक दूसरे के प्रति विश्वास सशक्त हुआ। इस समझौते को लागू करवाने में मौहम्मद अली जिन्ना की प्रमुख भूमिका रही।

13.13.3 धर्म व राजनीति के पृथक करने पर बलः–

धर्म व राजनीति के बीच किस प्रकार का संबंध होने चाहिए यह सदैव से विचारणीय प्रश्न रहा है। भारत के स्वतंत्रता संग्राम समय धर्म व राजनीति के साथ–साथ रहने के संबंध में दो तरह के परिणाम सामने आये। जहां महात्मा गांधी अपने आदर्श राज्य में दोनों को साथ रखकर काफी सकारात्मक परिणाम प्राप्त किया, वहीं दूसरी तरफ हिन्दू व मुस्लिम विचारकों ने इसी विचार को अपनाकर कट्टरवाद व अपने धर्म के हितों को ज्यादा तरजीह देकर आपसी वैमन्सय को बढ़ाने का काम किया, जैसे हिन्दुत्ववादी विचारक वी.डी. सावरकर व एम.एस.

गोलवलकर ने हिन्दूत्व को महत्व दिया तथा राष्ट्रवाद को हिन्दुत्व के साथ जोड़कर दूसरे धर्म के प्रति सदैव की भावना पैदा की। इसी तरह मुस्लिम विचारक सर सैयद अहमद खान व अल्लामा इकबाल के मुस्लिम परस्त विचारों ने दोनों धर्मों के बीच में वो नफरत की खाई पैदा की जिसकी परिणिति भारत विभाजन के रूप में देखने को मिलती है।

मौहम्मद अली जिन्ना उन विचारकों में से एक थे जिन्होंने धर्म व राजनीति के साथ मिलाने का विरोध किया था। खिलाफत आन्दोलन के सन्दर्भ में उन्होंने राजनीति की सेवा में धर्म को थोपना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने चेतावनीपूर्वक कहा कि इस प्रकार की रणनीति के परिणामों का प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। गांधीजी ने खिलाफत आंदोलन का समर्थन इसलिए किया था कि मुसलमानों का समर्थन हासिल किया जा सके।

13.13.4 जिन्ना साम्प्रदायिकता के शिकार कैसे बने? :–

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि राष्ट्रीय हितों, हिन्दू मुस्लिम एकता, भारतीय स्वराज्य के मार्ग को प्रशस्त करने वाले जिन्ना साम्प्रदायिकता के शिकार कैसे और क्यों बन गए? यह एक अजीब बात है कि समग्र सोच व व्यापक दृष्टिकोण रखने वाले मौहम्मद अली जिन्ना पर भारत विभाजन व साम्प्रदायिकता होने का धब्बा लगा। ऐसा सिद्ध किया कि विभाजन व जिन्ना एक सिक्के के दो पहलू है। जिन्ना के साम्प्रदायिकता का शिकार अचानक नहीं हुए इसका लम्बा इतिहास है। जिन्ना के राष्ट्रीय मुख्यधारा में विमुख होने का एक प्रमुख कारण रहा। 1928 की नेहरू रिपोर्ट रही जिसके द्वारा ब्रिटिश सरकार की चुनौती स्वीकार करने भारतीय संविधान का निर्माण किया जिसमें कुल 29 संस्थाओं ने भाग लिया जिसमें मुस्लिम लीग की तरफ से मौहम्मद अली जिन्ना ने भाग लिया जिससे उनके द्वारा 14 सुझाव रखे गए परन्तु कांग्रेस के नेताओं के द्वारा उनके सुझाव की उपेक्षा की गई जिससे उन्हें आत्मग्लानी हुई जो आगे चलकर अविश्वास पैदा करने वाला साबित हुआ। 1935 का अधिनियम के प्रान्तों में स्वायत्तता के तहत उत्तरप्रदेश में चुनाव हुए। वहां कांग्रेस की सरकार गठित हुई जिसमें मुसलमानों को मंत्रिमण्डल में जगह देने के लिए जिन्ना के द्वारा मांग की गई जिस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। अतः जिन्ना व मुस्लिम लीग को यह धारणा कि संयुक्त भारत में उनके राजनीति हितों की पूर्ति नहीं हो सकती तथा उन्हें उचित प्रतिनिधित्व व सम्मान नहीं मिल सकता अतः पाकिस्तान निर्माण की आवाज उठाने लगे। इस तरह की घटनाओं के कारण 1937 से जिन्ना के राजनीतिक जीवन का दूसरा अध्याय शुरू हुआ। उसी वक्त उन्होंने राष्ट्रीय एकता व अखण्डता का विचार त्याग दिया। जिन्ना की इस भावना को बढ़ाने में ब्रिटिश सरकार की नीतियों ने आग में घी का काम किया।

13.13.5 जिन्ना और मुस्लिम लीगः–

मौहम्मद अली जिन्ना ने 1913 से कांग्रेस छोड़कर मुस्लिम लीग से संबंध बनाए रखा। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक दौर में जिन्ना की वैचारिक पटरी लीग के साथ नहीं पटी, इसीलिए कांग्रेस छोड़ने के बाद कुछ समय तक राजनीति से निष्क्रिय रहे परन्तु 1919 में अधिनियम को लागू करने के लिए साइमन कमीशन का गठन किया गया था उसका विरोध करने के लिए सभी दल एक मंच पर आये। इसी समय मुस्लिम लीग दो गुटों में विभाजित हो गया। एक गुट का नेतृत्व पंजाब के मौहम्मद शफी ने किया और दूसरे गुट का नेतृत्व मौहम्मद अली जिन्ना ने किया। मौहम्मद शफी ने नेतृत्व वाले गुट ने साइमन कमीशन का सहयोग का निर्णय लिया, वहीं मौहम्मद अली जिन्ना गुट ने बहिष्कार करने का फैसला लेकर कांग्रेस गुट का सहयोग दिया। इन घटनाओं को ध्यान में रखकर यह निर्णय लिया गया कि साइमन कमीशन को सहयोग की बजाए भारतीय स्वयं अपना संविधान बनाए जो सभी को स्वीकार्य होगा। अनेक संगठनों ने अपने प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिए सक्रिय हो गए ताकि संविधान निर्माण के दौरान उनके प्रस्ताव पर गौर किया जा सके। विधानमण्डलों में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व के लिए जिन्ना की अध्यक्षता में 20 मार्च 1927 को दिल्ली में अनेक नेताओं की बैठक हुई जो दिल्ली घोषणा के नाम से जानी गई जिसमे पहली बार पृथक निर्वाचक मण्डल छोड़ने पर सहमति बनी। 1927 की दिल्ली घोषणा को कांग्रेस के द्वारा अपने मद्रास अधिवेशन में स्वीकार कर लिया गया और मुसलमानों को यह आश्वासन दिया गया कि उनकी जनसंख्या के आधार पर प्रान्तीय व केन्द्रीय विधानमण्डल में पर्याप्त स्थान दिया जाएगा। संविधान बनाने के लिए ऑल पार्टी कांफ्रेस का गठन किया उसके पश्चात् मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में प्रारूप समिति बनाईगई उसके द्वारा जिन्ना व मुस्लिम लीग के सुझाव पर ध्यान नहीं दिया गया। जिस पर हम पूर्व में भी चर्चा कर चुके हैं। इस प्रकार नेहरू रिपोर्ट से उत्पन्न असंतोष काफी दूरगामी परिणाम वाला सिद्ध हुआ।

13.13.6 द्विराष्ट्र सिद्धान्तः–

इस तरह जिन्ना व मुस्लिम लीग में कांग्रेस के प्रति असंतोष व अविश्वास अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था। कांग्रेस का विरोध हर स्तर पर प्रबलता से साथ किया जा रहा था। कांग्रेस पर यह आरोप लगाया गया कि वह राष्ट्रीय पार्टी न होकर जातिवादी हिन्दूवादी पार्टी है। कांग्रेस के विरोध में, मुस्लिम लीग ने सभी सीमाएं पार कर ली और अन्त में भारत के मुसलमानों के बारे में कहा कि यह न तो धार्मिक समुदाय है और न ही हिन्दू बहुसंख्यक देश में अल्संख्यक वर्ग है बल्कि यह एक अलग राष्ट्र है। इस प्रकार मुस्लिम लीग की अवधारणा के अनुसार भारत एक राष्ट्र नही बल्कि दो राष्ट्र थे। जिससे इस बात पर बल दिया गया कि भारत का विभाजन हो ताकि मुसलमानों के लिए अलग से देश बनाया जा सके। 23 मार्च, 1940 को लाहौर में आयोजित मुस्लिम लीग के वार्षिक अधिवेशन में इस विचार को प्रस्तुत किया गया। जिसे "द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त" के नाम से जाना जाता है। इस प्रस्ताव में यह कहा गया कि भारत के मुसलमान अपनी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विशिष्टता के कारण हिन्दूओं के विपरीत एक अलग राष्ट्र का गठन करें, तब से जिन्ना ने हर मंच पर इस बात को दोहराना शुरू कर दिया और इसके बाद लीग ऐसा कोई प्रस्ताव स्वीकार नहीं था जिसमें पाकिस्तान का विरोध हो। मुस्लिम लीग के इस प्रयास में 1940 के अगस्त प्रस्ताव का समय, 1942 के मिशन और 1946 के कैबिनेट मिशन के माध्यम से ब्रिटिश सरकार की भूमिका कही अधिक थी। 1945 में शिमला सम्मेलन मे जिन्ना तर्क प्रस्तुत किया कि मंत्रालय गठन की किसी भी अन्तरिम व्यवस्था में मुस्लिम लीग को मुस्लिम सदस्यों को नामित करने का अधिकार है। लीग की इस मांग को तत्कालीन वाइसराय लार्ड वेवल ने स्वीकार कर लिया। इस तरह ब्रिटिश सरकार के द्वारा लीग के द्वि राष्ट्र सिद्धान्त को सहमति दे दी गई। जिसका भारी विरोध होना शुरू हो गया। मुसलमानों का एक बहुत बड़ा भाग पाकिस्तान निर्माण की मांग को उचित नहीं मान रहा था। वे भारत के साथ ही रहना चाहते थे।

13.14 सारांशः–

इस प्रकार हम यह कह सकते है कि आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तकों में मुस्लिम चिन्तकों में यह प्रमुख विचारक है, जिन्होंने परिस्थितियों के अवसर अपने विचारों को प्रतिपादित किया।

13.15 अभ्यास प्रश्नावलीः–

1. "हिन्दु–मुस्लिम विचारकों की कट्टर सोच ने साम्प्रदायिकता को बढ़ाया है।" इस विचार को सिद्ध करते हुए साम्प्रदायिकता पर प्रकाश डालिए।
2. "साम्प्रदायिकता का नासूर आज भी हमें प्रभावित कर रहा है।" ऐतिहासिक पहलुओं को ध्यान में रखते हुए साम्प्रदायिकता के कारणों की विवेचना कीजिए।
3. साम्प्रदायिकता हमारी आधुनिक, सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित कर रही है?
4. हिन्दू–मुस्लिम एकता में सर सैयद अहमद के योगदान की विवेचना कीजिए।
5. राष्ट्रवाद पर इकबाल के विचारों की व्याख्या की जिए।
6. मौलाना मौदुदी के विचारों का उल्लेख कीजिए।
7. द्विराष्ट्र के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए मौहम्मद अली जिन्ना के प्रमुख विचारों की विवेचना कीजिए

अध्याय-14

राष्ट्र और पहचान संबंधी मुद्दे: ई.वी. रामास्वामी नायकर, नजरूल, पंडिता रमाबाई, जयपाल सिंह, काहन सिंह

संरचना

14.1 उद्देश्य

14.2 प्रस्तावना

14.3 ई.वी. रामास्वामी नायकर (1879–1973)

14.3.1 हिन्दू धर्म और ब्राह्मणवादी प्रभुत्व की आलोचना

14.3.2 कांग्रेस और महात्मा गांधी की आलोचना

14.3.3 नायकर का विमर्श

14.3.4 द्रविड़ एकजुटता

14.4 पंडिता रमाबाई (1858–1922)

14.4.1 आरंभिक जीवनः परम्परा विरोधी पृष्ठभूमि

14.4.2 पितृसत्ता से संघर्षः हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म

14.5 जयपाल सिंह (1903–1970)

14.5.1 आदिवासी पहचान का समर्थन

14.6 काज़ी नज़रूल इस्लाम (1899–1976)

14.6.1 विद्रोही कवि

14.6.2 हिन्दू–मुस्लिम मुद्दा

14.7 भाई काहन सिंह नाभा (1861–1938)

14.7.1 हम हिन्दू नहीं

14.8 सारांश

14.9 अभ्यास प्रश्न

14.1 उद्देश्य

जैसा की पूर्ववत्ती अध्यायों में यह स्पष्ट किया गया कि भारत विविधता वाला राष्ट्र रहा है। यह विविधता हमारी राष्ट्रीय पहचान के रूप में भी देखा जा सकता है। इस अध्याय का प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार है–

- राष्ट्रीय पहचान से जुड़े विभिन्न आयामों को जानना।
- विभिन्न चिन्तकों व सुधारकों ने राष्ट्रीय पहचान को किस रूप में परिभाषित किया है, उसको जानना।
- समाज के विभिन्न समुदायों जैसे हिन्दू, मुस्लिम, आदिवासी या दक्षिण समुदायों में राष्ट्रवाद की पहचान को जानना।

14.2 प्रस्तावना

भारतीय राष्ट्र के प्रति सरोकार को कभी भी व्यक्त नही किया गया। आधुनिक भारत के सामाजिक और राजनीतिक चिंतकों ने भारतीय समाज और राजव्यवस्था को प्रत्यक्ष कारणों की वजह से अनेक प्रकार से समझा था। अतः राष्ट्र का निर्माण कभी भी एक समान नहीं हुआ। कुछ चिंतकों ने भारतीय पहचान को सम्मिलित करने

का प्रयास किया जबकि अन्य चिंतकों ने विशेष पहचान जैसे धर्म, जाति, नृजातीयता तथा लिंग, भाषा आदि के आधार पर भारतीय राष्ट्र का निर्माण करने पर बल दिया। इस पाठ में, आधुनिक भारत के उन कुछ चिंतकों के प्रमुख विचारों और सरोकारों को समझने का प्रयास किया गया है जिन्होंने विशिष्ट पहचानों का प्रतिनिधित्व किया और उसका समर्थन किया। इनमें शामिल हैः ई.वी. रामास्वामी नायकर (1879–1973), पंडिता रमाबाई (1858–1922), जयपाल सिंह (1903–1970), काज़ी नज़रूल इस्लाम (1899–1976) और भाई काहन सिंह (1861–1938)। दुर्भाग्यवश, इन सभी चिंतकों पर उनके गहन सामाजिक–राजनीतिक योगदान और एकजुट करने की क्षमताओं के बावजूद राजनीति विज्ञान के "मुख्यधारा" साहित्य में पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है।

14.3 ई.वी. रामास्वामी नायकर (1879–1973)

पेरियान (महान संत) के नाम से प्रसिद्ध ई.वी. रामास्वामी नायकर का जन्म धनी दस्ताकारों के परिवार में ईरोड में हुआ था। उनका विवाह तेरह वर्ष की आयु में हो गया था परन्तु विवाह के छह वर्ष पश्चात् वे साधु (योगी) हो गए। समस्त भारत में, विशेषकर हिन्दू तीर्थ केन्द्रों में घूमकर उन्होंने हिन्दू और पुरोहिती शोषणों को अनुभव किया।

14.3.1 हिन्दू धर्म और ब्राह्मणवादी प्रभुत्व की आलोचना

हिन्दू धर्म और ब्राह्मण के प्रति पेरियार की नकारात्मक अवधारणा का तमिलनाडु के सामाजिक–राजनीतिक संदर्भ में विश्लेषण करने की आवश्यकता है। अन्य प्रान्तों की तरह तमिलनाडु में भी ब्राह्मणों ने हिन्दू धर्म ग्रंथें और अनुष्ठानों (कर्म–कांडो) में प्रभावशाली स्थिति का लाभ उठाया है। हालांकि ये ब्राह्मण कुल तमिल जनसंख्या का लगभग तीन प्रतिशत थे परन्तु औपनिवेशिक शासन के दौरान भी ये सार्वजनिक क्षेत्रों में प्रभुत्व स्थापित करते रहे। उपजाऊ क्षेत्रों में उनके बसने से उनकी सामाजिक शक्ति और बढ़ गई थी। तमिलनाडु में औपनिवेशिक शासन से पहले यद्यपि ब्राह्मणों का भमि पर स्वामित्व का एकाधिकार नहीं था, तथापि उनका वास्तविक रूप से लिपिकीय व्यवसाय (सरकारी नौकरियाँ) का एकाधिकार था जिससे वे औपनिवेशिक शासन से दूसरे लोगों की अपेक्षा अधिक तेजी से पश्चिमी शिक्षा प्राप्त करने में सफल हो गए। इससे ब्राह्मण विभिन्न व्यवसायों में आगे बढ़ गए। इसके अतिरिक्त उन्होंने ऐसी बोली और भाषा का प्रयोग किया जो बिल्कुल अलग थी और उसमें संस्कृति का अधिक अंश था। इस प्रकार अनेक तमिल ब्राह्मण अपनी उपसंस्कृति के सांस्कृतिक स्वरूप के प्रति अधिक सजग थे और गर्व से स्वयं को "आर्य" कहते थे तथा स्वयं को अन्य श्रेणियों से अर्थ–जातीय अंतर से जुड़ा बताते थे।

नायकर के अनुसार हिन्दू धर्म ब्राह्मणवादी प्रभुत्व का अस्त्र था और ब्राह्मण हिन्दू अभिमान के प्रतीक थे तथा उनके द्वारा सामाजिक अन्याय करना जारी रहा। नायकर ने हिन्दू धर्म को एक नशा (अफीम) कहा जिसने ब्राह्मणों को संवेदनहीन बना दिया था और लोगों को परतंत्र कर दिया था। नायकर ने आर्यों पर देश के अन्यायपूर्ण और दमनकारी हिन्दू धर्म व्यवस्था आरंभ करने का आरोप लगाया। नायकर ने आर्यों के प्रभुत्व के विरूद्ध द्रविड़ों के अधिकारों की रक्षा करने के प्रति द्रविड़ जाति की जागरूकता का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि एक हिन्दू द्रविड़ हो सकता है परन्तु एक द्रविड़ "वास्तविक अर्थ में न तो हिन्दू हो सकता है और न हिन्दू होगा।"

नायकर का विश्वास था कि हिन्दू धर्म में जातिवाद कायम रखा है इसीलिए इसका विरोध किया जाना बहुत जरूरी है। इस प्रकार उन्होंने न केवल सार्वजनिक तौर पर पुराणों को परी कथाएँ कहकर उनका मज़ाक उड़ाया बल्कि काल्पनिक और अप्रासंगिक तथा अत्यधिक अनैतिक भी बताया।

14.3.2 कांग्रेस और महात्मा गांधी की आलोचना

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में संपर्कात्मक गतिविधि और स्वशासन की गुजाइंश बढ़ गई। ब्राह्मणों ने 1910 के दशक में मद्रास शहर की राजनीति, प्रथम विश्व युद्ध के दौरान बढ़ रहे होम रूल लीग और युद्ध के बाद राष्ट्रवाद एकजुटता को स्वर प्रदान किया। उन्होंने (ब्राह्मणों ने) द्वितीय विश्व युद्ध तक कांग्रेस के राज्य स्तर के नेतृत्व पर नियंत्रण रखा। नायकर कुछ समय के लिए कांग्रेस के नेतृत्व वाले स्वतंत्रता संघर्ष में सक्रिय रहे। उन्होंने असहयोग आन्दोलन में भाग लिया, सत्याग्रह में शामिल हुए और खादी का समर्थन किया। परन्तु राजनीतिक प्रतिनिधित्व में जातीय कोटे के पक्ष में तमिलनाडु कांग्रेस से प्रस्ताव स्वीकार कराने के नायकर के प्रयास 1919 और 1925 में विफल हो गए।

इसके अतिरिक्त उनका गांधी के सामाजिक कार्यक्रम के "पितृसत्तात्मक" पहलुओं से मोह भंग हो गया था जो उनके विचार में मौजूदा सामाजिक व्यवस्था की वैधता के अनुकूल था। पेरियार गांधी के वर्णाश्रम धर्म की पुनर्रचित (नई) व्याख्या के विरोधी थे क्योंकि यह उस जाति व्यवस्था के अनुकूल नहीं थी जिसने ऐतिहासिक ढंग से कार्य किया। पेरियार ने गांधीवादी राष्ट्रवाद को प्रमुख परियोजना कहा जो भारतीय समाज में ब्राह्मणों और "ब्राह्मणवाद" को तथा राष्ट्रीय राजनीति में उत्तर भारत के महत्वशाली प्रभाव को बनाए रखना चाहती थी। नायकर का गांधी और कांग्रेस से बढ़ता हुआ असंतोष जिसे उन्होंने 1925 से ही कुडी अरासु पत्रिका में व्यक्त करना शुरू कर दिया था, इसने उन्हें और उनके अनुयायियों को 1926 में आत्म–सम्मान संघ की स्थापना करने के लिए प्रेरित किया।

उच्च राजनीति में ब्राह्मणों के प्रभुत्व का विरोध करते हुए, उन्होंने कांग्रेस छोड़ दी और मौजूदा प्रभावशाली संस्कृति के विरोध में द्रविड़ सांस्कृतिक विकल्प विकसित किए। उन्होंने 1925 में "आत्म सम्मान आन्दोलन का आयोजन किया जिसका उद्देश्य द्रविड़ उत्थान करना था तथा ब्राह्मण अत्याचार और कपटपूर्ण तरीकों का भंडाफोड़ करना था जिनके द्वारा वे हिन्दू जीवन के सभी क्षेत्रों पर नियंत्रण किए हुए थे। इस प्रकार नायकर ने कहा कि: "ईश्वर को नष्ट कर दो, कांग्रेस को नष्ट कर दो। गांधी को नष्ट कर दो: ब्राह्मण को नष्ट कर दो।

नायकर के संघर्ष के तरीकों में हिन्दू देवताओं जैसे राम और गणेश की प्रतिमाओं को नष्टकरना शामिल था। पेरियार के अनुसार "राम और सीता तुच्छ चरित्र हैं, यहाँ तक कि निम्न से निम्न प्राणी द्वारा ही अनुकरण और प्रशंसा योग्य नहीं हैं।" दूसरे, रावण (एक द्रविड़ वीर जिसे उत्तर में असुर बताया गया है) को "उत्कृष्ट" चरित्र का द्रविड़ चित्रित किया गया है। "दि रामायणा: ए टू रीडिंग" की अपनी प्रस्तावना में उन्होंने कहा है कि "यह तमिलनाडु में कहानी (कथा) अधिक समय तक समाज के आत्मसम्मान के लिए तथा समुदाय के लिए हानिकारक और लज्जाजनक हैं।" मूर्तियों को तोड़ने के पेरियार के तरीकों और ईश्वर विरोधी जुलूसों के कारण उनकी बहुत आलोचना हुई। परन्तु वे अपने अपने उग्र दृष्टिकोण पर अडिग थे और उनका मानना था कि मूर्तियाँ ब्राह्मणवादी विचारधारा और अंधविश्वास का प्रतीक हैं।

14.3.3 नायकर का विमर्श (Naiker's Discourse)

नायकर को ब्राह्मण–विरोधी और ईश्वर विरोधी कहना अन्यायपूर्ण होगा। वे उग्र समाज सुधारक थे। उनका निर्धारित अभियान हिन्दू कट्टरवाद तथा रूढ़ीवाद के विरूद्ध था जिसमें तर्कवाद और समाज सुधार निहित था जिसने तमिलनाडु के भुदृश्य को ही बदल दिया। उनके उग्र समाज सुधार के अभियान ने निम्न श्रेणी (वर्ग) की कल्पनाशीलता को आकर्षित किया। आत्म–सम्मान आन्दोलन नायकर का एक मूल उद्देश्य धर्म तथा परम्परा पर आधारित सभी प्रकार के "अंधविश्वास" दूर करना था। आन्दोलन से जुड़े किसी भी सदस्य को अपने माथे पर धर्म का चिन्ह लगाने अथवा पहनने की अनुमति नहीं दी गई थी। सदस्यों को कहा गया कि वे अपने समारोहों में ब्राह्मणों पुरोहितों का बहिष्कार करें। अतः गैर–ब्राह्मणवाद पर उनके द्वारा दिए जाने वाले आग्रह को उन कठोर रीति–रिवाजों के संदर्भ में रखकर देखा जाना चाहिए जिन्होंने उस समय जातीय उत्पीड़न को वैध करार दिया था।

नायकर का दावा था कि उनकी राजनीतिक छाप तमिल समाज में निम्न समूहों (वर्गों) की उसी प्रकार मुक्ति के लिए थी जिस प्रकार पश्चिम में उदारवाद के उच्च वर्ग तथा पुरोहित प्रभुत्व का विरोध किया था। नायकर भौतिकवादी सत्ता की व्याख्या करके ज्ञान की विरासत से स्वयं को जोड़ना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने रूसो, मार्क्स और इंगरसोल को प्रेरणा स्त्रोत बताया और ऐसे भविष्य की ओर संकेत किया जिसमें जाति–विभाजन और "अंध विश्वास" बहुलवाद तथा पंथनिरपेक्षीकरण का स्थान ले लेंगे और आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी को स्वीकार किया जाएगा। इस प्रकार स्व–प्रतिनिधित्वों ने कुछ विद्वानों को आत्म–सम्मान आन्दोलन को "ब्रिटिश उदार मान्यताओं" (British Liberal Assumption) के अनुरूप देखने के लिए प्रोत्साहित किया।

नायकर की विचारधारा के महत्वपूर्ण पहलू और जिस तरीके से इनका प्रयोग एकजुटता के लिए किया गया था, वह प्रयोग उदारवाद के अनुकूल नहीं था। ब्रिटिश उदारवाद के लिए महत्वपूर्ण सामान्य नागरिक की अवधारणा पर निर्भर होने के अतिरिक्त, नायकर ने औपनिवेशिक ज्ञान लेकर जातीय श्रेणियों (Ethnic categories) को स्वीकार किया और राजनीतिक समुदाय के शुद्रों को प्राथमिकता दिलानी चाहि। उत्तर भारत के विपरीत, औपनिवेशिक शासन से पहले भी दक्षिण भारत ने विभिन्न बिन्दुओं पर पर्याप्त सामाजिक गतिशीलता का अनुभव किया था और मध्यवर्ती जातियों (intermediate castes) ने इसे नकार दिया था। ज्यों–ज्यों राज सत्ता बढ़ी, त्यों–त्यों व्यापारिक और योद्धा समूहों ने अधिकाधिक भूमि और प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। ब्रिटिश शासन के आगमन

से राज सत्ता राजनीतिक शक्ति में सीमित हो गई। शुद्र सर्वोच्चता के नायकर के दृष्टिकोण ने ऐसा वैचारिक आधार प्रदान किया जिस पर बाद में द्रविड़ विचारधाराओं ने ग़ैर–ब्राह्मण विशिष्ट वर्ग के प्रभुत्व को मज़बूत किया। इनमें नए और पुराने दोनों प्रकार के धनी किसान, व्यापारी और उद्योगपति शामिल थे। इस प्रकार सामाजिक पहचान की नायकर की धारणाओं की उद्धारक शंक्ति द्रविड़वादी परियोजना का पूरी तरह सहायक पहलू ही रही।

14.3.4 द्रविड़ एकजुटता (Dravidian Mobilisation)

नायकर ने द्रविड़ समुदाय, विशेषकर बड़ी जातियों– तमिलनाडु की ग़ैर–ब्राह्मण हिन्दू जातियों अर्थात् तमिलभाषी हिन्दुओं जो न तो ब्राह्मण थे और न ही अनुसूचित जातियाँ थीं, को एकजुट करने के बारे में विचार किया था। तमिलनाडु में ग़ैर–ब्राह्मणवाद चलता रहा क्योंकि वह जनवादी बोलचान में 1930 से ही तमिल राष्ट्रवाद से जुड़ा हुआ था। ब्राह्मण प्रभुत्व के विरोध में उनके प्रभुत्व को कम करने के लिए इसमें अधीनस्थ ग़ैर–ब्राह्मण समूहों के लिए एक ध्वज का काम करने की क्षमता थी।

1937 में सी.राजगोपाचारी के कांग्रेस मंत्रालय के अधीन हिन्दी को विद्यालयों में एक अनिवार्य विषय के रूप में लागू किया गया। इसे तमिल संस्कृति और उसकी समृद्ध साहित्यिक परम्पराओं का अपमान मानते हुए नायकर ने अपने प्रथम हिन्दी–विरोधी प्रचार (अभियान) मे विद्राह के काले झंडे दिखाए। इस अभियान ने सरकार को हिन्दी का एक ऐच्छिक विषय बनाने पर मजबूर कर दिया। नायकर ने हिन्दी को तमिल लोगों के लिए अधीनता माना जिससे द्रविड़ राज्य की स्थापना करक ही बचा जा सकता था। 1938 में नायकर को जस्टिस पार्टी का अध्यक्ष चुना गया। पार्टी ने संकल्प लिया कि तमिलनाडु को एक पृथक् राज्य बनाना चाहिए जो ब्रिटिश राज के प्रति निष्ठावान हो ओर "सीधे भारत के सेक्रटरी ऑफ स्टेट के अधीन हो।

1939 में नायकर ने पृथक् और स्वतंत्र द्रविड़ स्थान के समर्थन के लिए द्रविड़ियानाडु कांफ्रेस आयोजित की। मुस्लिम लीग द्वारा पारित पाकिस्तान की माँग करने वाले लाहौर प्रस्ताव के प्रत्युत्तर में इस माँग को फिर अगले वर्ष दोहराया गया। नायकर ने पाकिस्तान की योजना को पूर्ण समर्थन किया और द्रविड़स्थान की स्थापना को समर्थन देने का प्रयास किया। आन्दोलन की बुनियादी पूर्वधारणा थी कि द्रविड़ ग़ैर–ब्राह्मण लोग (तमिल, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालय) एक ही जातीय समूह (मूलवंश समूह) और संस्कृति के थे जो आर्य ब्राह्मणों से बिल्कुल अलग थे।

1944 में जस्टिस पार्टी का द्रविड़ के रूप में पुनर्गठन किया गया। द्रविड़ का उद्देश्य संप्रभु स्वतंत्र की प्राप्ति के लिए घोषणा करना था जो स्वरूप में संघीय होगा और जिसके भाषायी प्रभागों (linguitic divisions) के अनुरूप चार इकाइयाँ होंगी। प्रत्येक इकाई के पास अवशिष्ट शक्तियाँ (residual power) और आंतरिक प्रशासन की स्वायत्ता होगी। यह "वर्गविहिन समाज" एम समतावादी द्रविड़नाडु होगा जिसके प्रति दलित और वंचित लोग निष्ठा रख सकेंगे। पार्टी ने ब्रिटिश राज के प्रति अपना विरोध घोषित किया और नायकर ने द्रविड़ कझगम के सदस्यों से अंग्रेजों द्वारा प्रदान की गई सभी पदवियों (titles) छोड़ देने और राष्ट्रीय युद्ध मोर्चे (National War Front) से जुड़े सभी पदों से त्यागपत्र देने के लिए कहा। इस कार्यवाही से आन्दोलन का बहुत सम्मान बढ़ा और द्रविड़ को अब अंग्रेजों का दास नहीं समझा गया जैसा कि जस्टिस पार्टी शुरू में समझती थी।

14.4 पंडिता रमाबाई (1858–1922)

पंडिता रमाबाई (1858–1922) आधुनिक भारत की एक महानतम महिला थी। विशिष्ट रूप से विदुषी रमाबाई एक ऐसी महिला थी जो अधिकारों और समाज सुधार की एक स्पष्ट समर्थक थी उन्होंने पुरूष प्रधान विश्व में तथा समाज सुधार के लिए एकमात्र महिला प्रतिनिधि होने का विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। रमाबाई ने सीमाओं को पार कर लिया था और अपना शैक्षिक तथा प्रचारक गतिविधियों (missionary activities) पितृसत्ता (पुरूष–प्रधानता) का विरोध किया, इसलिए वे अपने समय की उच्च जाति की सर्वाधिक विवादास्पद महिला बन गई। इस प्रकार वे आधुनिक भारतीय इतिहास से लम्बे समय तक "लुप्त" रहीं।

14.4.1 आरंभिक जीवनः परम्परा विरोधी पृष्ठभूमि (Early Life: Non-conformist Background)

रमाबाई के पिता अनंत शास्त्री डोगरे चितपावन ब्राह्मण और गैर–परम्पराविरोधी थे। उन्होंने जब अपनी पत्नी को संस्कृत पढ़ाने का फैसला किया जिसे विधर्म (heretical) समझा गया तो उन्हें शक्तिशाली समुदाय के बंधु–बांधवों का क्रोध झेलना पड़ा। संस्कृत जो देवभाषा थी, केवल उच्च जाति के पुरूषों के लिए सुरक्षित थी।

उनके परत्परा विरोध के परिणामस्वरूप, उन्हें समुदाय के बाहर रहना पड़ा और उन्होंने अपने परिवार के साथ देश में घूमने–फिरने तथा पौराणिक कथावाचक के रूप में दान के सहारे रहने का निर्णय किया। उनका जीवन इस अर्थ मे महत्वपूर्ण था कि ब्राह्ममणवादी जीवन शैली अपनाते हुए, उन्होंने इसके कुछ प्रमुख सिद्धान्तों को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया। रमाबाई ने दुख और कष्ट भरे उन कठिन दिनों में संस्कृत और पुराणों का अध्ययन किया। इस प्रकार अपने पिता से प्राप्त जीवन और विरासत पर विचार करते हुए ब्राह्ममणवाद से रमाबाई का अलगाव अनिवार्य था।

अपने माता–पिता के देहांत के बाद, रमाबाई उन्नीस वर्ष की आयु में 1878 में कलकत्ता चली गई। दिलचस्प बात यह है कि शहर के धार्मिक विशिष्ट वर्ग ने उन्हें वेदों और उपनिष्दों का अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित किया जबकि महिलाओं के लिए ऐसा करना वर्जित था। उन्होंने संस्कृत भाषा और ग्रंथों पर अपनी प्रवीणता से शहर के धार्मिक विशिष्ट वर्ग को प्रभावित कर लिया तथा "पंडिता" (विदुषी) और "सरस्वती" (विद्या देवी) की उपाधि प्राप्त की। रमाबाई के शीघ्र ही पूरे बंगाल की यात्रा करके समाज सुधार कार्यक्रम आरंभ कर दिया और पौराणिक युग की शिक्षित तथा स्वतंत्र महिलाओं को आधार बनाकर शिक्षा और शक्ति की आवश्यकता के बारे में महिलाओं को अवगत कराया।

14.4.2 पितृसत्ता से संघर्षः हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म

रमाबाई द्वारा धर्मशास्त्रों के अध्ययन ने रमाबाई को उस तिरस्कार और अपमान से पूर्णतया परिचित कराया जिससे सभी जातियों की महिलाएँ और निम्न जाति के पुरूषों के साथ इन ग्रंथों में व्यवहार किया गया था। महिलाओं की तरह, शुद्रों को भी उच्च जातियों की तरह वैसे ही धार्मिक कार्य करने नहीं दिया जाता था। रमाबाई ने अपने निजी जीवन में इस भेदभाव को अस्वीकार कर दिया जब उन्होंने बिपिन बिहारी से जो एक शुद्र थे, विवाह का प्रस्ताव स्वीकार करने का निर्णय किया और इस प्रकार सोच समझकर परम्परा को तोड़ा। बिपिन को जाति से निकाल दिया गया क्योंकि यह सिविल पंजीकरण द्वारा किया गया अंतर्जातीय विवाह था। विवाह के केवल दो वर्ष बाद बिपिन की मृत्यु हो गई और चौबीस वर्ष की आयु में युवा रमाबाई विधवा हो गई। कष्टदायक जीवन वैधव्य (widowhood) के अपने प्रारंभिक अनुभवों के बाद, रमाबाई के घर तक सीमित रहना स्वीकार नहीं किया और सार्वजनिक क्षेत्र में पदार्पण किया।

महाराष्ट्र लौटकर रमाबाई ने अपना पहला सार्वजनिक सामना पितृसत्तात्मक (पुरूष–प्रधान) शक्तियों से किया जब उन्होंने महिलाओं को एकजुट करने के लिए 1882 में पूना में आर्य महिला समाज की स्थापना की और तुरंत एक विवाद उत्पन्न कर दिया। उन्होंने असहाय और अशिक्षित महिलाओं को परामर्श देने के उद्देश्य से मराठी में स्त्री धर्म नीति का प्रकाशन किया। उस समय केसरी ने लिखा किः "वास्तव में हमारे समाज की अन्य कुप्रथाओं को दूर करना पुरूष का कार्य है। अतः महिलाएँ आने वाले कई वर्षो तक इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकती– चाहे वे "पंडिता ही क्यों न हों और सुधार की चम अवस्था तक पहुँच चुकी हो...।" हमारी महिलाओं को भविष्य में लंबे समय तक पुरूषों के नियंत्रण में रहना होगा।" रमाबाईने उत्साहपूर्वक उच्च जाति की हिन्दु विधवाओं के लिए एक गृह स्थापित किया और हंटर कमीशन से महिलाओं को प्रशिक्षण उपलब्ध कराने का अनुरोध किया ताकि वे अध्यापिकाएँ और डाक्टर बनकर अन्य महिलाओं की सेवा कर सकें।

किन्तु वे महाराष्ट्र में महिलाओं से जुड़ने में असफल हो गई और स्वयं को अलग–थलग महसूस किया क्योंकि न तो उनका काई समुदाय था, न कोई सामाजिक आधार था और न ही वास्तवित भावनात्मक बंधन थे जिन पर निर्भर रहा जा सकता था। इसने उन्हें धर्म और ईश्वर में सांत्वना (सहारा) की खोज के लिए प्रेरित किया जो उनके सामाजिक कार्यक्रमों और धार्मिक पूर्ति के लिए उनकी व्यक्तिगत खोज के साथ–साथ समायोजित (accommodate) कर सकता था। इस प्रकार उन्होंने एंग्लिकन चर्च में इसाई धर्म अपना लिया।

विश्व में एंग्लिकन चर्च की पितृसत्ता के साथ रमाबाई का सामना (संपर्क) कम कठोर नहीं रहा। जब उन्हें पुरूष छात्रों (male students) को पढ़ाने के लिए प्रोफेसर का पद दिया गया तो मुबंई के बिशप ने यह कहकर विरोध किया किः "यदि यह पता चलता है कि उन्होंने युवकों को पढ़ाया है तो निश्चित है कि उनका प्रभाव भारत में सदा के लिए नष्ट हो जाएगा।" रमाबाई ने तुरंत उत्तर दियाः "मुझे यही सोचकर आश्चर्य होता है कि न तो मेरे पिता और न ही मेरे पति ने मुझे युवकों को पढ़ाने पर कभी भी कोई एतराज किया जबकि कुछ युवा लोग यह कार्य कर रहे हैं।" इस प्रकार रमाबाई की शैक्षिक और मिशनरी गतिविधियों में मुख्य संघर्ष पितृसत्तात्मक था।

इसाई धर्मांतरिक और प्रसिद्ध समाज सुधारक पंडिता रमाबाई हिन्दू धर्म की विदुषी थी जिन्होंने दार्शनिक पूर्वधारणाओं (premises) से, विशेषकर महिलाओं के संबंध में अपने मतभेदों, और बाद में ईसाई धर्मांतरित महिला

के रूप में ईसाई धर्म सिद्धान्त के विरूद्ध विद्रोह किया। अतः उनका जीवन जटिल–संघर्षों की एक गाथा था– एक ऐसी गाथा जो हिन्दू समाज और एंग्लिकन चर्च में पुरूष के खिलाफ संघर्ष, भारतीय धर्मांतरित महिला का ब्रिटिश एंग्लिकन बिशपों और ननों के विरूद्ध संघर्ष और हिन्दू महिलाओं के उत्पीड़न के विरूद्ध इसाई मिशनरी का संघर्ष था।

14.5 जयपाल सिंह (1903–1970)

जयपाल सिंह (1903–1970) का एक बहुआयामी व्यक्तित्व था। वे एक ख्याति प्राप्त सांसद, एक विजेता खिलाड़ी और एक शक्तिशाली वक्ता तथा इनके अतिरिक्त आदिवासियों के नेता थे। जयपाल उर्फ प्रमोद पाहन वर्तमान झारखंड के खुंटी महसील के टाकरा गाँव में उत्पन्न हुए थे। बचपन में उनका कार्य पशुओं की देखभाल करना था। 1910 में रांची के सेंट पाल स्कूल में प्रवेश मिलते ही उनका भाग्य बदल गया। इसके बाद जयपाल सिंह इंग्लैण्ड चले गए और अर्थशास्त्र (आनर्स) में सेंट जान कॉलेज से स्नातक उपाधि प्राप्त की। जयपाल सिंह का चयन भारतीय सिविल सेवा में हो गया, जिससे उन्होंने बाद में त्यागपत्र दे दियां 1928 में एम्सटर्डम खेलों में उन्होंने भारतीय टीम की कप्तानी की और स्वर्णपदक जीता। जयपाल सिंह एचीमोटा गोल्ड कोस्ट, घाना में प्रिंस ऑफ वेल्स में अध्यापक कार्य करने लगे। 1937 में वे भारत वापस आ गए और राजकुमार कॉलेज, रायपुर के प्राचार्य बन गए। 1938 में वे बीकानेर रियासत के विदेश सचिव हो गए। जयपाल सिंह ने सोचा कि वह अपने विविध अनुभवों से कांग्रेस के माध्यम से देश के लिए उपयोगी हो सकते है। परन्तु पटना में सदाकत आश्रम में राजेन्द्र प्रसाद के साथ उनकी मुलाकात उपयोगी नहीं रहीं। बिहार के तत्कालीन गवर्नर सर मौरिस हेलेट ने उन्हें बिहार विधान परिषद् में मनोनीत करने का प्रस्ताव किया परन्तु जयपाल ने इसे अस्वीकार कर दिया। उनकी इच्छाओं का सम्मान करते हुए तब जयपाल ने रांची जाने और अपने लिए स्थिति का आकलन करने का निर्णय किया।

जब चारों और समाचार फैला कि जयपाल रांची पहुंच गया हैं तो आदिवासियों में बहुत उत्साह भर गया। संयुक्त आदिवासी मंच (United Adivasi Forum) जिसे आदिवासी सभा कहा जाता थ, उन्हें इसका 1938 में इस संगठन का अध्यक्ष बनाया गया। 20 जनवरी, 1939 को जयपाल सिंह को सुनने के लिए लगभग 65,000 लोग एकत्र हुए। वे हर तरफ से एक साथ पैदल चलकर उन्हें देखने के लिए आए थे। ऐसा ही उन्होंने पहले महापुरूष बिरसा मुंडा की झलक पाने के लिए किया था। उनके एक साथ अंग्रेजी, हिन्दी, सदानी और मुंडारी में प्रभावशाली भाषण ने जीवन के सभी क्षेत्रों में महिला–पुरूषों को सम्मोहित कर दिया।

उन्होंने घोषणा की कि "आदिवासी आन्दोलन मुख्य रूप से छोटा नागपुर और संथाल परगना की नैतिक तथा आर्थिक प्रगति के लिए है," और इसे उन्होंने क्षेत्र के पृथक् प्रशासनिक स्तर के लिए अपना लक्ष्य बताया। वे अब लोगों के "मरंग गोमके" अर्थात् सर्वोच्च नेता थे। इसके पश्चात् क्षेत्र का इतिहास बदल गया। उन्होंने फिर पिछे मुड़कर नहीं देखा। उन्होंने सर्वत्र अपने साथी आदिवासियों के लिए और दक्षिण बिहार की सीमाओं के बाहर के आदिवासियों के लिए भी बेहतर भविष्य हेतु निरंतर कार्य किया।

आदिवासी सभा अब बदलकर अखिल भारतीय आदिवासी महासभा हो गई थी। राष्ट्रीय राजनीतिक मोर्चे (मंच) पर जयपाल सिंह ने निजी तौर पर अपने को कांग्रेस से अलग कर लिया था। उन्होंने सुभाष बोस के साथ मिलकर 1940 में रामगढ़ में समझौता विरोधी कांग्रेस सम्मेलन में सक्रिय भूमिका निभाई। वे कांग्रेस के निर्णय के खिलाफ गए और दूसरे विश्व युद्ध में अंग्रेजों का समर्थन किया तथा ब्रिटिश सेना के लिए छोटा नागपुर से पुरूषों और महिलाओं को भर्ती किया।

वे 1946 से ही संविधान सभा, अंतरिम संसद (Provisional Parliament) के सदस्य थे और 1970 में अपनी मृत्यु तक वे चार बार निर्वाचित हुए। नृविज्ञान (Anthropology) के वरिष्ठ सदस्य एस.सी. राय थे। अपनी पहचान को स्थापित करने के लिए विधानमंडल के अंदर और बाहर अपने "गरिमामय संघर्ष" का नेतृत्व किया। झारखंड पार्टी की स्थापना और 1950 में इसमें गैर–आदिवासियों के शामिल होने के कारण उन्होंने इस तरह के सांप्रदायिक पूर्वग्रह (communal bias) से मुक्त होकर झारखंड में भावात्मक सांस्कृतिक आन्दोलन को क्षेत्रिय राजनीतिक आन्दोलन में बदल दिया।

झारखंड पार्टी पहला वैध राजनीतिक दल थी जिसने राजनीतिक एजेंडा बनाया और झारखंड राजनीति के भविष्य को दिशा प्रदान की। यह दल इतना शक्तिशाली हो गया कि इसने 1957 में उड़ीसा के पड़ौसी में सरकार बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

14.5.1 आदिवासी पहचान का समर्थन करना

संविधान सभा के एक सदस्य के रूप में जयपाल सिंह ने आदिवासी पहचान के मुद्दे को उठाने में संविधान सभा में प्रभावशाली दृष्टिकोण से जनजातियों (आदिवासियों) के लिए संरक्षण प्रदान करने वाले दृश्टिकोण का पता चला और मुख्य विकास की संरचना के उनके निष्कासन के कारण जनजातीय क्षेत्रों में सर्वाधिक लाभकारी होगा। इसके साथ–साथ सभ्य बनाने के उद्देश्य और जनजातियों को राश्ट्र की मुख्यधारा में शामिल करने पर बल दिया गया।

जयपाल सिंह ने प्रभावशाली दृष्टिकोण का विरोध किया। 24 अगस्त, 1949 को संविधान प्रारूप पर बहस में भाग लेते हुए, जयपाल सिंह ने आदिवासी पहचान पर एक महत्वपूर्ण भाषण दिया उन्होंने झारखंड में जनजातीय समुदाय के अस्तित्व के प्रश्न को उठाया। उन्होंने जोर देकर कहा कि जनजातीय लोग भारत के सच्चे और मूल निवासी हैं और इस प्रकार उनका पूरे भारत पर दावा है। उन्होंने बल दिया कि विधानमंडलों में जनजातियों के लिए आरक्षण जरूरी है। उन्होंने अनुसूचित जनजातियों के मामले को अनुसूचित जातियों के मामले से अलग किया।

जयपाल सिंह का मानना था कि आदिवासी समाज ने हमेशा समानता और लोकतंत्र पर बल दिया है। उन्होंने कहा कि:"आदिवासी समाज देश में सर्वाधिक लोकतांत्रिक तत्व है। क्या भारत के मामले में भी ऐसा है? ... आदिवासी समाज में अमीर या गरीब सब बराबर है। प्रत्येक को समान अवसर प्राप्त है और मैं नही चाहता हूं कि लोग यह मान लें कि इस संविधान को लिखकर और इसे कार्यान्वित करके हम आदिवासी समाज में नया विचार रखने का प्रयास कर रहे हैं। जो कुछ वास्तव में हम कर रहे हैं वह यह है कि आप सीख रहे हो और कुछ ले रहे हो.....गैर–आदिवासी समाज ने बहुत कुछ सीखा है और इसे अभी भी बहुत कुछ सीखना है। आदिवासी सबसे अधिक लोकतांत्रिक लोग हैं और वे भारत को और छोटा अथवा कमजोर नहीं होने देंगें....मैं चाहूंगा कि सदस्य उन्हें इतना कमजोर न समझे।" (संविधान सभा बहस, 1949)

आदिवासी पहचान पर जोर देते हुए और राष्ट्रीय राजनीति में समुदाय के लिए मुख्य भूमिका का समर्थन करते हुए, उन्होंने कहा है: "जो कुछ जरूरी है वह यह है कि हमारे देश में पिछड़े समूहों को अपने पैरों पर खड़े होने योग्य बनाया जाना चाहिए ताकि वे अपनी पहचान बना सकें। इस संविधान का मुद्दे यह नहीं है और न हीं मैं यह चाहता हूँ कि उन्नत (उच्च) समाज सदा के लिए उन्हें अपने नियंत्रण में ले ले। हम जो आग्रह करते हैं वह यह है कि हमें धन/साधन प्रदान किए जाएं...जिससे हम अपने पैरों पर खड़े होने में सफल हो सकेंगे और हमें भाक्ति फिर से प्राप्त होगी तथा हम भारत के उपयोगी नागरिक बन सकेंगे.....। मैं गैर–आदिवासियों को वि वास दिलाता हूं कि आदिवासी, जैसा आप सोचते हैं, उससे भी अधिक बड़ी भूमिका निभाएँगे, परन्तु इसके लिए आपको अपने इरादों के बारे में ईमानदार होना होगा तथा उन्हें वहीं भूमिका निभाने देनी चाहिए जो भूमिका उन्हें निभानी है। (संविधान सभा बहस, 1949)

14.6 काज़ी नज़रूल इस्लाम (1899–1976)

क़ाजी नज़रूल इस्लाम (1899–1976) बांग्लादेश के राष्ट्रकवि का जन्म बंगाल के बर्दवान जिले के चुरूलिया में हुआ था। बचपन में ही उनके पिता का देहांत हो गया और उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस कारण वे नौ वर्ष की आयु के निचले इस्लामिक स्कूल (lower Islamic School) में अध्यापक हो गए। यद्यपि उनकी शिक्षा दसवीं कक्षा तक हुई परन्तु उन्होंने अरबी और फारसी भाषाएँ पढ़ना जारी रखा। जब वे बालक ही थे, तभी से उन्होंने फारसी गजलों और अरबी रचनाओं का बांगला अनुवाद कर दिया था। उन्होंने कीट्स, भौली और व्हिटमैन की रचनाओं को पढ़ा और आनन्द उठाया। नज़रूल ने काव्य (पद्य) की 50 पुस्तकें और गीत, कहानियों और उपन्यासों की 6 पुस्तकें, अनुवाद की 3 पुस्तकें, 53 नाटक (एंकाकी) छंद नाटक (verse plays) और गीति–नाटय (operas)] सिनेमा के 2 आलेख, निबंधें की 5 पुस्तकें और 4000 गीत तथा गज़ले लिखी तथा वे साहित्य के प्रतिभा संपन्न व्यक्तित्व बन गए। उनके रिकार्ड किए गए गीतों का वि व कीर्तिमान है जिनमें से अधिकतर की संगीत रचना स्वयं नज़रूल ने की है।

14.6.1 विद्रोही कवि (The Rebel Poet)

नज़रूल भारत के ब्रिटिश भासन के विरूद्ध थे और उन्होंने स्वदेशी तथा खिलाफत आन्दोलन पर लिखी अपनी रचनाओं के माध्यम से सक्रिय भाग लिया। अपनी रचना अंदामोयीर अगामाने (Andamoyeer Agamaney) के कारण जो धूमकेतु मे छपी थी, उन्हें एक वर्ष का कठोर कारावास भोगना पड़ा। रविन्द्रनाथ टैगोर नज़रूल को

धूमकेतु (Comet) कहते थे। महात्मा गांधी के लिए नज़रूल की कविता "चरखे का गीत" था और नज़रूल "चरखे की एकमात्र आत्मा" थे तथा आजादी उनकी नसों में दौड़ती थी।

नज़रूल को उनकी आश्चर्यजनक महान कृति "विद्रोही" के लिए विद्रोही कवि के रूप में जाना गया। यह अनैतिकता के विरूद्ध आत्म चेतना (self-conscious) का उग्र घोशणापत्र था। जैसा कि साजिद कमाल कहते है प्रत्येक मानव के ह्यदय में "विद्रोह" सार्वभौम घोषणा (universal proclamation स्वीकृति, प्रेरणा और प्रार्थना ने मानव को पीड़ित, परतंत्र, परित्यक्त और दुर्बल बना दिया। कहा जाता है कि नज़रूल "विद्रोही" के सिवाए कुछ नहीं लिखता तो नज़रूल नज़रूल ही रहता।

14.6.2 हिन्दू–मुस्लिम मुद्दा

1926 में कलकत्ता में हिन्दू–मुस्लिम दंगों के संदर्भ में "हिन्दू–मुस्लिम" (The Tale of Tails) में रवीन्द्रनाथ का हवाला देते हुए उन्होंने गुरूदेव की टिप्पणी को दोहरायाः "तुम देखते हो, कोई भी उस पूँछ को काट सकता है जो बाहर है, परन्तु उसे पूँछ को कौन काट सकता है जो अंदर है?"

नज़रूल का कहना था कि जो लोग अंदर या बाहर पूँछ बढ़ा लेते हैं – जानवर बन जाते हैं। पूँछदार (दुमदार) लोगों की क्रूरता अथवा अत्याचार उनके "सींगदार" प्रदर्शन के माध्यम से स्पश्ट होता है और किसी को भी उनके बारे में चिंता नहीं करनी चाहिए।

इस संदर्भ में नज़रूल हिन्दुओं और मुसलमानों द्वारा जारी सजग प्रयास की आलोचना करते हैं जिसके कारण टीकी (तुफ़्त) और दाढ़ी (beard) के जरिए परस्पर विरोधी पहचान बनाई है। नज़रूल का व्यंग्य प्रभावशाली और प्रहार करने वाला है: "इस अंदरूनी पूँछ का जन्म टीकीपूर और दाढ़ी स्थान होना चाहिए। मानव का आदिम और अति शक्तिशाली दृष्टिकोण जानवरों की तरह है। पूँछ बढ़ाने की योग्यता न होने के उनके दुख को टीकी–दाढ़ी में उपचारात्मक सांत्वना (remedial consolation) मिली है।

नज़रूल को दुख है कि किस तरह मानवता का सार्वभौम संबंध पर दीवार खड़ी करके विपत्ति/विद्वेश (adversity/animosity) में बदल गया हैं। उनका मानना है कि कोई भी धर्म की सत्यता के बिना नहीं रह सकता परन्तु कानून/संहिताओं के अतिरिक्त बोझ सभी प्रकार की समस्याएँ पैदा करते हैं। नज़रूल "हिन्दुत्व अथवा हिन्दूपन (हिन्दुत्वों) अथवा मुस्लिम अथवा मुल्लापन को सहने" में कोई कठिनाई नहीं पाते हैं परन्तु टीकी–तो/दाढ़ी–तो सहन नहीं किए जा सकते क्योंकि ये वैमनस्य और विद्वेश उत्पन्न करते है।" नज़रूल का तर्क है कि इस प्रकार के प्रतीक जो धार्मिक पहचान के अनिवार्य तत्वो की रचना करते हैं, उनका धर्म से कुछ लेना–देना नहीं हे। इस प्रकार ये टिप्पणी करते है कि हिन्दू होने के लिए टीकी लगाना जरूरी नहीं हैं, क्योंकि यह आडम्बर हो सकता है। इसी प्रकार मुस्लिम होने के लिए दाढ़ी अनिवार्य नहीं है, क्योंकि यह मुल्लापन है। बालों के गुच्छों से इन दो निशानों से बालों की बहुत खिंचाई हुई है।"

साझा संस्कृति के प्रबल वि वास रखने वाले नज़रूल, निरर्थक बाहरी प्रतीकों के आधार पर पंडितों और मुल्लाओं की संघर्षात्मक पहचान बनाने के लिए जिम्मेदार ठहराते है और यही पहचान समुदायों को आपस में बांटती है। उनका मानना है कि "आज का झगड़ा भी पंडित और मुल्ला के बीच है न कि हिन्दू और मुसलमान के बीच। नारायण की गदा और अल्लाह की तलवार में समस्या नहीं होगी क्योंकि वे एक जैसी है किसी के हाथ में हथियार उसी व्यक्ति के दूसरे हाथ पर प्रहार नही करता। वह सर्वनाम (pronoun) है। सभी नाम उसमें (ई वर में) मिल गए हैं। इस संघर्श और झगड़े में यह सही है कि अल्लाह अथवा नारायण न तो हिन्दू हैं अथवा न ही मुसलमान हैं। उसके दाढ़ी अथवा टीकी नहीं है। वह पूरी तरह "साफ" (clean) हैं। मैं टीकी–दाढ़ी के बारे में इतना परेशान हूँ क्योंकि ये इंसानो को याद दिलाते है कि मैं अलग हूं और तुम अलग हो। यह बाहरी चिह्न (निशान) मानवता को अपना अमर रक्त संबंध भुलाने पर मज़बूर करते हैं।"

उन्हें यह जानकर दुःख होता है कि कृष्ण–मौहम्मद–ईसामसील साप्रदायिक संपति बन गए हैं और ये सभी इस संपति के अधिकारों के संघर्ष केन्द्र है।" एक कह रहा है, हमारा अल्लाहः दूसरा कह रहा है, हमारा हरि। जैसा कि परमात्मा गाय का बकरा (cow-goat) हो गया है। और ऐसे मामलों का निपटारा करने की जिम्मेदारी न्यायमूर्ति सर अब्दुल रहीम, पंडित मदन मोहन मालवीय आदि के कंधे पर है। कोई भी व्यक्ति मेडिकल कॉलेज के वार्डो (घायल भारीरों से भरे हुए) में जाकर आसानी से इसके परिणाम देख सकता है।"

14.7 भाई काहन सिंह नाभा (1861–1938)

भाई काहन सिंह, एक प्रख्यात सिख विद्वान सबज बनेरा, पटियाला के गाँव में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता नारायण सिंह नाभा में एक गुरूद्वारें के प्रभारी थे। काहन सिंह किसी औपचारिक विद्यालय अथवा कॉलेज में नहीं गए, परन्तु उन्होंने परम्परागत शिक्षा के माध्यम से शिक्षा की अनेक भााखाओ में विशेषज्ञता प्राप्त कर ली थी। दस वर्श की आयु में वह गुरूग्रंथ साहिब का सरलता से उच्चारण करने लगे थे। उन्होंने संस्कृत और फारसी का भी अध्ययन किया था। 1887 में उन्हें नाभा राज्य के प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी टिक्का रिपुदमन सिंह का शिष्य नियुक्त किया गया। महाराजा के निजी सचिव से लेकर उच्च न्यायालय के न्यायाधीश तक, वह राज्य में विभिन्न पदों पर आसीन रहे।

1885 में वह संयोगवश मैक्स आर्थर मेकालिु से मिले जो सिख धर्मग्रंथों और आरंभिक सिख धर्म के इतिहास पर कार्य कर रहे थे। मेकालिफ काहन सिंह को इंग्लैण्ड ले गए और उनकी सलाह और मार्गदर्शन प्राप्त किया तथा उनके द्वारा किए गए योगदान के प्रति आभार व्यक्त किया। उन्होंने काहन सिंह को दि सिख रिलीजन के अपने छह खंडो का प्रतिलिप्याधिकार (copyright) प्रदान किया। काहन सिंह की अनेक रचनाओं में गुर शब्द रत्नाकर महान कोष जो सिख धर्म कोष प्रथम है, सदैव अमर रचना रहेगी । प्रथम रचना राज धरम (1884) के अतिरिक्त, उनकी प्रमुख रचनाओं में भाामिल है और गुरमत प्रभाकर जो एक सिख भाब्दावली है जिसमें अवधाराणओं और संस्थाओं का उल्लेख है और गुरमत सुधाकर जिसमें धर्म और इतिहास संबंधी महत्वपूर्ण सिख ग्रंथो का उल्लेख किया गया है। उनके द्वारा रचित गुर गृह कसौटी के उनके शिष्य टिक्का रिपुदमन सिंह द्वारा गुरू ग्रंथ साहिब में कुछ भाबद (hyms) के बारे में प्रश्न पूछे गए हैं। उनकी गुर चंद दिवाकर ओर गुर शब्द अलंकार छंदयुक्त और साहित्यिक रचनाएं हैं। उनकी शरब निखेद एक उपदेशात्मक रचना है जिसमें मद्यपान (drinking) के हानिकारक प्रभावों का वर्णन किया गया है। उनकी अन्य रचनाएँ हैं– विष्णु पुराण, सद और चॉदी दी वार। भाई काहन सिंह ने अपना पूरा जीवन अध्ययन कार्य में व्यतीत किया जिसका स्थायी प्रभाव बाद के सिख साहित्य पर पड़ा। उनके कार्य और रचनाएं सिख साहित्य के विभिन्न पहलुओं में समकालीन सिख जीवन को समृद्ध बनाती रही हैं और उनकी कृतियों ने बीसवीं शताब्दी में सिख जाग्रति के मार्ग को सूक्ष्म रूप से नया रूप प्रदान किया।

14.7.1 हम हिन्दू नहीं (We are not Hindus)

1898 में उन्होंने एक विशिष्ट उद्देश्य से हम हिन्दू नही नामक रचना प्रकाशित की। इस रचना का शीर्षक काहन सिंह के दृष्टिकोण को अधिक स्पष्ट कर देता है। यह आर्य समाज के उस प्रचार का जवाब था जिसने सिखों को हिन्दू मत (धर्म) से संबंधित

बताया था। उनकी पुस्तक ने सिख पहचान के बारे में सिखों के दृष्टिकोण को मजबूती के साथ प्रस्तुत किया। इसमें सिंह सभा आन्दोलन के प्रभावशाली विचार को व्यक्त किया गया और यह सदैव लोकप्रियता से घिरी रही। यहां पर यह कहना ठीक है कि इस पुस्तक में जो दृष्टिकोण अपनाया गया है, वह न तो भात्रुतापूर्ण है और न ही आक्रामक हैं। अपने प्रस्तुतीकरण में, उन्होंने यह बल देने का अधिक ध्यान दिया कि वे भाांति चाहते हैं न कि झगड़ा।

भाई काहन सिंह अपने समय के दूरदर्शी क्रांतिकारी गुरसिख थे। काहन सिंह ने "हम हिन्दू नहीं" जैसी पुस्तक की आवश्यकता को उचित ठहराया और कहा कि "यह पूरी तरह स्पष्ट है कि खालसा वास्तव में हिन्दू समाज से बिल्कुल अलग है।" उन्होंने एक उदाहरण के माध्यम से अपनी रचना के महत्व को बताया है जो इस प्रकार है: "एक बार गुरू गोबिन्द सिंह ने एक गधे को शेर की खाल से ढक दिया और बंजर (उजाड़) में छोड़ दिया। लोगों और जानवरों ने सोचा कि वह एक भोर है और वे इतना डर गए कि कोई भी उसके पास नहीं जाता था। भार ढोने के कश्ट से छुटकारा पाकर और जी भरकर खेतों मे चरकर गधा हट्टा कट्टा और भाक्तिशाली हो गया। वह आनन्दपुर के आसपास के क्षेत्र में घुमकर अपने दिन बिता रहा था। परन्तु एक दिन वह अपने पुराने अस्तबल में गधी के रेंकने से आकर्षित हो गया। कुम्हार ने इसे पहचान लिया, उसने भोर की खाल हटाई, उसकी पीठ पर बोरे रखे और एक बार फिर उससे काम लेने के लिए उसे सांटे से माना शुरू कर दिया।

गुरू ने इस कहानी का प्रयोग अपने सिखों को आवश्यक सीख देने के लिए किया। उन्होंने कहा "मेरी प्यारी संतानों, मैंने तुम्हें मूक अभिनय मे शामिल नहीं किया है जैसा कि इस गधे के मामले में है, मैंने तुम्हें

जाति–बंधन से पूरी तरह मुक्त कर दिया है। तुम मेरी संतान हो गए हो और साहिब कौर तुम्हारी माँ हो गई है: गधे के मूर्ख उदाहरण का अनुसरण मत करो और अपनी पुरानी जातीय निष्ठा की ओर मत लौटो। मेरे शब्दों और खालसा के पवित्र विश्वास को त्यागकर यदि तुम अपनी विभिन्न जातियों में लौटोगे तो तुम्हारा भाग्य गधे के भाग्य जैसा हो जाएगा। तुम्हारा साहस तुम्हें छोड़ देगा और तुम व्यर्थ में जीवन जीओगे।" इस प्रकार काहन सिंह सिख धर्म के जातिविहिन पक्ष पर बल देते हैं जो जातिग्रस्त हिन्दू धर्म से अलग है।

काहन सिंह को दुख था कि उनके अनेक भाई वास्तव में गुरू की शिक्षा के इस पहलू की उपेक्षा कर रहे हैं। वे अपने आपको खालसा के सिख तो मानते हैं परन्तु हिन्दु परम्परा को भी मानते हैं। जबकि सिख धर्म हिन्दू धर्म से अलग है। काहन सिंह के अनुसार "इसका कारण है कि न तो उन्होंने अपने धर्म ग्रंथ ध्यानपूर्वक पढ़े और न ही ऐतिहासिक अतीत का अध्ययन किया है। इसके बजाए, उन्होंने भ्रांतिपूर्ण साहित्य पढ़कर समय व्यतीत किया है और अपने स्वार्थ के लिए कपटपूर्ण शब्दों को सुना है। दुःख यह है कि ये भाई लोग खालसा से अलग होते जा रहे हैं।"

काहन सिंह को विश्वास था कि "जब सभी धर्म के लोग अपनी–अपनी परम्पराओं के प्रति निष्ठावान होंगें, दूसरे भारतीयों को एक ही परिवार का सदस्य मानेंगे, जब वे मानेंगें, कि किसी भी व्यक्ति को हानि पहुँचाने का अर्थ पूरे देश को हानि पहूँचाना है और जब धार्मिक मतभेद झगड़े का बिल्कुल भी कारण नहीं होंगे, तो भारत प्रगति करेगा।" उन्होंने सिखों को सलाह दी कि वे गुरू नानक की सौहार्दपूर्ण भावना से अपने धर्म का प्रचार करें, "इसके लिए हम सुनिश्चित करेंगे कि पारस्परिक ईर्ष्या और घृणा न फैलने पाए। साथ ही साथ आप अपने सभी देशवासियों के लिए प्रेम पैदा करेंगे और सभी जो इस भारत देश में रहते हैं, उन्हें एक मानेंगे।" इस प्रकार भाई काहन सिंह, एक पृथक् सिख पहचान का समर्थन करते हुए भी, इसे अन्य धार्मिक/समुदायिक पहचान के विरूद्ध नहीं मानते हैं।

काहन सिंह ने सिंह सभा आन्दोलन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्हें नाभा राज्य से निष्काषित कर दिया गया क्योंकि उन्होंने दरबार साहिब से प्रतिमाओं (मूर्तियों) को हटाने की सलाह दी थी। उन्होंने अमृतसर में खालसा कॉलेज की स्थापना के अनेक प्रयास किए ताकि सिख शिक्षा के लिए आन्दोलन को बढ़ावा मिल सके।

14.8 सारांश

इस पाठ में उन राजनीतिक चिंतकों के बारे में बताया गया है जिन्होंने औपनिवेशिक भारत के सामाजिक–राजनीतिक वातावरण का विश्लेषण करते समय राजनीतिक क्षेत्र को विभिन्न पहचान दी। नायकर ने द्रविड़ पहचान और संस्कृति पर जोर दिया, रमाबाई का संघर्ष हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म में पितृत्तात्मक व्यवस्था के विरूद्ध था: जयपाल सिंह ने आदिवासियों के हित का समर्थन किया: नज़रूल का विरोध निर्मित प्रतीकों के आधार पर हिन्दूओं और मुसलमानों के कृत्रिम विभाजन के विरूद्ध था: और काहन सिंह ने सिख पहचान को तेज़ किया। इन विविध पहचानों की अभिव्यक्ति से औपनिवेशिक और उत्तर–औपनिवेशिक (post-colonial) भारत को जानने में अधिक सहायता मिलती है।

14.9 अभ्यास प्रश्नः

1. न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने के लिए नायकर की एकजुटता की विचारधारा को स्पष्ट कीजिए।
2. तमिलनाडु में नायकर के द्रविड़ आन्दोलन पर टिप्पणी लिखिए।
3. महिलाओं के अधिकारों और समाज सुधार के लिए रमाबाई के योगदान को स्पष्ट कीजिए।
4. जयपाल सिंह के राजनीतिक नेतृत्व पर एक टिप्पणी लिखिए।
5. भारत में राष्ट्रवाद के अभ्युदय पर नज़रूल इस्लाम के विभिन्न योगदानों का वर्णन कीजिए।
6. भाई काहन सिंह और सिख समुदाय पर उनके विचारों पर एक टिप्पणी लिखिए।

इकाई-4

अध्याय-15

मोहन दास करमचंद गांधी

संरचना

15.1 उद्देश्य

15.2 प्रस्तावना

15.3 जीवन परिचय

15.4 गांधी जी के आदर्श राज्य संबंधी विचार

15.4.1 शासन का लोकतांत्रिक स्वरूप

15.4.2 सत्ता का विकेन्द्रीकरण

15.4.3 आर्थिक क्षेत्र के विकेन्द्रीकरण

15.4.4 अहिंसात्मक समाज

15.4.5 नागरिक अधिकारों पर आधारित

15.4.6 निजी सम्पत्ति का अस्तित्व

15.4.7 श्रम की अनिवार्यता

15.4.8 वर्ण व्यवस्था

15.4.9 अस्पृश्यता का अन्त

15.4.10 धर्म निरपेक्ष समाज

15.4.11 गौ–वध निषेध

15.4.12 मद्य–निषेध

15.4.13 निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा

15.4.14 पुलिस व सेना संबंधी विचार

15.4.15 पंचायत पर आधारित न्याय व्यवस्था

15.4.16 लोककल्याणकारी राज्य

15.4.17 राजनीति के आध्यात्मिकरण

15.5 महात्मा गांधी के आर्थिक विचार

15.5.1 पूंजीवाद का विरोध

15.5.2 औद्योगिकीकरण का विरोध

15.5.3 कुटीर उद्योगों का समर्थन

15.5.4 अपरिग्रह का सिद्धान्त

15.5.5 वर्ग सहयोग पर बल

15.5.6 संरक्षण या ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त

15.6 महात्मा गांधी के सामाजिक विचार

15.6.1 अस्पृश्यता का निवारण

15.6.2 वर्ण व्यवस्था का समर्थन

15.6.3 नारी सुधार

15.6.4 बुनियादी शिक्षा

15.6.5 अहिंसा पर आधारित समाज

15.7 सारांश

15.8 अभ्यास प्रश्नावली

15.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य महात्मा गाँधी के उन विचारों को जानना, जो सत्य, अहिंसा, परमोधर्म पर आधारित, जिनको अपनाने से न केवल राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था में सुधार किया जा सकता है बल्कि सम्पूर्ण मानवता का कल्याण सम्भव हो सकता है। आज के दौर में जिस प्रकार की विकट परिस्थितियाँ हमारे सम्मुख है, उनके समाधान करने में गांधीवादी दर्शन एवं विचारधारा कारगर सिद्ध हो सकतीी है। इस अध्याय के पश्चात् आप जान सकेगें–

- गांधी जी के रामराज्य संबंधी अवधारणा, जो लोकतंत्र, स्वतंत्रता, विकेन्द्रीकरण तथा लोककल्याण की बुनियाद पर टिकी हुई हैं,
- गांधी जी के आर्थिक विचार जो कुटीर उद्योग तथा अपरिग्रह के सिद्धान्त पर बल देते तथा ट्रस्टशिप के सिद्धान्त को अपनाकर अर्थव्यवस्था को गति देने की बात करते है, इससे समाज में विद्यमान आर्थिक समानता को भी दूर किया जा सकता है,
- महात्मा गांधी के सामाजिक विचार जो छुआछूत तथा कुरीतियों के विरोध पर आधारित हैं, जिसका मुख्य लक्ष्य समता पर आधारित समाज–व्यवस्था का सुत्रपात करना हैं, को भी जान सकेंगे।

15.2 प्रस्तावना

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तकों में महात्मा गांधी की पहचान एक ऐसे चिन्तक, सुधारक, विचारक के रूप में होती है जिनके विचार न केवल स्वतन्त्रता संग्राम तक सीमित रहे अपितु आजादी के पश्चात् जिस भारतीय संविधान का निर्माण किया गया तथा देश को चलाने के लिए जो व्यवस्था व प्रतिभान स्थापित किये गये उन सभी पर न केवल गांधी जी के विचारों का प्रभाव पड़ा अपितु गांधी जी के विचारों को आधार मानकर उन्हें क्रियान्वित किया गया। जिनकी प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। गांधी दर्शन आज भी विश्व का मार्गदर्शन कर रहा है चाहे वह शांति व अहिंसा या लोकतन्त्र या राम राज्य या परमो धर्म कही न कही किसी न किसी रूप में उनके विचारों की झलक देखी जा सकती है यद्यपि गांधी जी स्वयं यह कहा करते थे कि उनका उद्देश्य को वाद नहीं छोड़ना हैं? अपितु उनका मूलमंत्र लोगों को मानवीय मूल्यों, नैतिक आदर्श, अहिंसा जैसे मापदण्डों के अनुसार जीवन जीना है। गांधी के विचारों पर कई अन्य विचारकों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। रस्किन की "अन्टू दिलास्ट" ने उन्हे नेटाल से जुलुलेड के विर्जन बनो की ओर प्रवृत किया जहाँ उन्होंने स्वेच्छिक गरीबी का जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। टालस्टाय का गांधी पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा आधुनिक राज्य की संगठित हिंसा के विरोध में सविनय अवज्ञा का विचार उन्हे टालस्टाय से मिला गांधी जी के राज्य संबंधी विचारों पर भी इनका प्रभाव देखा जा सकता है। गांधी के चिन्तन में मूल स्वतन्त्रता है, यह स्वतन्त्रता व्यक्ति की है और साथ यह परिस्थिति निरपेक्ष की है। व्यक्ति का ध्यये आत्म साक्षात्कार अथवा सत+चित+आनन्द की प्राप्ति करना है। अतः सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाये ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता में तनिक भी बाधक न हो, बल्कि सहायक हो। सामाजिक संस्था के रूप में समाज व परिवार बिना किसी अनावश्यक अवरोध पैदा किये कार्य करना चाहिए परन्तु इस समय सामाजिक दोषों के चलने समाज अपने वास्तविक स्वरूप से विमुख होकर इस तरह से कार्य कर रहा था जो व्यक्ति की उन्नति के बजाए अवनति का कार्य कर रहा है। वर्ग समाज, जाति बन्धन, छुआछुत, कर्म काण्ड, महिला उत्पीड़न, असामनता जैसे कुरीतियां होती थी। जिनका भारतीय समाज से कोई भी सरोकार नहीं था परिणामस्वरूप हमारा समाज असभ्यता का प्रतीक हो गया। व्यक्ति पर अनावश्यक प्रतिबन्ध उसकी स्वतन्त्रता व प्रगति के प्रतिकूल थे। इसी तरह राजनीतिक संस्था के रूप में राज्य एक महत्वपूर्ण इकाई रही है। व्यक्ति की राजनीति में भागीदारी, अधिकार स्वतन्त्रता, न्याय व सम्पूर्ण राज व्यवस्था राज्य की नीतियों व इच्छा पर निर्भर करती हैं जब से राजनीतिक इकाई के रूप में राज्य शक्तिशाली हुआ है तब से मनुष्य से सम्बन्धित अन्य पहलू पूरी तरह राज्य पर निर्भर हो गए है। सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक इत्यादि क्रियाकलाप राज्य पर निर्भर करता है और राज्य अपनी सुविधाओं व नीतियों के अनुसार इनके लिए नियम बनाता हो परन्तु गांधी जी राज्य का विरोध करते थे। उनके अनुसार ये मनुष्य की स्वतन्त्रता एवं आत्म–निर्णय के अधिकार को कुठित करती है। अतः ऐसी सारी संस्थाएं समाप्त कर देनी चाहिए जो हिंसा, उत्पीड़न एवं पाशविक शक्ति पर आधारित है। चूंकि राज्य हिंसा पर आधारित है, अतः यह समाज के लिए बहुत आवश्यक और उपयोग नहीं है। आदर्श स्थिति में राज्य की आवश्यकता ही नहीं होगी लेकिन जब तक इसकी आवश्यकता है तब तक राज्य का न्यूनतम प्रयोग होना चाहिए। इस प्रकार गांधी का यह विचार यथार्थ एवं व्यावहारिकता पर आधारित है। वे राम राज्य का सपना संजोये हुए थे।

मोहनदास कमरचन्द गांधी का नाम विश्व के उन महानतम् व्यक्तियों में आता है, जिन्होंने सत्य एवं अहिंसा के आधार पर राजनैतिक चेतना लाने का प्रयास किया। यद्यपि स्वयं महात्मा गाँधी का कहना था कि उनका उद्देश्य किसी नए वाद या विचारधारा को जन्म देना नहीं है। लेकिन भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों एवं धार्मिक एवं ऐतिहासिक घटनाओं को आधार मानकर उन्होंने भारतीय समाज को न पर चलने की प्रेरणा प्रदान की। महात्मा गांधी के विचार आज भी अपनी प्रासंगिकता लिए हुए है। इसलिए जहाँ कहीं भी आज जिस गति से हमारा युवा और समाज गर्त की ओर जा रहा है, उसे सही दिशा प्रदान करने में गांधीजी के मूल्य सार्थक सिद्ध हो सकते है। इनसे व्यक्ति के व्यक्तित्वएवं चारित्रिक निर्माण में सहायता मिलती है और एक आदर्श समाज की स्थापना संभव हो सकती है।

महात्मा गांधी ने 1915 के पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय रूप से भाग लिया और सर्वप्रथम चम्पारण आन्दोलन का नेतृत्व किया। ये ऐसा समय था, जिसमें अंग्रेजो के प्रति जनाक्रोश अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था और उग्रवादी एवं क्रांतिकारी आन्दोलन जारी थे।

जिनका गाँधीजी ने विरोध किया और सत्य और अहिंसा पर आधारित आन्दोलन करने की प्ररेणा प्रदान की। वे कांग्रेस के साथ आजीवन जुड़े रहे और उसके कार्यक्रमों एवं संगठन को वैचारिक आधार प्रदान किया। बैलगांव अधिवेशन में प्रथम एवं अंतिम बार कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। अंग्रेजों के विरूद्ध जन–जागृति लाने के लिए उन्होंने असहयोग आन्दोलन (1920), सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930), भारत छोड़ो आन्दोलन (1942) आदि का नेतृत्व किया और ब्रिटिश हुकूमत को हिला कर रख दिया।

कांग्रेस के संबंध में महात्मा गांधी का मानना था कि कांग्रेस को देश की राजनीतिक गतिविधियों में भाग नहीं लेना चाहिए, उसे केवल समाज सुधार के क्षेत्र में कार्य करना चाहिए। लेकिन पण्डित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल आदि अनेक कांग्रेसजन इससे सहमत नहीं थे।

गांधी के आर्थिक विचारों को स्पष्ट करते हुए यह कहा कि समाज में व्याप्त आर्थिक असमानता को दूर करना होगा। इसके लिए उन्होनें ट्रस्टशिप के सिद्धान्त का समर्थन किया और कहा कि जमींदारों और पूंजीपतियों के पास आवश्यकता से अधिक धन है तो उन्हें चाहिए कि वे इन्हें समाज को प्रदान कर दें और इन पर उन लोगों का स्वामित्व स्थापित किया जाए जो निर्धन है।

सामाजिक क्षेत्र में गांधीजी ने समाज में व्याप्त बुराईयों के प्रति जागरूक किया और छूआ–छूत, दलितों के साथ अन्याय, जातीय बन्धन आदि के भारतीय समाज की एकता के लिए विध्वंसक माना। यद्यपि गांधीजी वर्ग–व्यवस्था के औचित्य को स्वीकार करते थे लेकिन वर्ग का आधार कर्म के स्थान पर जन्म होने के कारण जाति हावी हो गई थी। समाज के एक बड़े वर्ग, जिसके लिए गांधीजी ने "हरिजन" शब्द काम में लिया है, उसकी स्थिति भी चिंताजनक थी, इससे समाज खण्डित नजर आ रहा था। अतः उन्होनें अपने विचारों एवं राजनीतिक भाषणों में सुधार लाने की प्ररेणा दी।

इसलिए आजादी के बाद भारत में जितने भी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र के प्रयास और सुधार किए गये, उनमें उनके विचारों की स्पष्ट छाया दिखाई पड़ती हैं अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर गांधीजी के आदर्शों को सहर्ष स्वीकारा जाता है। यह धारणा विश्व–व्यापी बन गई है कि हिंसा से किसी भी समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता।

15 जून, 2007 को संयुक्त राष्ट्र संघ ने महत्वपूर्ण निर्णय लेते हुए प्रति वर्ष 2 अक्टूबर को विश्व अहिंसा दिवस मनाने का फैसला लिया है, जो इस बात का प्रमाण है कि वर्तमान अन्तरराष्ट्रीय राजनीति मं गांधीजी के विचारों एवं दर्शन का व्यापक महत्व है।

15.3 जीवन परिचय

गांधीजी का पूरा नाम मोहनदास करमचन्द गांधी था। उनका जन्म 2 अक्टूबर 1869 ई. को गुजरात के काठियावाड़ क्षेत्र में पोरबंदर नामक स्थान पर हुआ। उनकी मृत्यु 30 जनवरी, 1948ई. को नई दिल्ली में नाथुराम गोडसे द्वारा गोली चलाने से हो गई थी। गाँधीजी का विवाह कस्तुरबाई से हुआ था। गांधीजी के पिता श्री करमचन्द गांधी काठियावाड़ की छोटी रियासत के दिवान थे। पारिवारिक परम्पराओं के अनुरूप गांधी का जीवन पवित्र और सादगी भरा था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा पोरबंदर में ही पूर्ण हुई, परन्तु बाद में वे वकालत करने इंग्लैण्ड चले गये, इंग्लैण्ड जाते समय जैन साधु बेचरजी से तीन प्रतिज्ञा लेते है कि मैं मदिरा, परायी औरत और मांस को नहीं छुऊंगा। इनका पालन गांधी जी ने अंतिम समय तक किया।

इंग्लैण्ड में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वकालत करने दक्षिणी अफ्रीका चले जाते हैं। वहां की राजनीतिक स्थिति का गांधीजी पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। क्योंकि रंगभेद के नाम पर मूल अफ्रीकी लोगों का शोषण किया जा रहा था। अतः उन्होंने औपनिवेशक साम्राज्यवादी एवं रंगभेदी सरकार के विरूद्ध अभियान चलाया था और यहीं से गांधीजी का राजनीतिक क्षेत्र में विधिवत प्रवेश हो जाता है। यहां पर वे सत्य एवं अहिंसा के आधार पर अंग्रेजों के प्रति असहयोग की नीति का अनुसरण करते हैं और अफ्रीकी समाज को रंगभेद से मुक्त होने के लिए प्रेरित करते हैं 1915 में गांधीजी पुनः भारत लौटते हैं और पाते है कि भारत में उग्रवादी व क्रांतिकारी गतिविधियाँ अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी हैं। कांग्रेस के द्वारा भी अंग्रेजो के विरूद्ध आन्दोलन किया जा रहा था लेकिन इन सभी प्रयासों से महात्मा गांधी सहमत नहीं थे। वे भारत आकर कांग्रेस के साथ जुड़ते है और उसे एक वैचारिक आधार प्रदान करते है। गांधीजी को महात्मा रविन्द्रनाथ टैगोर ने तथा राष्ट्रपिता सुभाषचन्द्र बोस ने कहा।

1920 में गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन चलाया। जिसका प्रभाव सम्पूर्ण भारतवर्ष में देखा गया। 1924 बैलगांव अधीवेशन में गाँधीजी प्रथम व अंतिम बार कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन चलाया और उसमे "करो या मरो" का नारा दिया। जब 1946 में माउण्ट बेटन योजना प्रस्तुत हुई, जिसमें यद्यपि भारत की स्वतन्त्रता का प्रावधान था लेकिन, विभाजित भारत की स्वतन्त्रता का, जिसका गांधीजी ने विरोध किया और कहा–भारत का विभाजन मेरी लाश पर होगा।" आजादी के पश्चात् जिस गति से सम्पूर्ण भारत साम्प्रदायिकता की आग में जल रहा था। उससे गांधीजी बहुत चिंतित हुए, इसीलिए अंत में उन्हें खण्डित भारत स्वीकार करना पड़ा।

15.4 गांधी जी के राज्य सम्बन्धी विचार

गांधीजी का यह विचार यथार्थ एवं व्यहारिकता पर आधारित है वे रामराज्य का सपना संजोये हुए थे। इसलिए उन्होंने दो प्रकार के आदर्श राज्य की बात कही।

- **पूर्ण आदर्श राज्य–** जो राज्य विहिन व्यवस्था पर आधारित थे।
- **अर्द्ध आदर्श राज्य–** जो अहिंसात्मक समाज व्यवस्था पर आधारित थे।

गांधीजी का मानना था कि जब नागरिकों में अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों का उचित बोध हो जाएगा तो राज्य की कोई आवश्यकता नहीं होगी। गांधीजी का यह विचार मार्क्सवाद से प्रेरित लगता है और प्लेटों के आदर्श राज्य की बू आती है लेकिन व्यावहारिकता को आधार मानकर गांधीजी पूर्ण आदर्श अवस्था को स्वीकार नहीं करते है। उनका कहना था कि समाज में कुछ ऐसे असामाजिक तत्व होते हैं जो व्यवस्था के साथ खिलवाड़ करने से नहीं चूकते। अतः राज्य के पास बाध्यकारी शक्तियाँ होनी चाहिए। गांधीजी का आदर्श राज्य लोकतांत्रिक मूल्यों एवं सत्ता के विकेन्द्रीकरण की अवधारणा के साथ जुड़ा हुआ है। इसका प्रमुख उद्देश्य शासन मे जनता की अधिक से अधिक भागीदारी सुनिश्चित करना।

गांधीजी को रामराज्य जनहित एवं कल्याण पर आधारित राम राज्य को स्पष्ट निर्देश दिये गये है कि वह इस क्षेत्र में प्रतिबद्ध रहें। ताकि राज्य का उद्देश्य पूर्ण हो सके और राज्य जन इच्छाओं और आंकाक्षाओं पर खरा उतर सकें।

महात्मा गांधी ने अपने राजनीतिक विचारों में आदर्श राज्य पर गम्भीरतापूर्वक विचार प्रस्तुत किये हैं। वे एक रामराज्य की कल्पना करते है। उनका मानना है कि राज्य का अस्तित्व जनहित के लिए है तो उसे इस उद्देश्य पर खरा उतरना चाहिए। गांधीजी के आदर्श राज्य के दो रूप देखने को मिलते हैं। **प्रथम पूर्ण आदर्श राज्य,** जो राज्य विहिन समाज की कल्पना करता है, उनके इस विचार में मार्क्सवाद की छाया स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

द्वितीय, अर्द्ध आदर्श राज्य को अहिंसात्मक समाज व्यवस्था पर आधारित है। उनका यह विचार यथार्थ व व्यवहार पर आधारित है। क्योंकि समाज में कुछ ऐसे असामाजिक तत्व होते है जो व्यवस्था की धज्जियां उड़ाने के पीछे नहीं रहते। अतः परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए राज्य के अस्तित्व को स्वीकार किया और राज्य को लोककल्याण पर बल देने को निर्देश दिये।

गांधीजी का आदर्श राज्य लोकतांत्रिक मूल्यों एवं विकेन्द्रीकरण की अवधारणा पर आधारित है। उनका कहना था कि लोकतंत्र शासन का सर्वोच्च रूप होता है। लेकिन विकेन्द्रीकरण के बिना इसकी सफलता संदिग्ध

है। जब तक शासन में स्थानीय लोगों की अधिक से अधिक सहभागिता सुनिश्चित नहीं होगी, तब तक आदर्श राज्य का सपना साकार नहीं हो सकता।

गांधीजी के राज्य संबंधी विचारों को भारतीय संविधान एवं राजनीतिक व्यवस्था में सम्मानजनक स्थान दिया गया है। जैसे अनु. 17 अस्पृश्यता निवारण, अनु. 12 से 35 मौलिक अधिकार, अनु. 29 धर्म निरपेक्ष समाज, अनु. 36 से 51 लोक कल्याणकारी स्वरूप, अनु. 42 लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण आदि। इनके अलावा आर्थिक असमानता दूर करने का प्रयास, पुलिस प्रबंध में सुधार, शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने के प्रयास, 73 व 74वें संविधान संशोधन द्वारा पंचायत राज व स्थानीय निकाय को सुदृढ़ बनाना आदि।

गांधीजी धर्म और राजनीति के अटूट रिश्तों पर विचार रखते हुए मानते है धर्म और राजनीति एक सिक्के के दो पहलू हैं। लेकिन राजनीतिक स्वार्थ के लिए धर्म का प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि इससे समाज विघटन को प्रोत्साहन मिलेगा। इस प्रकार गांधीजी के आदर्श राज्य संबंधी विचार निम्नलिखित है :–

15.4.1 शासन का लोकतांत्रिक स्वरूप

महात्मा गाधी के आदर्श राजय का प्रथम आधार लोकतंत्र पर आधारित संस्था है, क्योंकि लोकतंत्र में निहित होने के कारण सरकार तानाशाह नहीं बन सकती और जनहितों की अनदेखी नहीं कर सकती। अतः आदर्श राज्य लोकतांत्रिक मान्यताओं एवं मूल्यों पर आधारित होना चाहिए।

15.4.2 सत्ता का विकेन्द्रीकरण

केवल लोकतंत्र की स्थापना करने से सरकार का स्वरूप लोकतांत्रिक नहीं हो सकता। इसके लिए सत्ता के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता होती हैं, ताकि लोकतांत्रिक की संस्थाओं का जाल गांव–गांव और ढ़ाणी–ढ़ाणी फैलाया जा सके और लोकतंत्र में स्थानीय लोगो की भागीदारी अधिक से अधिक सुनिश्चित की जा सके। इसीलिए महात्मा गांधी ने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के औचित्य को स्वीकार किया। गांधीजी ने इन्हीं सपनों को साकार करने के लिए 1957 में बलवन्द राय मेहता समिति का गठन किया गया। इसी की सिफारिश के आधार पर 2 अक्टूबर 1959 को राजस्थान के नागौर में पंचायती राज संस्थाओं का श्रीगणेश किया गया। इस संस्थाओं को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए प्रयास किये जा रहे हैं। इसी कड़ी में 73 व 74 वां संविधान संशोधन किया गया तथा पंचायती राजसंस्थाओं को प्रभावी बनाने के उद्देश्य से 2004 में केन्द्रीय पंचायती राज मंत्रालय की स्थापना की गई।

15.4.3 आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण

गांधीजी ने राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के साथ–साथ आर्थिक विकेन्द्रीकरण पर भी बल दिया हैं उनका कहना था कि आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता या समानता अधूरी है। अतः समाज में व्याप्त आर्थिक असमानता को दूर करना होगा। इसके लिए ट्रस्टशिप के सिद्धान्त का अनुसरण करने की आवश्यकता पर बल दिया। वे कहते थे कि मैं मशीनों का विरोधी नहीं हूँ, लेकिन इनके नाम पर बेराजगारी को नहीं बढ़ाया जाये। भारत की आर्थिक बदहाली से मुक्ति दिलाने के लिए एकमात्र तरीका है–गांवों को आत्मनिर्भर बनाना। इसके लिए घरेलू एवं कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देना होगा। स्वदेशी के प्रति जागृति लानी होगी। वे उद्योगों में श्रमिकों को भागीदारी बढ़ाना चाहते थे। गांधीजी के इसी सपने को साकार करने के लिए 42वे संविधान संशोधन के द्वारा अनु. 43 (क) जोड़ा गया।

15.4.4 अहिंसात्मक समाज

गांधीजी अपने आदर्श राज्य को अहिंसात्मक समाज के रूप में स्वीकार करते है। गांधीजी के इस आदर्श राज्य में राज्य का अस्तित्व रहेगा। राज्य के पास कुछ बाध्यकारी शक्तियाँ होंगी। जैसे–पुलिस, सेना, जेल, न्यायालय आदि। जिसके माध्यम से वह मनुष्य की असंवैधानिक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगायेगा, फिर भी राज्य इस दृष्टि से अहिंसात्मक होगा, जिसमें सत्ता का प्रयोग जनता के उत्पीड़न व अत्याचार के लिए नहीं, वरन् कल्याण व हित के लिए होगा।

15.4.5 नागरिक अधिकारों पर आधारित

अधिकारों का संबंध व्यक्ति के सर्वांगिण विकास के साथ जुड़ा हुआ होता हैं इसलिए मनुष्य हमेशा से ही अधिकार प्राप्ति के लिए प्रयासरत् रहा हैं। गांधीजी अपने आदर्श राज्य को नागरिक अधिकारों पर आधारित बनाना चाहते थे। उननके इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान के भाग 3 अनु. 12 से 35 में इनका उल्लेख किया गया है।

15.4.6 निजी सम्पत्ति का अस्तित्वः–

गांधीजी आर्थिक विकेन्द्रीकरण की बात करते हैं, जिसमें ट्रस्टशिप के सिद्धान्त के माध्यम से आर्थिक असमानता दूर करने के समर्थक है, लेकिन वे कार्लमार्क्स की भांति सम्पत्ति के अस्तित्व को नहीं नकारते हैं। उनका कहना था कि व्यक्ति के पास सम्पत्ति इतनी होनी चाहिए, जिससे उनकी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। सम्पत्ति संकलन करने की प्रवृत्ति अनेक बुराईयों को जन्म देती है।

15.4.7 श्रम की अनिवार्यताः–

महात्मा गांधी ने अपने आदर्श राज्य के संबंध मे यह बताया है कि राज्य में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए श्रम करना जरूरी होगा ताकि वे स्वयं अपना भरण पोषण भली–भांति कर सके। साथ में सजा की आत्मनिर्भरता की दिशा में अग्रसर हो सके। वे मानसिक श्रम के साथ–साथ शारीरिक श्रम पर अधिक बल देते थे और कहा करते थे कि जो व्यक्ति केवल मानसिक श्रम करते हैं, उन्हे प्रतिदिन कुछ समय शारीरिक श्रम के लिए निकलना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा किस माज में काम से दिल चुराने की प्रवृत्ति पर अंकुश लग सकेगा।

15.4.8 वर्ण व्यवस्थाः–

गांधीजी के अनुसार वर्ण व्यवस्था हमारी सभ्यता की पहचान है, जिसका उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था का सफल संचालन करना है। इसका आधार धर्म होना चाहिए, कार्य नहीं, लेकिन दोषपूर्ण व्यवस्थाओं के कारण वर्ण–व्यवस्था पर जातीय बन्धन हावी हो गये है, जिसके कारण समाज में अनेक प्रकार की बुराइयों को बल मिला है। सभ्य कहलाने वाला समाज असभ्यता का प्रतीक बनकर रह गया है। अतः आदर्श राज्य में पूर्ण व्यवस्था पर बल दिया जाना चाहिए।

15.4.9 अस्पृश्यता का अन्तरः–

वर्ण व्यवस्था का आधार कार्य हो जाने के कारण भारतीय समाज में जातिवाद का घिनौना खेल शुरू हो गया था। सम्पूर्ण समाज खण्डित नजर आ रहा था। शुद्र वर्ण के लोगों के साथ छुआ–छूत जैसी अमानवीय प्रवृत्तियां पनपती जा रही थी। जिसके परिणामस्वरूप समाज का एक बड़ा वर्ग अभाव भरी जिंदगी व्यतीत कर रहा था। अतः गांधीजी ने अपने आदर्श राज्य में छुआछूत निषेध की घोषणा की और इसके संबंध में अनेक लेख अपने समाचार–पत्र "हरिजन" में प्रकाशित किये। इन्हीं विचारों को आधार मानकर भारतीय संविधान के अनु. 17 में अस्पृश्यता निवारण की विधिवत् घोषणा की गईं इसके अलावा अस्पृश्यता से ग्रस्त लोगों के लिए गांधीजी ने हरिजन शब्द का प्रयोग किया।

15.4.10 धर्म निरपेक्ष समाज

यद्यपि महात्मा गांधी धर्म और राजनीति के अटूट सबंध को स्वीकार करते थे। लेकिन भारत जैसे विविधता वाले राज्य में धर्म प्रधान राज्य संभव नहीं था। अतः इसलिए उन्होनें धर्म निरपेक्ष राज्य के औचित्य को स्वीकार किया। जिसका अभिप्राय एक ऐसे राज्य से है, जिसका कोई विशेष धर्म नहीं होगा और न ही धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव किया जायेगा। आदर्श राज्य के इस विचार को स्वतंत्र भारत ने स्वीकार किया है और इसके संबंध में अनेक प्रावधान संविधान में किये गये हैं।

15.4.11 गौ–वध निषेधः–

गांधीजी के धार्मिक व आर्थिक दोनों ही महत्व से परिचित थे। उनका कहना था कि गाय के पालन–पोषण के आधार पर एक व्यक्ति अपने परिवार की जीविका संचालित कर सकता है। इसके अलावा हिन्दू धर्म व संस्कृति में भी गाय को पवित्र माना गया है। अतः आदर्श राज्य में गौ–वध पर पूर्ण प्रतिबंध होगा।

15.4.12 मद्य निषेधः–

मद्य सेवन से व्यक्ति का चारित्रिक व नैतिक पतन होता है। अतः आदर्श राज्यमें मद्य निषेध नीति का अनुसरण किया जायेगा।

15.4.13 निःशुल्क प्राथमिक शिक्षाः–

गांधीजी के अनुसार व्यक्ति में नैतिक व चारित्रिक गुणों का विकास करने के लिए शिक्षा का होना बहुत जरूरी हैं लेकिन इस समय भारतीय समाज में अशिक्षा व अज्ञानत व्यापत थी। अतः गांधीजी यह मानते थे कि उनके आदर्श राज्य में प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क होगी, ताकि समाज का कोई भी नागरिक शिक्षा से वंचित न रह

सके। गांधीजी के इसी विचार को ध्यान में रखते हुए राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा का प्रावधान किया गया है तथा 86वाँ संविधान संशोधन कर शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाया गया है।

15.4.14 पुलिस व सेना संबंधी विचारः–

गांधीजी अपने आदर्श राज्य में पुलिस के औचित्य को स्वीकार करते है लेकिन सेना नहीं। उनके अनुसार समाज में व्याप्त असामाजिक तत्वों पर नियंत्रण करने के लिए पुलिस का होना अनिवार्य हैं लेकिन पुलिस का आधार अहिंसा होगा। वे जनता के सेवक के रूप में तत्परता के साथ दायित्व निर्वाह करेंगे। सेना के संबंध में जब विश्व में स्थायी शांति कायम हो जायेगी तब सेना का कोई महत्व नहीं रहेगा। लेकिन फिर भी आवश्यकता के लिए शांति सेना स्थापित की जा सकती है।

15.4.15 पंचायत पर आधारित न्याय व्यवस्थाः–

पंचायतों को और अधिक सशक्त बनाने के लिए गांधीजी अपने आदर्श राज्य में न्याय संबंधी अधिकार पंचायतों को देने पर बल देते है, ताकि लोगों को सस्ता व शीघ्र न्याय सुलभ हो सके।

15.4.16 लोक कल्याणकारी राज्यः–

गांधीजी का आदर्श राज्य पूर्णतः लोककल्याण की अवधारणा पर आधारित है, जिसके अन्तर्गत राज्य हर समय जनता के कष्टों का निवारण करने का प्रयास करेगा और जनहित का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं होगा, जो राज्य की सीमा से परे होगा।

15.4.17 राजनीति के आध्यात्मिकरण पर बलः–

महात्मा गांधी गोपाल कृष्ण गोखले को अपना राजनीतिक गुरू मानते थे। इसलिए उन्होंने गोखले के इस विचार को स्वीकार करते हुए साध्य(लक्ष्य) को प्राप्त करने के लिए साधनों की पवित्रता पर बल दिया। उनका मानना था कि ऐसा होने से जो पणिाम हमें प्राप्त होंगे उनकी अनुभूति भी अच्छी होगीतथा हमारी भावी पीढ़ी को इसका लाभ मिलेगा।

निष्कर्षः– इस प्रकार गांधीजी का आदर्श राज्य संबंधी विचार कोरी कल्पनाओं पर आधारित न होकर यथार्थ व वास्तविकता पर आधारित है। जिन्हें आधार मानकर निश्चित तौर पर प्रत्येक राज्य विकास और उन्नति के नवीन सोपान तय कर सकता है और ऐसा राज्य भी अपने उद्देश्य पर खरा उतर सकता है। गांधीजी के इन विचारों को भारतीय संविधान में सम्मानपूर्वक स्वीकार किया गया है। इसलिए नीति निदेशक तत्वों का उद्देश्य ही राम राज्य की स्थापना करना है।

15.5 महात्मा गांधी के आर्थिक विचार

आर्थिक आयामों का संबंध व्यक्ति और समाज के उत्थान के साथ जुड़ा हुआ है। जब तक समाज आर्थिक दृष्टि से प्रभावशाली नहीं होगा और अनेक प्रकार की आर्थिक समस्याएं व्याप्त होगी, तो समाज के सामने विकास और उन्नति की अनेक चुनौतियाँ उभर सकती है। इसलिए राजनीतिक चिन्तकों के द्वारा सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों के साथ–साथ आर्थिक विचारों पर बल दिया गया है।

महात्मा गांधी के आर्थिक विचार

❖ आर्थिक समानता को प्रोत्साहन देने में सहायक।
❖ समतावादी समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।
❖ बेरोजगारी, शोषण एवं पिछड़ेपन जैसी आर्थिक समस्याओं का समाधान सम्भव।
❖ पारस्परिक सहयोग की भावना को बल मिल सकेगा।
❖ ये विचार भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के अनुरूप ही है।
❖ समाज के संसाधनों का उचित वितरण सम्भव हो सकेगा।

गांधीजी ने अपने राजनीतिक चिन्तन में आर्थिक सुधार की व्यापक योजना प्रस्तुत की। उस समय अंग्रेजों की दमनकारी एवं शोषणकारी नीतियों के चलते भारतीय समाज की आर्थिक दरिद्रता स्पष्ट रूप से झलक रही थी। चारों ओर आर्थिक असमानता, भूखमरी, अन्याय, शोषण, बेराजगारी का साम्राज्य व्याप्त था। औद्योगीकीकरण

के कारण भारतीय कुटीर उद्योग चौपट हो चुके थे। भारत में उत्पन्न होने वाला अधिकांश कच्चा माल इंग्लैण्ड भेज दिया जाता था। जिसका प्रतिकूल प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ा।

राजनीति में समाज की अर्थव्यवस्था के सबंध में गांधीजी का विचार था कि सच्चा अर्थशास्त्र नैतिकता के नियमों के प्रतिकूल हो ही नही सकता। सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय चाहता हैं वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह कितना भी कमजोर क्यों न हो, का सामाजिक हित चाहता है और अच्छे जीवन के लिए यह आवश्यक भी हैं गांधीजी के ये विचार यथार्थ व व्यवहार पर आधारित हैं, जिन्हें अपनाकर कोई भी राज्य अपना उत्कर्ष कर सकता है।

गांधीजी के आर्थिक विचार निम्नलिखित हैः–

15.5.1 पूंजीवाद का विरोधः–

गांधीजी आर्थिक क्षेत्र में प्रचलित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का विरोध करते है और समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना पर बल देते है। उनका कहना था कि पूंजीपति,अर्थव्यवस्था का संचालन केवल अपने लाभ के लिए ही करते है। जिनका सामाजिक हित से कोई सरोकार नहीं। वे उद्योगों का मशीनीकरण करके बेकारी बढ़ाते है और मजदूरों का और उपभोक्ता का शोषण करते है।

अर्थव्यवस्था पर उनका एकाधिकार होने के कारण वे वस्तुओं का मूल्य एवं स्तर अपनी मनमर्जी से तय करते है। जिसका परिणाम यह होता है कि समाज में आर्थिक विषमता बढ़ती ही जाती है।

15.5.2 औद्योगीकीकरण का विरोधः–

उनके द्वारा औद्योगिक क्रांति और इसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न केन्द्रीय कृत अर्थव्यवस्था का विरोध किया गया। उनका कहना था कि औद्योगीकीकरण की इस प्रवृत्ति ने साम्राजयवाद व उपनिवेशवाद को बढ़ावा दिया है। क्योंकि औद्योगीकीकरण से राष्ट्रों को अपनी अर्थव्यवस्था संचालित करने के लिए बड़ी मात्रा में कच्चे माल और तैयार माल बेचने के लिए विशाल मण्डी की आवश्यकता होती हैं। अतः इसके लिए वे इस प्रकार की नीति का अनुसरण करते हैं, जो नैतिकता के विरूद्ध है। गांधीजी बड़ी मशीनों को मानवता के लिए अभिशाप मानते थे, क्योंकि इससे समाज में घृणा, स्पर्द्धा व स्वार्थ को बढ़ावा मिलता है और इससके मानव समाज का शारीरिक व नैतिक पतन भी होता है। इसके कारण समाज के अधिकांश संसाधन कुछ लोगों के साथ में आ जाते है तथ समाज का बहुसंख्यक वर्ग अभाव की जिंदगी व्यतीत करता है।

15.5.3 कुटीर उद्योगों का समर्थनः–

गांधीजी के अनुसार भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार कुटीर उद्योग है। क्योंकि ये भारत को आत्मनिर्भर बनाते है और गांवों में स्वालम्बन की भावना विकसित करते है। अतः जिस गति से मशीनीकरण किया जा रहा है वह हमारे लिए अनुचित हैं। अंग्रेजों की दोषपूर्ण नीतियों के कारण हमारे यह उद्योग पतन के कगार पर पहूंच चुके है। उनके अनुसार भारत में जब तक राजनीतिक व सामाजिक चेतना नहीं आएगी, तब तक हम आर्थिक क्षेत्र में स्वदेश और कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन नहीं दे सकेगें। गांधीजी का कहना था कि किसी भी देश की अर्थव्यवस्था काफी हद तक उसकी जलवायु एवं प्राकृतिक स्थिति पर निर्भर करती है। अतः इस दृष्टि से कुटीर उद्योग उचित है।

15.5.4 अपरिग्रह का सिद्धान्तः–

इससे तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को अपनी आवश्यकता के अनुसार सम्पत्ति या धन रखना चाहिए। गांधीजी का कहना था कि भारतीय समाज में जो आर्थिक विषमता बढ़ रही है, आर्थिक संसाधनों पर समाज के कुछ लोगों का नियंत्रण स्थापित हो गया है, उनका मूल कारण मनुष्य में अत्यधिक सम्पत्ति संकलन करने की भावना है। अतः भारत में अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति के जीवन स्तर को ऊपर उठाने के अपरिग्रह के सिद्धान्त का अनुसरण करना चाहिए।

15.5.5 वर्ग सहयोग पर बलः–

गांधीजी अपने आर्थिक विचारों में वर्ग संघर्ष के स्थान वर्ग सहयोग की अवधारणा में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि पूंजीपति और श्रमिकों के हित परस्पर विरोधी नहीं हो सकते। यदि इनमें पारस्परिक सहयोग एवं सामूहित प्रयत्न किए जाए तो अर्थव्यवस्था को उच्च शिखर पर पहूंचाया जा सकता है। उनके अनुसार पूंजीपतियों को समाप्त नहीं, अपितु उनकी शक्तियों को कम करना है।

15.5.6 संरक्षण या ट्रस्टशिप का सिद्धान्तः–

गांधीजी के आर्थिक विचारों की बुनियाद ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त पर आधारित हैं उनका मानना है कि समाज में आर्थिक समानता लाने के लिए पूंजीपतियों एवं जमींदारों के पास जो अनाश्यक धन व भूमि है, उसको उनसे प्राप्त कर उन्हें सामाजिक संरक्षण नियुक्त कर दिया जाए तथा इसका उपयोग वे लोग करें, जो निर्धन है। यहाँ सम्पत्ति प्राप्त करने के साधन साम्यवाद पर आधारित न होकर सत्य व अहिंसा पर आधारित होंगे।

निष्कर्षः– अतः कहा जा सकता है कि गांधीजी के विचार उच्च स्तर के हैं जिनको आधार मानकर प्रत्येक राज्य अपनी अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बना सकता हैं इसलिए गांधीजी के इन विचारों को आधार मानकर भारत अर्थव्यवस्था का संचालन कर रहा है। उनके यह विचार यथार्थ व व्यवहार पर आधारित है।

15.6 महात्मा गांधी के सामाजिक विचार

गांधीजी का ध्यान भारतीय समाज की उन बुराइयों की तरफ गया, जिनके कारण सम्पूर्ण समाज की जड़े खोखली हो चुकी थी। यद्यपि भारतीय समाज और संस्कृति की गणना विश्व के महानतम संस्कृतियों से की जाती थी। लेकिन स्वस्थ परम्पराओं के स्थान पर सामाजिक बुराइयाँ हावी हो गयी थी। समाज को संगठित एवं व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए वैदिक एवं आर्यों के काल में अनेक व्यवस्थाएं और परम्पराऐं स्थापित हो गई थी।

20वीं सदी का पूर्वाद्ध भारतीय समाज के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण था। क्योंकि महात्मा गांधी ने समाज की बुराईयों से मुक्त करने का बीड़ा उठाया। यद्यपि गांधीजी से पूर्व अनेक समाज सुधारक हुए जिन्होनें इस दिशा में सार्थक पहल भी की। लेकिन गांधीजी के प्रयास यथार्थ पर आधारित होने के कारण उनके विचारों का सकारात्मक प्रभाव पड़ा। उस समय समाज में ऊँच–नीच का भेदभाव अपनी चरम सीमा पर पहूँच चुका था और कथित तौर पर अपने आपको उच्च जाति का दावा करने वाले लोग निम्न जातियों के लोगों के साथ अस्पृश्यता, शोषण, अन्याय व अत्याचार जैसे अमानवीय व्यवहार कर रहे थे। जिससे समाज विखण्डित नजर आ रहा था। अतः गांधीजी ने राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाने के लिए समाज सुधार पर बल दिया और कहा कि जब तक

समाज में एकता का अभाव रहेगा, तब तक हम गुलामी की जंजीरों से मुक्त नहीं हो सकते। गांधीजी के प्रमुख सामाजिक विचार निम्नलिखित हैः–

15.6.1 अस्पृश्यता का निवारणः–

गांधीजी ने भारतीय समाज में व्याप्त छुआछूत या अस्पृश्यता का विरोध किया और ये कहा कि इससे समाज पतन की ओर अग्रसर हो रहा है मानवीय समाज का गम्भीर दोष है। इससे सम्पूर्ण समाज कलंकित हो रहा है। उन्होने कहा कि यह एक ऐसा रोग है जो समस्त समाज को नष्ट कर देगा। वे अछूतों को आर्थिक व राजनीतिक अधिकार दिलाने के पक्ष में थे। उनके द्वारा इस बात पर बल दिया गया कि अछूतों को हिन्दू मंदिरों, कुओं तथा सार्वजनिक स्थलों पर प्रवेश दिया जाये। ताकि उनमें आत्म–सम्मान एवं आत्म–गौरव की भावना विकसित हो सके। गांधीजी ने सर्वप्रथम अछूतों के लिए "हरिजन" शब्द का प्रयोग किया तथा उनके सुधार हेतु व्यापक योजना प्रस्तुत की तथा गांधीजी के विचारों को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान में अस्पृश्यता निवारण अनु. 17 में उल्लेख किया गया है।

15.6.2 वर्ण व्यवस्था का समर्थनः–

वर्ण व्यवस्था को भारतीय समाज का आधार माना जाता है, लेकिन वर्ण व्यवस्था जो कर्म व धर्म पर आधारित हुआ करती थी, वह कार्यो पर आधारित हो गई। जिसके परिणाम स्वरूप समाज में जाति बंधन हावी हो गए और समाज खण्डित नजर आने लगा। प्राचीन काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र बनाने के पीछे उद्देश्य माज का सफल संचालन करना था। लेकिन दोषपूर्ण व्यवस्था के चलते वर्ण व्यवस्था प्रदूषित हो गई। अतः गांधीजी ने सामाजिक विचारों में वर्ण व्यवस्था के औचित्य को स्वीकार किया।

15.6.3 नारी सुधारः–

नारी को अर्द्धांगिनी माना जाता है। प्राचीन भारतीय समाज और हिन्दू धर्म की मान्यताओं में नारी का महत्वपूर्ण स्थान हुआ करता था। लेकिन बदलती हुई परिस्थितियों के कारण नारी की स्थिति नाजुक होती गई। अतः 19वीं, 20वीं शताब्दी में अनेक समाज सुधारक आगे आए। जिनमें राजा राम मोहन राय तथा बाद में गांधीजी का नाम प्रमुख है। उनका कहना था कि नारी किसी भी दृष्टि से पुरूषों से हीन नहीं होती। उसके प्रति अन्याय

व अपमान नहीं होना चाहिए। उनका कथन था कि यदि सत्य, अंहिसा, सहिष्णुता, नैतिकता आदि जीवन के सर्वोच्च गुणों की दृष्टि से विचार किया जाए तो नारी पुरूषों से श्रेष्ठ हैं गांधीजी ने पर्दा प्रथा, बाल विवाह, बहुपत्नी विवाह, बेमेल विवाह, दहेज प्रथा आदि का विरोध किया। लेकिन गांधीजी महिलाओं की आर्थिक स्वतंत्रता के समर्थक नहीं थे। उनका कहना था कि वह केवल अपने पारिवारिक दायित्व का पालन करें। घर से बाहर निकलकर आर्थिक गतिविधियों में भाग न लें।

15.6.4 बुनियादी शिक्षाः–

गांधी जी का कहना था कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्यके शरीर, आत्मा और मस्तिष्क का समन्वित विकास करना है। लेकिन इस दृष्टि से भारत में अंग्रजों के द्वारा प्रचलित शिक्षा उचित नहीं थी। उनका कहना था कि यह शिक्षा पद्धति हमारे युवाओं में शारीरिक, बौद्धिक एवं आत्मिक उन्नति नहीं कर सकती। उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र मे सुधार लाने के लिए व्यापक योजना प्रस्तुत की, जो इस प्रकार है–

- शिक्षा के अन्तर्गत विद्यार्थियों को कोई न कोई दस्तकारी सिखाई जाए, ताकि उनके आत्मनिर्भरता की भावा का विकास हो।
- शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए।
- अनिवार्य व निःशुल्क शिक्षा।
- शिक्षा का स्तर व्यक्तियों के चारित्रिक निर्माण करने वाला होना चाहिए।

गांधीजी ने इसी सपने को साकार करने के लिए 2002 में 86वाँ संविधान संशोधन शिक्षा का मौलिक अधिकार बनाया गया।

15.6.5 अहिंसा पर आधारित समाज

गांधीजी के सामाजिक विचारों मे उनके समाज की बुनियाद अहिंसा पर टिकी हुई है। इसलिए वे अपने आदर्श राज्यों को अहिंसात्मक समाज कहकर पुकारते हैं। उनका मानना था कि सभी समस्याओं की जड़ मनुष्य की हिंसात्मक प्रवृत्ति है। अतः समाज में हिंसा के किसी भी रूप को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।

15.7 सारांश

उपरोक्त विवेचन के तत्पश्चात् यह कहा जा सकता है कि महात्मा गांधी के विचार निश्चित रूप से आज भी प्रासंगिक हैं, जिन्हें अपनाकर हक अनेक समस्याओं का समाधान आसानी से कर सकते है और समाज को प्रगति के पथ पर अग्रित किया जा सकता है।

- रामराज्य की अवधारणा अपनाने से राज्य जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं पर खरा उतर सकता है। यही कारण हे कि स्वतंत्रता के बाद गांधी जी के इस विचार को अपनाया गया और संविधान में भी अनेक प्रावधान किये गये।
- गांधीजी के आर्थिक विचारों के माध्यम से हक आर्थिक चुनौतियों का मुकाबला कर सकते है। उनके विचार समाजवाद से प्रभावित प्रतीत होते हैं, जो हमें यह सन्देश देते है कि ऐसे आर्थिक तंत्र की स्थापना की जाए, जिसमें सभी लोगों को अपने विकास के समान अवसर मिलें।
- कुटीर उद्योगों के प्रोत्साहन पर बल देकर गांधीजी ने भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने का प्रयास किया, जिसे अपनाने से भारत आर्थिक शक्ति के रूप में अपनी पहचान कायम कर सकता है।
- सामाजिक न्याय की स्थापना में भी गांधी का उल्लेखनीय योगदान माना जा सकता है। उन्होने उन सामाजिक व्यवस्थाओं पर प्रहार किया, जो समाज को विघटन की ओर ले जा रही थी तथा समाज के बड़े भाग को समान धारा से काट चुकी थी। इसके लिए उन्होंने छुआछूत पर कड़ा प्रहार किया तथा अपने समाचार–पत्र हरिजन में दलितों के संरक्षण के संबंध में अनेक लेख प्रकाशित किये।
- नारी सुधार की दिशा में आवाज बुलन्द कर उन्होंनें नारी सम्मान तथा गौरव को बढ़ाया, जिससे ये सदियों से वंचित थी।

15.8 अभ्यास प्रश्नावली

1. गांधीजी के विचारों की प्रासंगिकता को सिद्ध किजिए।
2. गांधीजी के आदर्श (राम राज्य) संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिए।
3. गांधीजी के प्रमुख्य आर्थिक विचार क्या है?
4. निम्न पर टिप्पणी लिखिए–
   1. सत्ता का विकेन्द्रीकरण, 2.अहिंसात्मक समाज, 3. वर्णव्यवस्था, 4. अस्पृश्यता का अन्त
5. गांधीजी के सामाजिक विचारों पवर संक्षिप्त नोट लिखिए।
6. अपरिग्रह का सिद्धान्त क्या है?
7. ट्रस्टशिप का सिद्धान्त क्या है?
8. राम राज्य की स्थापना की दिशा में भारत में क्या संवैधानिक प्रयास हुए है?
9. महात्मा गांधी का राजनीति में विधिवत् प्रवेश कहा से हुआ?
10. गांधी जी प्रथव व अन्तिम बार कांग्रेस के कौन से अधिवेशन में अध्यक्ष बने?
11. गांधी जी पूंजीवाद का विरोध क्यों करते थे?
12. गांधी जी के आर्थिक विचारों का प्रमुख उद्देश्य क्या है?
13. शिक्षा को मौलिक अधिकार कब एवं किस संविधान संशोधन द्वारा बनाया गया?
14. गांधीजी को राष्ट्रपिता किसने कहां?
15. विश्व अहिंसा दिवस कब मनाया जाता है?
16. गांधीजी अपना राजनीतिक गुरू किसे मानते थे?

अध्याय-16
जवाहर लाल नेहरू

संरचना

16.1 उद्देश्य

16.2 प्रस्तावना

16.3 जीवन परिचय

16.4 पंडित जवाहरलाल नेहरू के साम्प्रदायिकता संबंधी विचार

16.4.1 साम्प्रदायिकता का अर्थ एवं प्रकृति

16.4.2 साम्प्रदायिकता निवारण के उपाय

16.5 लोकतांत्रिक समाजवाद संबंधी विचार

16.5.1 लोकतांत्रिक समाजवाद का अर्थ एवं प्रकृति

16.5.2 लोकतांत्रिक समाजवाद का प्रमुख सिद्धान्त

16.5.2.1 लोकतंत्र तथा समाजवाद की पारस्परिकता

16.5.2.2 समस्याओं का समाधान

16.5.2.3 समाजवाद के गतिशील स्वरूप का समर्थन

16.5.2.4 संवैधानिक साधन

16.5.2.5 समतावादी समाज

16.5.2.6 लोक कल्याणकारी राज्य

16.5.2.7 आर्थिक विकास पर जनता की भागीदारी पर बल

16.5.2.8 लोकतांत्रिक मूल्यों में दृढ़ आस्था

16.5.2.9 मिश्रित अर्थव्यवस्था

16.6 नेहरू के राष्ट्रवाद संबंधी विचार

16.6.1 सीमित उदार व सन्तुलित राष्ट्रवाद का समर्थन

16.6.2 स्वतन्त्रता का मूल प्रेरणा स्त्रोत

16.6.3 विविधता में एकता

16.6.4 धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद का समर्थन

16.6.5 संकीर्ण राष्ट्रवाद का विरोध

16.6.6 साम्राज्यवाद का विरोध

16.6.7 समन्वयवादी दृष्टिकोण

16.6.8 लोक शक्ति तथा आत्मशक्ति पर आधारित

16.7 विश्व समुदाय को पं. नेहरू का योगदान

16.8 पं. नेहरू का योगदान

16.8.1 भारतीय इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या

16.8.2 लोकतंत्र में अटूट आस्था

16.8.3 लोकतांत्रिक समाजवाद का प्रतिपादन

16.8.4 नेहरू का मानवतावाद

16.8.5 अन्तरराष्ट्रवाद

16.8.6 आधुनिक भारत के निर्माता

16.8.7 गुटनिरपेक्ष

16.8.8 धर्म निरपेक्षता

16.9 सारांश

16.10 अभ्यास प्रश्नावली

16.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य पं. जवाहरलाल नेहरू के प्रमुख विचारों को जानते हुए उनका भारत का नवनिर्माण में दिये गये योगदान को स्पष्ट करना है। उन्होंने जो नीति एवं विचारधारा स्थापित की वे हमारी व्यवस्था तथा समाज के साथ आज भी अटूट रूप से जुड़ी हैं, जिन्हें किसी भी प्रकार पृथक् नहीं किया जा सकता। इसके अध्ययन के बाद आप–

- पं. नेहरू के साम्प्रदायिकता संबंधी विचारों को जान सकेंगे, जिसमें उन्होंने इसे भारत की एकता व अखण्डता के लिए सबसे बड़ी चुनौती के रूप में प्रस्तुत करते हुए इसके निवारण हेतु भी उपाय बताये जो काफी कारगर सिद्ध हुए हैं तथा भविष्य में भी हो सकते हैं,
- लोकतांत्रिक समाजवाद से संबंधी विचार, जो इस बात पर बल देते हैं कि लोकतंत्र की सफलता के लिए आर्थिक समानता, स्वतन्त्रता तथा न्याय का होना आवश्यक है। उसे जानकर यदि अपनाया जाए तो हम हमारी अनेक आर्थिक समस्याओं से मुक्त हो सकते हैं,
- राष्ट्रवाद संबंधी विचारों को जानकर हम राष्ट्रीय एकता व पारस्परिक सौहार्द की भावना को बढ़ाने में समर्थ हो सकते हैं,
- अन्तरराष्ट्रवाद एवं विश्वशांति के क्षेत्र में उनके द्वारा प्रस्तुत विचार भी जान सकेंगे, जो पंचशील शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व अन्तरराष्ट्रीय कानूनों के प्रति सम्मान की भावना पर आधारित है।

16.2 प्रस्तावना

पंडित नेहरू केवल भारत के राजनेता ही नहीं थे, अपितु उनकी गणना प्रमुख राजनीतिक विचारकों के रूप में होती है। उनके विचारों का प्रभाव केवल भारतीय समाज तक ही सीमित न रहा, अपितु अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर उनका प्रभाव देखा जा सकता है। नेहरूजी ने भारत के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान कांग्रेस को सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया और राजनीति के सबंध में अनेक विचार प्रतिपादित किए। वे लोकतंत्र के प्रबल समर्थक थे।

भारतीय संविधान के निर्माण और आजादी के पश्चात् भारत की विभिन्न नीतियां जैसे–आर्थिक नीति, विदेश नीति, सामाजिक आधार आदि पर नेहरू जी के विचारों का दिखाई देता है। इसलिए पंडित नेहरू को भारत के निर्माता के रूप में स्वीकार किया जाता है।

विश्वशांति, अन्तरराष्ट्रीय सहयोग, शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व, पंचशील सिद्धान्त आदि के लिए विश्व हमेशा ही नेहरू जी का ऋणी रहेगा। उन्होंने विश्व व्यवस्था को एक गति प्रदान की। संयुक्त राष्ट्र संघ को मजबूती दिलाने में सहयोग दिया, उन्होंनें अनेक अन्तरराष्ट्रीय रंगमंचों पर भारतीय दर्शन और संस्कृति के अनुरूप शांति व अहिंसा की प्ररेणा दी और अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं का समाधान शांतिपूर्ण तरीके से करने को प्रेरित किया।

पंडित नेहरू धर्म निरपेक्ष एवं साम्प्रदायिक सौहार्द के समर्थक थे। उन्होंनें भारत के सभी धर्मों में आपसी सौहार्द व भाइचारे को बढ़ावा देने का प्रयास किया। आजादी के बाद जिस प्रकार भारत साम्प्रदायिक हिंसा की चपेट में आया था। इससे वे बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने राष्ट्रीय एकता और एकीकरण की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने का आह्वान किया।

16.3 जीवन परिचय

पंडित नेहरू का जन्म 14 नवम्बर 1889 को इलाहाबाद में हुआ था। इनके पिता का नाम मोतीलाल नेहरू तथा माता का नाम स्वरूपरानी था। आपका संबंध कश्मीरी ब्राह्मण परिवार से था। लेकिन वे इलाहाबाद आ जाते है। उनका बचपन आनंद भवन में विलासिता पूर्ण एवं कुलीन तरीके से व्यतीत होता हैं पिता के पेशे से वकील

होने और भारत की राजनीति में सक्रिय भागीदारी के कारण उनके परिवार की प्रतिष्ठा सम्पूर्ण भारतवर्ष में थी। इन्हें प्राम्भिक शिक्षा एक योरोपीय शिक्षक के द्वारा घर पर ही दी गयी। इसके पश्चात् 15 वर्ष की आयु में शिक्षा ग्रहण करने ब्रिटेन चले जाते है। वहां उन्हें इटली के महापुरूष गैरीबाल्डी के पास पढ़ने का मौका मिलता है। इसके अलावा उन्हें स्वतन्त्रता, समाजवाद, फ्रांस की राज्य क्रांति एवं अनेक राजनीतिक चिन्तकों के विचारों को जानने का एक सुअवसर प्राप्त होता है। इसका प्रभाव यह पड़ता है कि भारत लौटने पर और संविधान निर्माण मे उनके विचारों को सम्मानजनक दर्जा दिया जाता है।

1907 में वे विधि की शिक्षा प्राप्त करने के लिए पुनः ब्रिटेन जाते है। सन् 1912 में बैरिस्टरी की उपाधि लेकर भारत लौटते है। इनका विवाह 26 वर्ष की आयु में कमला कौर के साथ होता है।

पंडित नेहरू को राजनीति विरासत में मिली हुई थी, क्योंकि उनके पिता कांग्रेस की गतिविधियों में बढ़–चढ़कर हिस्सा ले रहे थे। उनका राजनीति में विधिवत् प्रवेश 1912 में कांग्रेस के बाकीमपुर अधिवेशन में होता है। धीरे–धीरे मदनमोहन मालवीय द्वारा संचालित किसान आंदोलन में हिस्सा लेते है। इसके पश्चात् पंडित जी कांग्रेस की राजनीति में इस प्रकार छा जाते है कि मानो कांग्रेस की आधार शिला है। राष्ट्रीय आन्दोलन को दिशा प्रदान करने में, भारतीय आजादी की लड़ाई के लिए विश्व जनमत तैयार करने के लिए अनेक देशों की यात्राएं की। 1929 के लाहौर अधिवेशन में पहली बार अध्यक्ष बने।

आजादी के पश्चात् बनने वाली प्रथम सरकार में उन्हें भारत का प्रधानमंत्री बनने का सौभाग्य होता है। इस पद पर वे अपने जीवन के अंतिम समय तक रहते है। इस दौरान उन्होनें भारत को सभी क्षेत्रों में सशक्त बनाने और भारत में व्याप्त समस्याओं का समाधान करने की हर सम्भव कोशिश करते हैं, लेकिन 27 मई 1964 को नेहरू जी का स्वर्गवास हो जाता है।

16.4 पंडित जवाहरलाल नेहरू के साम्प्रदायिकता सम्बन्धी विचार

नेहरू जी ने भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति को ध्यान में रखकर विचारों का प्रतिपादन किया था इसी कड़ी में उन्होंने सबसे पहले धर्म और राजनीति के संबंध को निर्धारित करने का एक प्रयास किया। उन्होंनें संकीर्ण धार्मिकता का विरोध करते हुए साम्प्रदायिकता को राष्ट्रीय एकता, अखंडता के लिए घातक, हिंसा व अलगाांव को बढ़ाने वाली कहा। इसलिए उन्होंने धर्म की नैतिक मान्यताओं को स्वीकार करते हुए एक धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना पर बल दिया।

अंग्रेजों की फुट डालों और राज करों की नीति के कारण भारत के दो प्रमुख धर्मों हिन्दू और मुस्लिम के बीच मतभेद उत्पन्न हो गए थे इसके अलावा मुस्लिम लीग की गतिविधियों ने साम्प्रदायिकता की आग को बढ़ाने मे घी का काम किया। साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली एवं साम्प्रदायिकता के आधार पर आरक्षण से दो समुदायों के बीच व्यापक दूरियां बढ़ गई थी। पंडित नेहरू इस स्थिति से बहुत अधिक विचलित हुए और दोनो धर्मों के बीच साम्प्रदायिकता सौहार्द बढ़ाने पर बल दिया।

16.4.1 साम्प्रदायिकता का अर्थ एवं प्रकृति

धार्मिक कट्टरता एवं धर्म के नाम पर स्वार्थ सिद्धी का प्रयास करना साम्प्रदायिकता है। यह घृणा, हिंसा, वैमनस्य और संकीर्णता को बढ़ावा देती है। साम्प्रदायिकता एवं प्रतिक्रियावादी एवं समाज विरोधी भावना है। यह उन्हीं प्रकार के तत्वों को अपनी ओर आकर्षित करती है, जो धर्म की आड़ में राष्ट्रवाद की भावना और सामाजिक प्रगति के मार्ग में अवरोध पैदा करती है।

प्राचीन काल से ही भारत में अनेक धर्मों का अस्तित्व रहा है और यहां धार्मिक सहिष्णुता की भावना हमेशा विद्यमान रही है। अशोक महान का तो यहा तक कहना था कि पड़ौसी के धर्म का उसी प्रकार सम्मान करो जिस प्रकार आप अपने धर्म का सम्मान करते है। धर्म के नाम पर भारत में कभी युद्ध नहीं हुए। यह तो योरोपीय समाज की देन है। भारत विश्व के चार महत्वपूर्ण धर्म हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिक्ख धर्म की कर्मभूमि रही है। ईसाई और मुसलमान भी यहां सदियों से रहते आए है। सभी के बीच आपसी सहयोग अपने आप में एक मिसाल हैं। लेकिन चंद स्वार्थी तत्वों के कारण हमारी धार्मिक सौहार्द की प्रवृत्ति को काफी धक्का लग रहा है और लगता रहेगा।

साम्प्रदायिकता हमारी राष्ट्रीय एकता व अखंडता के लिए अभिशाप सिद्ध हो रही है, जिसे रोकने के उतरोत्तर प्रयासों के बावजूद यह भावना और अधिक विकराल रूप धारण करती जा रही है। साम्प्रदायिकता रूपी नाग ने हमारे सांस्कृतिक मूल्यों भाई–चारे पारस्परिक सौहार्द को डस लिया है। इसके चलते दोनों सम्प्रदायों की स्थिति समुद्र के उन दो तटों के समान है जो आपस में कभी मिल हीं नहीं सकते है।

साम्प्रदायिकता के आधार पर भारत के विभाजन ने धर्म के नाम पर हजारों बेगुनाह लोगों का खून बहाया। वो नजारा मानव की बर्बरता को सिद्ध करने वाला था। पण्डित नेहरू ने भारतीय संविधान और सरकार के द्वारा बनाये जाने वाली नीतियों में साम्प्रदायिक सौहार्द बनाये रखने की कोशिश की, ताकि स्वतंत्र भारत में साम्प्रदायिकता के जहर को नष्ट किया जा सके।

लेकिन दुर्भाग्य हमारा है और हमारे समाज का जो साम्प्रदायिकता की आग की लपटें आज तक जल रहा है, इसे रोकना होगा और सामाजिक सौहार्द को प्रोत्साहित कर पण्डित नेहरू के सपनों को साकार करना होगा अन्यथा हमारा समाज नरकमय बनकर मृत्यु के अंतिम पड़ाव पर पहुंच जाएगा।

16.4.2 साम्प्रदायिकता निवारण के उपायः–

हिन्दू+मुस्लिम+सिक्ख+ईसाई+जैन राष्ट्रीय एकता, खण्डता एवं संप्रभुता सुरक्षित

❖ आपसी भाईचारे की भावना को प्रोत्साहन।
❖ समस्त धार्मिक असमानताओं का अन्त।
❖ प्रगति के लिए सहायक साधनों के रूप में।
❖ प्राचीन भारतीय संस्कृति की पहचान को बनाये रखने में मददगार।

साम्प्रदायिकता की विकराल समस्या से समाज को मुक्ति दिलाने के लिए नेहरू ने अथक प्रयास किए ताकि दोनो समुदायों के बीच सौहार्द का नवीन युग संचालित हो सके। इसके लिए उन्होनें निम्नलिखित सुझाव दिए–

16.4.2.1 संविधान सभाः– साम्प्रदायिक समस्या का निवारण व्यापक मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान सभा द्वारा होना चाहिए। भारत के लोग ही एक मात्र अपने भाग्य के निर्णायक हैं।

16.4.2.2 साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली का अंतः– अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता को बढ़ाने के लिए 1909 के अधिनियम में साम्प्रदायिकता निर्वाचन प्रणाली मुसलमानों के लिए शुरू की थी। जिनका कांग्रेस हमेशा से ही विरोध कर रही थी। पंडित नेहरू इसके पूर्ण उन्मूलन के पक्षधर थे और संविधान में इस प्रकार के प्रावधान नहीं होने का पक्ष लिया।

16.4.2.3 अल्संख्यकों में भय की भावना दूर करनाः– नेहरू जी का मानना था कि साम्प्रदायिकता का निवारण शक्ति के बल पर नहीं हो सकता। इसके लिए मुसलमानों में जो भय की भावना व्यापत है उसे दूर करना होगा। उन्हें आत्मनिर्भर बनाना होगा तथा उन तत्वों को कुचलना होगा, जो इस भावना को बढ़ा रहे है।

16.4.2.4 गरीबी उन्मूलनः– नेहरू जी के अनुसार साम्प्रदायिकता का मूल कारण गरीबी है। बेरोजगारी, भूखमरी, शोषण, आर्थिक विषमता आदि इसके लिए उत्तरदायी है। भारत के अल्पसंख्यक इन पीड़ाओं से ग्रस्त है। अतः उन्हें समाज की समान धारा में शामिल करने के लिए इस दिशा में ठोस कदम उठायें।

16.4.2.5 समानता पर बलः– यदि साम्प्रदायिकता का स्थायी समाधान करना है तो धर्म सहित अन्य किसी आधार पर नागरिकों के साथ भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए और सभी को विकास के समान अवसर उपलब्ध कराये जायें। इसी को दृष्टिगत रखते हुए संविधान के अनु. 14–18 के बीच समानता का मूल अधिकार शामिल किया गया।

16.4.2.6 धार्मिक संगठनों के विरूद्ध कठोर कार्यवाहीः– साम्प्रदायिक बढ़ने का प्रमुख कारण यह है कि कथित तौर पर अपने आपको धर्म का संरक्षक कहने वाले संगठन इसी आड़ में सामप्रदायिकता को बढ़ावा देते है और लोगों की संकुचित मानसिकता को प्रोत्साहन देते है। अतः इस प्रकार के संगठनों के विरूद्ध कठोर कदम उठाना चाहिए।

16.5 पंडित जवाहरलाल नेहरू के लोकतांत्रिक समाजवाद के सम्बन्धित विचार

मनुष्य अपने जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए अनेक प्रकार के नियम और मान्यताएँ बनाता आया है, जिनका उसके साथ अटूट सम्बन्ध होता है ठीक उसी प्रकार राजनीति शास्त्र में राजव्यवस्था के संचालन हेतु अनेक विचारधाराएं प्रतिपादित की गई है, जिनका प्रमुख उद्देश्य राज्य के उद्देश्य को साकार रूप प्रदान करना है। इन विचाराधाराओं का अपना एक विशेष महत्व होता है। राजनीति शास्त्र का इतिहास बताता है कि कोई भी विचारधारा एक लम्बे अरसे तक अपना "वजूद" कायम नहीं रख पाई है। नेहरू ने भारत की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक असमानता, शोषण अन्याय आदि उपहार स्वरूप मिले। ये समस्याएं नव स्वतंत्र भारत के लिए घातककारी थी। जन इच्छाओं और आंकाक्षाओं को ध्यान में रखकर लोकतंत्र की स्थापना की गई। लेकिन लोकतंत्र की सफलता के लिए प्रथम इन आर्थिक समस्याओं से मुक्ति पाना था। अतः नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों एवं स्वतंत्रता के साथ–साथ आर्थिक स्वतंत्रता एवं समानता को सुनिश्चित करना था।

16.5.1 लोकतांत्रिक समाजवाद का अर्थ एवं प्रकृति

लोकतांत्रिक समाजवाद दो शब्दों से मिलकर बना है। लोकतंत्र और समाजवाद, लोकतंत्र स्वतंत्रता व समानता पर आधारित होता है। लेकिन देश की अधिकांश जनसंख्या गरीब व पिछड़ी होने के कारण वे अपने राजनीतिक अधिकारों का उचित प्रयोग नहीं कर सकते। परिणामस्वरूप आर्थिक स्वतंत्रता समानता, बन्धुत्व एवं सुरक्षा के अभाव में राजनीतिक अधिकार निरर्थक सिद्ध होते है। समाजवाद, आर्थिक समानता और न्याय पर आधारित होता है।

16.5.2 लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्त

16.5.2.1 लोकतंत्र तथा समाजवाद की पास्परिकताः– पं. जवाहरलाल नेहरू एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जिसमें नागरिकों को राजनीतिक स्वतंत्रता एवं अधिकार मिले, साथ ही समाजवादी के माध्यम से वे आर्थिक समानता तथा न्याय की अवधारणा स्थापित करना चाहते थे। इन दोनों अवधारणाओं को लागू करने के लिए लोकतंत्र तथा समाजवाद के समन्वय पर बल दिया। इस प्रकार लोकतांत्रिक समाजवाद को अपनाने से जनता के राजनीतिक अधिकारों की मान्यता, आर्थिक तथा सामाजिक न्याय, संसाधनों का न्याय पूर्ण वितरण तथा उत्पादन व वितरण की न्याय संगत प्रणाली को सुनिश्चित किये जाने पर एकता बल दिया।

16.5.2.2 समस्याओं का समाधानः– भारत को आजादी के साथ अनेक समस्याएँ मिली थी। जिनका समाधान करना करना राष्ट्रीय विकास के लिए बहुत जरूरी था। गरीबी, बेरोजगारी, पिछड़ापन, विषमता, दोषपूर्ण सामाजिक ढांचा इत्यादि मुँह लगाए खड़ी थी। इन सबको ध्यान में रखते हुए पं. नेहरू के समाधान करके राष्ट्र का समग्र विकास सुनिश्चित किया जा सकता है।

- लोकतंत्र की सफलता सुनिश्चित हो सकती है।
- समतावादी समाज की स्थापना सम्भव है।
- विकास के समान अवसर सुलभ हो सकते है।
- बुनियादी समस्याओं का समाधान सम्भव हो सकता है।
- आर्थिक क्षेत्र के विकेन्द्रीकरण को प्रोत्साहन।
- भारत को विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक बनने का गौरव दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका लोकतांत्रिक समाजवाद की ही रही है।

16.5.2.3 समाजवाद के गतिशील स्वरूप का समर्थनः– नेहरू ने अपने इन्दौर भाषण में कहा था कि–"मै समाजवाद को एक उन्नतशील, गतिशील अवधारणा के रूप में देखता हूं, मैं इसे कठोर अवधारणा के रूप में नहीं देखता। मैं इसे एक ऐसी अवधारणा के रूप में देखता हूं जिसे प्रत्येक देश में मानव जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिए। मेरा विश्वास है कि समाजवाद की अनेक किस्में हो सकती हैं। मैं नही समझता हूं कि मुझे समाजवाद को संक्षिप्त, कठोर शब्दों में परिभाषित करने के लिए क्यों कहा जाना चाहिए? मैं चाहता हूं कि भारत में भी सभी व्यक्तियों को अपनी क्षमताओं के अनुसार कार्य के समान अवसर मिलने चाहिए– लोकतांत्रिक ढंग से समाजवाद को लाने में समय तो लगेगा ही।"

16.5.2.4 संवैधानिक साधनः– पं. नेहरू का लोकतांत्रिक साधनों में अटूट विश्वास था। इसीलिए उनका मानना था कि लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना साम्यवादियों की भांति हिंसा या क्रांति के द्वारा न होकर शांति पूर्ण तरीकों से होगी। उनका मत था कि केवल संवैधानिक साधन ही वे स्त्रोत है जिनको अपनाकर जिस व्यवस्था को अपनाया जाता है। वह व्यवस्था सर्वमान्य व सर्वप्रिय भी होती है और उसके परिणाम भी सार्थक भी प्राप्त होते हैं।

16.5.2.5 समतावादी समाजः– समतावादी समाज वह होता है जिसमें समाज के तमाम लोगों को बिना किसी भेद–भाव के समान अवसर प्रदान किये जाते हैं और इसमें समाज में व्याप्त गरीब–अमीर की बीच की खाई को पाटने का काम किया जाता है। इनकी आवश्यकता भारत को थी। इसी को मद्देनजर रखते हुए पं. नेहरू ने लोकतांत्रिक समाजवाद की अवधारणा को अपनाया।

16.5.2.6 लोक कल्याणकारी राज्यः– लोकतांत्रिक समाजवाद लोक कल्याणकारी राज्य के औचित्य को स्वीकार करता है। जिसमें मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पन्न होने वाली तमाम जन उपयोगी क्रियाओं का संचालन तत्परता के साथ किया जाता है। इस स्वरूप पर आधारित राज्य में मनुष्य से संबंधित सभी पहलू होते है। जो लोकतांत्रिक समाजवाद के मूल उद्देश्य आर्थिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा समानता को प्राप्त करने में सहायक होता है।

16.5.2.7 आर्थिक विकास में जनता की भागीदारी पर बलः– पं. नेहरू का मानना था कि कोई भी राज्य अपनी आर्थिक उन्नति जनता की सहभागिता के बिना नहीं कर सकता। अतः जनता की स्वतन्त्र तथा सार्थक भूमिका सुनिश्चित की जाए। आर्थिक योजनाओं का मूलभूत उद्देश्य किसी वर्ग विशेष के हितों को प्रोत्साहन देना नहीं अपितु सारी जनता के कल्याण व जीवन स्तर में उन्नति को सुनिश्चित करना हो।

16.5.2.8 लोकतांत्रिक मूल्यों में दृढ़ विश्वासः– नेहरू का लोकतंत्र के मूल्य या मूल आधार "स्वतन्त्रता, समानता एवं विश्व बन्धुतव" में दृढ़ आस्था थी। इसीलिए उनका मत था कि बहुत का समर्थन प्राप्त करके ही समाजवाद लाया जा सकता है। नेहरू समाज का अर्थ किसी को हानि पहूँचाना या किसी चीज को नष्ट करना नहीं। नेहरू ने अपने सभी कार्यों एवं विचारधारा को लागू करने के लिए लोकतांत्रिक ढंग से कानून द्वारा शांतिमय साधनों से सम्पन्न करने की कोशिश की।

16.5.2.9 मिश्रित अर्थव्यवस्थाः– पं. नेहरू लोकतांत्रिक समाजवाद में अर्थव्यवस्था का स्वरूप मिश्रित अपनाया गया। जिसमें एक ऐसा आर्थिक ढांचा कायम किया जाता है जो पूंजीवाद तथा समाजवाद दोनों के गुणों पर आधारित होता है। उनका मत था कि भारत की तत्कालीन परिस्थितियाँ हमें ऐसा करने को प्रेरित करती है क्योंकि केवल पूंजीवाद या समाजवाद को अपनाकर भारत का विकास नहीं कर सकता।

16.6 नेहरू के राष्ट्रवाद संबंधी विचार

पं. नेहरू पर ये आरोप नगाए जाते रहे है कि उन्होनें राष्ट्रवाद के स्थान पर अन्तरराष्ट्रीयवाद को ज्यादा तरजीह दी जिससे राष्ट्रवाद की भावना पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं था। उन्होनें राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्रवाद के लिए सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। नेहरू के शब्दों में –"मै एक राष्ट्रवादी हूँ और मुझे राष्ट्रवादी होने पर गर्व है।" उनके राष्ट्रवाद संबंधी विचार निम्नलिखित हैंः–

16.6.1 सीमित उदार व सन्तुलित राष्ट्रवाद का समर्थन

उदारवाद में विश्वास उनके जीवन का मूलमंत्र तथा वे उदार राष्ट्रवादी थे। उसमें अपने राष्ट्रवाद के प्रति भावुक होते हुए भी वह दूसरे राष्ट्रों के प्रति घृणा नहीं करते, वहां आधिपत्य स्थापित करने और उनका शोषण करने की बात तक नहीं सोच सकते। उग्रराष्ट्र के आलोचक थे तथा उसे देश कर चिन्तित भी थे। वे लिखते है कि–"राष्ट्रवाद अपनी जगह अच्छा है, लेकिन यह एक अविश्वसनीय मित्र और संदिग्ध इतिहास है। यह कई घटनाओं के प्रति हमारी आंखें मूंद देता है और कभी–कभी सत्य को विद्वप कर देता है। विशेषकर जब उसका संबंध हमारे देश से हो।" नेहरू का राष्ट्रवाद उन्हें भारत की स्वतन्त्रता और इससे आगे बढ़कर प्रत्येक राष्ट्र की स्वतंत्रता की प्रेरणा देता है।

16.6.2 स्वतन्त्रता का मूल प्रेरणा स्त्रोत

नेहरू का राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद से मुक्ति और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष की प्ररेणा देता है। उन्होंने राष्ट्रवाद को ऐसे संघर्षों की अनुभूति कहा है जब कभी आपत्ति आती है, तब राष्ट्रवाद जन्म लेता है और राष्ट्रीय मंच पर छा जाता है। अपनी पुस्तक "डिस्कवरी ऑफ इण्डिया" में वे लिखते है कि –"किसी भी पराधीन देश के

लिए राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्रथम तथा प्रधान आकांक्षा होनी चाहिए। भारत के लिए जिसको पाना अतीत की एक धरोहर है उसके लिए यह बात और भी सही थी।

16.6.3 विविधता में एकता

भारतीय समाज विविधतावाला रहा है, यहां अनेक जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र एवं संस्कृति के लोग रहते हैं। ये सब हमारी उदार छवि एवं वसुदैवकुटुम्बकम की भावना के कारण सम्भव हुआ। पं. नेहरू भारत की विविधता में ही एकता के दर्शन करते थे। यह विविधता राष्ट्र की प्रगति और आधारभूत एकता में तब तक कोई बाधा नहीं बन सकती जब तक कि हम भावनात्मक दृष्टि से राष्ट्र को समर्पित हैं।

16.6.4 धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद का समर्थन

पं. नेहरू के राष्ट्रवाद का आधार धर्म निरपेक्षता थी। उनका मत था कि किसी धर्म विशेष को राज्य द्वारा विशेष संरक्षण प्रदान किया जाएगा और न ही धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव किया जाएगा अपितु सभी को विकास के समान अवसर उपलब्ध करवाये जाऐंगे। धर्म पर आधारित राष्ट्र से भारत का विकास नहीं हो सकता है।

16.6.5 संकीर्ण राष्ट्रीयता का विरोध

पं. नेहरू ने संकीर्ण राष्ट्रीयता को राष्ट्र एवं अन्तरराष्ट्रीय दोनों ही स्तरों के लिए घातक मानते है। उनकी दृष्टि में संकीर्ण राष्ट्रवाद की भावना कुछ समय के लिए जोश भरकर तत्कालीन राष्ट्रीय हितों को पूरा किया जा सकता है, लेकिन उसके दूरगामी परिणाम राष्ट्रवाद मानवता के लिए घातककारी सिद्ध होते है। वे कहते है कि कुछ शासकों के द्वारा इस भावना को भड़काकर अपनी जनता को तो एकमंच पर लेकर आ गये लेकिन उन्होंने विश्व को युद्धों की विभिषिका में झोंक दिया। उनका तर्क था कि कोई भी राष्ट्र की जनता की नस्ल अपने आप में उच्च नहीं होती है। ऐसा नारा देकर जनता की भावना के साथ खिलवाड़ किया जाता है।

16.6.6 साम्राज्यवाद का विरोध

नेहरू साम्राज्यवाद पर आधारित राश्ट्रीयता की भर्त्सना करते हैं वे इसका विरोध करते है कि साम्राज्यवादी किसी राश्ट्र या राश्ट्रों का आर्थिक भोशण करें अथवा अपने राजनीतिक स्वार्थो की पूर्ति के लिए दूसरे राश्ट्रों की एकता को खण्डित कर जातियों में विघटन पैदा करें। नेहरू की भावना मानव मात्र की स्वतन्त्रता व कल्याण निहित है। वहां उनमें अन्याय, उत्पीड़न व अभाव का निराकरण भी निहित है।

16.6.7 समन्वयवादी दृष्टिकोण

नेहरू का राष्ट्रवाद अतीत वर्तमान व भविष्य के समन्वय पर आधारित है यह उसके अतीत का गौरव भविष्य की सम्भावनाओं तथा वर्तमान के सामर्थ्य के तालमेल पर आधारित है। यह भारत के अतीत की इच्छाओं का वर्तमान में अनुसरण करना चाहता है और उन्हें भविष्य की प्रेरणा बनाना चाहता है।

16.6.8 लोकशक्ति तथा आत्मशक्ति पर आधारित

उन्होंने नये इतिहास की रचना के लिए लोगों का आह्मान किया। उनका आग्रह था कि आइये हम सब मिल कर बढ़े और काम में हाथ बंटाये भारत को अपना हृदय के सर्वोच्च शिखरों पर प्रतिष्ठित करें उसे राष्ट्रों में महान बनाएं, शांति व प्रगति का अग्रदूत बनाएं।

16.7 विश्व समुदाय को पंडित जवाहरलाल नेहरू का योगदान

पंडित जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रवाद के साथ–साथ अन्तरराष्ट्रीयवाद के पोषक थे और भारतीय समाज सभ्यता के अनुरूप वसुदैव कुटुम्ब में विश्वास करते थे। उनकी आस्था सत्य, अहिंसा, शांतिपूर्ण अस्तित्व जीयो और जीने दो की आदि में उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय राजनीति मं मूल मंत्र प्रदान किए जो भारत की विदेशी नीति के आधार स्तम्भ बने हुए हैं। गुटनिरपेक्ष, पंचशील, विश्वशांति, संयुक्त राष्ट्र संघ मे आस्था अन्तरराष्ट्रीय कानून में विश्वास साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध, रंगभेद उन्मूलन आदि पर बल दिया। उनके द्वारा प्रतिपादित गुटनिरपेक्षता की नीति काफी सार्थक एवं व्यावहारिक साबित हूई। इस नीति से एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका के उन देशों को आधार मिला जो लम्बी गुलामी के बाद स्वतंत्र हुए थे। इन्हें विश्व समुदाय के समक्ष अपनी पहचान रखने का मौका मिला। इसके अलावा गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने दोनो महाशक्तियों के बीच सन्तुलन बनाए रखा और विश्व को तृतीय विश्वयुद्ध की विभीषिका से बचाया। यह आंदोलन आज भी पूर्णगति के साथ चल रहा है और 118 राष्ट्र इसके सदस्य है।

पंचशील की नीति के लिए भी विश्व समुदाय पंडित नेहरू का हमेशा ऋणी रहेगा। इसका सही प्रतिपादन 1954 में पंडित नेहरू ने चीन के प्रधानमंत्री चाऊ ईन लाईन के साथ समझौता करके किया। जो अनाक्रमण, एक दूसरे की सम्प्रभुता का सम्मान करना, आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना और शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व में विश्वास करना है। इसको विश्व के अनेक संगठनों ने अपनाया है। नेहरू का यह मानना था कि विश्व की समस्याओं का स्थायी समाधान ढूंढने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तरराष्ट्रीय संस्था को सुदृढ़ किया जाना चाहिए और अन्तरराष्ट्रीय कानूनों में विश्वास करना चाहिए। उनका यह दृष्टिकोण भी शांति की दिशा में सार्थक साबित हुआ और संयुक्त राष्ट्र संघ, 62 वर्षो से कार्यरत है। इस प्रकार पंडित नेहरू ने वसुधैव कुटुम्ब की नीति का अनुसरण किया, जिसकी आज भी विश्व में आवश्यकता है।

16.8 पं. नेहरू का योगदान

नेहरू एक महान् राजनेता तथा भारतीय जनता के हृदय–सम्राट थे। स्वतन्त्रता संग्राम में नेहरू की महत्वपूर्ण भूमिका थी। इसके बाद उन्होनें 18 वर्ष तक देश का नेतृत्व कर, राष्ट्रीय विकास को नवीन दिशा प्रदान तो की ही साथ में विश्व समुदाय को शांति का इकाई पढ़ाया। नेहरू के विचारों को ही आधार मानकर आज हमारी सम्पूर्ण व्यवस्थाओं का संचालन ही रहा। उनके योगदान को निम्न शीर्षकों द्वारा प्रस्तुत कर सकते है–

16.8.1 भारतीय इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्याः–

पं. नेहरू ने अपनी रचनाओं "भारत की खोज", "विश्व इतिहास की झलक" तथा "आत्म कथा" में भारतीय इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। उन्होंने भारत में घटने वाली घटनाओं को विश्व की परिस्थितियों के सन्दर्भ में भी देखने का प्रयास किया। इस दृष्टि से उन्होंने भारतीयों को अलग रहने और अपने आपको संकीर्ण क्षेत्र में सीमित रखने की प्रवृत्ति की आलोचना की।

अन्तरराष्ट्रीयता के पोषक के रूप में पं. नेहरू

- ये सभी तत्व भारतीय नीति के मूल आधार हैं।
- इन विचारों को अपनाने से विश्व में स्थायी शांति की स्थापना की जा सकती हैं।
- ये कारक हमें इस बात के लिए प्रेरित करते हैं कि अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं पंचनिर्णय और शांतिपूर्ण साधनों से ही किया जा सकता हैं।
- साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के नाम पर जो सदियों तक शोषण एवं अन्याय हो रहा था उस पर अंकुश लग सका हैं।
- विश्व के उन देशों को अन्तरराष्ट्रीय रंगमंचों पर पहचान कायम करने का अवसर मिला जो लम्बी गुलामी के बाद द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् स्वतंत्र हुए थे।
- ये विचार भारत के राष्ट्रीय हितों में अभिवृद्धि करने में सहायक सिद्ध हुए हैं।
- पं. नेहरू की गुटनिरपेक्षता की नीति शीतयुद्ध की बर्फ को पिघलाने में कारगर सिद्ध हुई।
- ये विचार राष्ट्रों में पारस्परिक विश्वास बहाली को बढ़ाते हैं तथा एक–दूसरे की सम्प्रभुता का सम्मान करना सिखाते हैं।

16.8.2 लोकतंत्र में अटूट आस्था

नेहरू की लोकतंत्र में अटूट आस्था थी। स्वयं को भारतीय जनता के ह्यदय सम्राट प्राप्त होने पर भी उन्होंने अपन आपको लोकतांत्रिक मान–मर्यादाओं के उल्लंघन से सदैव बचाए रखा। उनके समस्त व्यवहार में गहरी शालीनता और गरिमा थी। उन्होंने भारत में राजनीतिक स्थायित्व प्रदान किया और भारत में संसदीय लोकतंत्र की नींव मजबूत करने का कार्य किया।

16.8.3 लोकतांत्रिक समाजवाद का प्रतिपादन

पं. नेहरू की दृष्टि में केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता से भारत की उन्नति नहीं हो सकती। अतः इसके साथ आर्थिक समानता को प्रोत्साहन देने के लिए उन्होंने लोकतांत्रिक समाजवाद का प्रतिदान किया। यद्यपि ये विचार नेहरू का मौलिक अधिकार नहीं था परन्तु इसे लोकप्रिय बनाने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। उन्होंने कांग्रेस को इस बात के लिए प्रेरित किया कि समाजवादी ढंग के समाज के आधार पर जनता के आर्थिक तथा सामाजिक

कल्याण के लिए साहस पूर्वक प्रयत्न करे। इस तरह भारत की राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों ही नीति पर इस प्रभाव पड़ा।

16.8.4 नेहरू का मानवतावाद

नेहरू का मानव स्वभाव की रचनात्मक सम्भावनाओं में विश्वास था और वे वैज्ञानिक मानवतावाद के आदर्श को स्वीकार करते थे। अपनी पुस्तक "भारत की खोज" में लिखा है कि टैगोर भारत के महानतम् मानवतावादी थे। टैगोर का मानवतावाद इस दार्शनिक विश्वास पर आधारित था कि परमात्मा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हैं। नेहरू का मानवतावाद का आधार इससे भिन्न हे। नेहरू और संवेदना युक्त प्रतिक्रिया होती थी, वही उनके मानवतावाद का आधार था।

16.8.5 अन्तरराष्ट्रवाद

नेहरू की अन्तरराष्ट्रवाद में दृढ़ आस्था थी। इसीलिए उनहोंने संकीर्ण राष्ट्रवाद का विरोध किया। उनका मत था कि युद्ध या संघर्ष से मानवता का भला नहीं हो सकता। इसके लिए हमें एक ऐसी भावना को फैलाना होगा कि विश्व को एक परिवार के रूप में माने। उन्होंने शीतयुद्ध के स्थान पर शांति पूर्ण सहअस्तित्व का विचार प्रस्तुत किया। संयुक्त राष्ट्र संघ को सशक्त बनाने, निशस्त्रीकरण को प्रोत्साहन देने, विश्व समस्याओं का समाधान पंचशील द्वारा करने तथा महाशक्तियों के बीच सन्तुलन बनने पर बल दिया। इसके लिए उन्होंने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की अवधारणा स्थापित की जिससे विश्व शांति को प्रोत्साहन तो मिला ही साथ में नव स्वतन्त्र देशों को भी अपनी पहचान कायम करने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

16.8.6 आधुनिक भारत के निर्माता

जवाहरलाल नेहरू को आधुनिक भारत का निर्माता माना जाता है। स्वतन्त्रता के साथ ही भारत को अनेक चुनौतियाँ मिली थी। अतः नेहरू ने इसके समाधान हेतु ठोस कदम उठाए। इनको मुख्य उद्देश्य भारत को हर क्षेत्र में समृद्ध बनाना था। इसके लिए उनके द्वारा पंचवर्षीय योजना शुरू की गई, औद्योगिकरण को प्रोत्साहन देने के लिए बड़े–बड़े कारखानों की स्थापना की गई, कृषि क्षेत्र में उत्पादन बढ़ाने हेतु हरित क्रांति, दुध उत्पादन में वृद्धि हेतु श्वेत क्राति लायी गई। इसके अलावा उनके विदेशी नीति के कार्यान्वयन का भी आधार भारत का समग्र विकास था ताकि विश्व क अधिक से अधिक देश भारत के नव निर्माण में अपनी भूमिका अदा कर सके।

16.8.7 गुट निरपेक्षता

नहेरू द्वारा अन्तरराष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में गुटनिरपेक्षता की नीति का अनुसरण किया। इसका अनुसरण उन परिस्थितियों में किया गया था जब सम्पूर्ण विश्व शीतयुद्ध की चपेट मे था, विश्व दो खेमों में स्पष्ट रूप से विभाजित हो गया था। एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका के देशों के समक्ष ये चुनौती थी कि वे किस गुट में शामिल हो अतः इन नव स्वतन्त्र राष्ट्रों के गरिमा को बनाये रखने के लिए नेहरू ने गुटनिरपेक्षता की अवधारणा का प्रतिपादन किया। इस अवधारणा का प्रभाव व्यापक रूप से देखा गया और आज भी ये आन्दोलन सफलता के साथ अपने नवीन सौपान तय कर रहा हैं।

16.8.8 धर्मनिरपेक्षता

नेहरू भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य बनाने के पक्ष में थे। उनका मत था कि भारत में अनेक धर्मों के लोग रहते हैं तो इन स्थितियों में एक धर्म को विशेष स्थान देना अन्य धर्मों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इसीलिए उन्होंने भारतीय संविधान धर्म निरपेक्षता के संबंध में सभी प्रावधान शामिल करवाये ताकि प्रत्येक धर्म के लोग भारत के विकास में अपनी भूमिका अदा कर सकें।

इस प्रकार नेहरू के योगदान का न केवल भारत ऋणी है अपितु विश्व समुदाय भी है। उन्होंने जो विचार प्रस्तुत किये वे निश्चित रूप से व्यापक एवं मानवीय सोच लिए हुए थे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन भारत की स्वतन्त्रता एवं विकास के लिए समर्पित कर दिया। उनके विचार आज भी प्रासंगिक है।

16.9 सारांश

इस प्रकार कहा जा सकता है–

- पं. नेहरू के विचार यथार्थ एवं व्यवहार पर आधारित हैं, जिनका प्रमुख उद्देश्य भारत का नवनिर्माण करना तथा उन्नति की राह पर आगे बढ़ाना है।
- लोकतांत्रिक समाजवाद का विचार प्रतिपादन कर उन्होंने भारत जैस पिछड़े समाज में लोकतंत्र को सफल बना दिया तथा सामाजिक न्याय तथा समतावादी समाज निर्माण्ण में सहायता मिल सकी।
- अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में पं. नेहरू ने ऐसे विचार प्रस्तुत किये जो उस समय आवश्यकता के साथ–साथ आज भी प्रासंगिक है। अन्तरराष्ट्रीय राजनीति ऐसे दौर में पहुंच चुकी थी कि सर्वत्र हिंसा, अशांति, तनाव, टकराव का बोलबाला था। ऐसे में पं. नेहरू विश्वशांति के दूर के रूप में उभरकर सामने आये।

15.10 अभ्यास प्रश्नावली

1. नेहरू के लोकतांत्रिक समाजवाद के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
2. नेहरू के राष्ट्रवाद संबंधी विचार बताओ।
3. नेहरू के साम्प्रदायिकता को किस प्रकार समझने का प्रयास किया।
4. नेहरू के योगदान पर प्रकाश डालिए।
5. नेहरू ने साम्प्रदायिकता के निवारण के कौन से उपाय बताये हैं।
6. विश्व समुदाय को नेहरू का क्या योगदान है।
7. नेहरू के मानवतावाद की विवेचना कीजिए।
8. नेहरू की गुटनिरपेक्षता की नीति का क्या उद्देश्य था?
9. धर्मनिरपेक्षता पर नेहरू के विचार स्पष्ट कीजिए।
10. नेहरू की दो प्रमुख रचनाओं के नाम बताओ।
11. लोकतांत्रिक समाजवाद का अर्थ बताओ।
12. नेहरू नेप्रथम बार कांग्रेस के किस अधिवेशन में भाग लिया।
13. नेहरू प्रथम बार कांग्रेस के किस अधिवेश में अध्यक्ष चुने गये।
14. "मैं एक राष्ट्रवादी हूँ, और मुझे राष्ट्रवादी होने पर गर्व हैं।" ये विचार किसके हैं?
15. पं. नेहरू का राजनीति में विधिवत प्रवेश कब हुआ?
16. पंचशील का सिद्धान्त कब एवं किसने प्रतिपादित किया?

अध्याय-17
डॉ. भीमराव अम्बेडकर

संरचना

17.1 उद्देश्य

17.2 प्रस्तावना

17.3 जीवन परिचय

17.4 डॉ. अम्बेडकर की प्रमुख रचनाएँ एवं कृतियाँ

17.5 संगठन एवं संस्थाओं की स्थापना में योगदान

17.6 अम्बेडकर के सामाजिक विचार

17.6.1 वर्ण व्यवस्था का विरोध

17.6.2 जाति का विरोध

17.6.3 छुआछुत का विरोध

17.6.4 महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण

17.6.5 दलित वर्ग के उत्थान के उपाय

17.7 गांधी और कांग्रेस के प्रति दृष्टिकोण

17.7.1 वर्ण व्यवस्था के संबंध

17.7.2 पृथक् प्रतिनिधित्व

17.7.3 धर्म परिवर्तन

17.7.4 कांग्रेस एवं हिन्दूवादी संगठन

17.8 नवीन समाज व्यवस्था

17.8.1 स्वतन्त्रता

17.8.2 समानता

17.8.3 बन्धुत्व

17.8.4 प्रजातंत्र

17.8.5 त्रयी दर्शन

17.9 डॉ. अम्बेडकर का योगदान

17.9.1 वर्ण एवं जाति व्यवस्था का प्रहार

17.9.2 दलितों के मसीहा

17.9.3 दलितोद्धार के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण

17.9.4 नारी–उत्थान की दिशा में कार्य

17.9.5 भारतीय संविधान के निर्माण में प्रमुख भूमिका

17.9.6 सामाजिक न्याय और सामाजिक लोकतंत्र का प्रतिपादन

17.10 सारांश

17.11 अभ्यास प्रश्नावली

17.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य डॉ. भीमराव अम्बेडकर के उन विचारों को जानना जो भारत के सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने में क्रांतिकारी सिद्ध हुए तथा उनके आधार पर उन्हें दलित मसीहा की पद्धति प्रदान की गई। डॉ. अम्बेडकर ने जिस प्रकार समाज के उस वर्ग के कल्याण एवं हितार्थ आवाज बुलुन्द की, जो सदियों से दमन, शोषण, अन्याय एवं अत्याचार का शिकार होता आया था, जिसके चलते उन्हें समाज में दोयम दर्जा मिल गया था। अतः अम्बेडकर ने जो प्रयास किये, उन्हें यदि आज दृढ़ इच्छा शक्ति के साथ लागू किया मजाए तो सामाजिक न्याय की स्थापना की जा सकती हैं। इसके अध्ययन के बाद आप जान सकेंगेः–

- डॉ. अम्बेडकर का जीवन जो संघर्षो एवं चुनौतियों से भरा है,
- उनके सामाजिक विचार जो जाति–व्यवस्था, छुआछुत तथा वर्ण–व्यवस्था के कड़े विरोध पर आधारित है तथा नारी गरिमा पर बल देते हैं,
- डॉ. अम्बेडकर की नवीन समाज–व्यवस्था जो लोकतांत्रिक मूल्यों एवं त्रयी दर्शन पर आधारित हो,
- संविधान निर्माता के रूप में डॉ. अम्बेडकर के योगदान को भी जान सकेंगे।

17.2 प्रस्तावना

भारतीय राजनीतिक चिन्तन के रूप में डॉ. भीमराव अम्बेडकर का स्थान महात्मा गांधी एवं पं. नेहरू के समकक्ष ही है। अम्बेडकर की पहचान एक ऐसे चिन्तक रूप में होती है जिसने समाज के उस वर्ग की आवाज को बुलन्द किया जो सदियों से ही अत्याचार, शोषण, अन्याय, भेदभाव का शिकार होता आया। दलित वर्ग से संबंधित होने के नाते अम्बेडकर ने इनके सुधार का बीड़ा उठाया। उनका मुख्य लक्ष्य सामाजिक न्याय की अवधारणा को बल देना था। उस समय भारतीय समाज में प्रचलित कुप्रथाओं पर उन्होंने कड़ा प्रहार किया और इन्हें समाज को विखण्डन करने वाली करार दिया। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों को "शिक्षित बनों, संगठित रहा तथा संघर्ष करो।" का आह्वान किया। भारतीय संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में उनकी भूमिका अत्याधिक महत्वपूर्ण रही। इस पद पर रहते हुए उन्हें अपने सपनों को साकार करने का अवसर मिला जिसमें वे सफल भी हुए। उन्हीं के अथक प्रयासों से दलितों को समाज की समान धारा में शामिल होने का मौका मिला। अम्बेडकर के दलित प्रेम के कारण उन्हें भारत का अब्राहम लिंकन और मार्टिन लूथर कहा गया।

17.3 जीवन परिचय

भीमराव अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल, 1891 ई. इन्दौर के पास महूवा छावनी में हुआ। जन्म के समय उनका नाम भीम सकपाल था। महार जाति, जिसमें डॉ.अम्बेडकर का जन्म हुआ, उसे अछूत समझा जाता था। उनके पिता राजमी सकपाल कबीर के अनुयायी थे। इस कारण उन्होंने जातिवाद को काई भी स्थान नहीं दिया। सन् 1907 में डॉ. अम्बेडकर ने हाई स्कूल पास की। इसके बाद उन्होंने बम्बईके एलफिन्स्टन कॉलेज में प्रवेश लिया। बड़ौदा के राजा गायकवाड़ द्वारा प्रदान की गई छात्रवृत्ति से उन्होंने 1912 ई. में कॉलेज शिक्षा पूर्ण 1913 ई. को अमरिका के "कोलम्बिया विश्वविद्यालय" में प्रवेश लिया। 1915 ई. को अर्थशास्त्र में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1917 ई. को कोलम्बिया विश्वविद्यालय ने उन्हें पी.एच.डी. की उपाधि प्रदान की। इसके बाद वे लन्दन स्कूल ऑपफ इकॉनोमिक्स एण्ड पॉलिटिकल साइन्स" में प्रवेश लिया। अप्रैल 1923 ई. में बम्बई में वकालात प्रारम्भ की। दलित वर्ग की समस्याओं पर लोगों को संगठित करने, 20 जुलाई 1924ई. को "बहिष्कृत हितकारिणी सभा" की स्थापना की। उन्होंने सन् 1930 ई. और 1931 ई. में लन्दन में आयोजित प्रथम एवं द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में दलितों के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। सम्मेलन में और उसके बाद भी डॉ. अम्बेडकर ने इस बात पर बल दिया कि "दलितों को विधान परिषदों में हिन्दू समाज से पृथक् प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाना चाहिए।"

ब्रिटिश सरकार ने उनके इस सुझाव को स्वीकार कर मेकडोलाड का साम्प्रदायिक पंचाड (1932) में भारत भेजा गया, जिसका महात्मा गांधी ने कड़ा विरोध किया और इसे अंग्रेजी की फूट डालो और राज करो की नीति का हिस्सा माना। अन्त में अम्बेडकर व गांधी जी के मध्य एक समझौता हुआ, जो पूना–एक्ट के नाम से जाना जाता हैं, जिसमें गांधीजी अम्बेडकर को अपने पृथक् निर्वाचन की मांग वापस लेने के लिए तैयार कर लेते हैं परन्तु कुछ इतिहासकारों का मत है कि सम्भवतया इस समझौते में ही तय हो गया कि स्वतन्त्रता के बाद संविधान के माध्यक से दलितों को आरक्षण दिया जाएगा।

डॉ. अम्बेडकर प्रबल देशभक्त और भारत के राष्ट्रीय एकीकरण के समर्थक थे, लेकिन सार्वजनिक जीवन में महात्मा गांधी और कांग्रेस के साथ हमेशा से मतभेद बने रहे। जिसका एक आधार तो दलितों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व का प्रश्न था। इसके साथ ही डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि"उन व्यक्तियों तथा संस्थाओं को अछूतों की बात कहने का हक नहीं जो अछूत नहीं है।" सन् 1936 ई. में डॉ. अम्बेडकर ने "इण्डिपेण्डेण्ट लेबर पार्टी" की स्थापना की। इस राजनीतिक संस्था ने दलित वर्ग, मजदूर व किसानों की अनेक समस्याओं को लेकर कार्य किये।बम्बई प्रदेश में इस पार्टी ने सन् 1957 ई. का चुनाव लड़ी। इसने अनुसूचित जातियों के लिए सुरक्षित 15 में से 13 तथा 2 सामान्य सीटों पर विजय प्राप्त की। 7 अगस्त 1942 ई. को उन्हें गवर्नर जनरल की परिषद का सदस्य मनोनित किया। इसी दौरान उन्होंने इण्डिपेण्डेण्ट लेबर पार्टी को "अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ" में बदल दिया।

कांग्रेस के साथ मतभेद होने के बावजूद कांग्रेस नेता विशेषतया नेहरू और पटेल भी डॉ. अम्बेडकर की प्रतिभा के कायल थे। अतः कांग्रेस ने सहयोग देकर संविधान सभा का सदस्य निर्वाचित करवाया। संविधान सभा में उन्हें "प्रारूप समिति" का अध्यक्ष बनाकर महत्वपूर्ण दायित्व सौंपा गया। भारतीय संविधान के निर्माण में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रहीं। इसके चलते संविधान पर उनकी व्यक्तिगत सोच का व्यापक प्रभाव पड़ा और संविधान में अछूतों के कल्याण एवं उत्थान हेतु अनेक प्रावधान करवाये।

3 अगस्त, 1949 ई. को डॉ. अम्बेडकर को भारत सरकार का कानून मंत्री बना दिया गया। कानून मंत्री के रूप में उनका सबसे अधिक प्रभाव कार्य "हिन्दू कोड बिल" था। इस कानून का उद्देश्य था, "हिन्दूओं के सामाजिक जीवन में सुधार"। तलाक की व्यवस्था और स्त्रियों के लिए संपत्ति में हिस्सा। इस कानून की कुछ प्रमुख बातें थी। पं. नेहरू के साथ मतभेद के चलते 27 दिसम्बर, 1951 ई. को डॉ. अम्बेडकर ने मंत्रिमण्डल से त्याग पत्र दे दिया। 1955ई. उन्होंने "भारतीय बुद्ध महासभा" की स्थापना की तथा भारत में बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार का बीड़ा उठाया। 6 दिसम्बर, 1969 ई. को उनका देहावसान हो गया।

17.4 डॉ. अम्बेडकर की प्रमुख रचनाएँ एवं कृतित्व

1. "रूपये की समस्या–इसकी उत्पत्ति और समाधान" (1923)
2. जाति का नाश (1936)
3. थॉट्स ऑन पाकिस्तान (1941)
4. कांग्रेस और गांधी ने अछूतों के लिए क्या किया है? (1945)
5. पाकिस्तान या भारत वर्ष का विभाजन (1946)
6. अछूत, वे कौन थे? और अछूत कैसे बनें? (1948)
7. भाषायी राज्यों पर विचार
8. बुद्धा एण्ड हिज धम्मा (1957)
9. हू वर दि शुद्राज? (1946)
10. स्टेट एण्ड माइनॉरिटिज (1948)
11. दि राइज एण्ड फॉल ऑफ दि हिन्दू वूमैन
12. गांधी एण्ड गांधीज्म

17.5 संगठन एवं संस्थानों की स्थापना में योगदान

1. "बहिष्कृत हितकारिणी सभा" 20 जुलाई, 1924
2. "इनडिपेण्डेन्ट लेबर पार्टी ऑफ इण्डिया" अक्टूबर 1936
3. "अनुसूचित जाति फंडरेशन" 1942
4. "भारतीय बुद्ध महासभा" 1955

17.6 अम्बेडकर के सामाजिक विचार

एक बार डॉ. अम्बेडकर ने एक पत्रकार से कहा था, "मेरे दुःख–दर्द और मेहनत को तुम नहीं जानते, जब सुनोगे, रो पड़ोगे।" अपमान के इस दौर से गुजरने के पश्चात् उन्होंने दलितोद्धार का संकल्प धारण किया। उस

समय भारतीय समाज में दलितों (शुद्रों) की स्थिति बहुत दयनीय थी। लम्बे समय से उनके साथ जिस प्रकार का व्यवहार किया जा रहा था। उससे इस समुदाय को इतना पिछड़ा दिया कि वे समाज की सामान्य धारा से कट चुके थे। अतः डॉ. ने इनकी स्थिति में सुधार लाने एवं सामाजिक न्याय की अवधारणा को मजबूत करने के लिए हर सम्भव कोशिश की।

डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक विचार निम्नलिखित है–

17.6.1 वर्ण व्यवस्था का विरोध

वेदों एवं वैदिक काल में भारतीय समाज की व्यवस्था का सफल संचालन करने हेतु वर्ण व्यवस्था को अपनाया गया था। वर्ण व्यवस्था का आधार मनुष्य का कर्म हुआ करता था।इसके अलावा वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य समाज को चार भागों में बांटना नहीं था। लेकिन धीरे–धीरे इस व्यवस्था पर दोष हावी हो गया और समाज को संगठित रूप देने वाली व्यवस्था समाज के लिए अभिशाप बन गयी। अम्बेडकर ने इसका व्यापक विरोध किया और इसे अवैधानिक, अव्यवहारिक, अन्यायपूर्ण माना। उनके अनुसार वर्ण का निर्धारण व्यक्ति की क्षमता के अनुसार होना चाहिए। अम्बेडकर का मत है कि शुद्र वर्ग को जान बुझकर शिक्षा ग्रहण करने एवं शास्त्र ग्रहण करने से वंचित किया गया है ताकि वे अन्याय एवं अत्याचार का विरोध नहीं कर सके। ऐसा समाज के कुछ स्वार्थी तत्वों ने किया है। इसलिए अम्बेडकर ने शुद्र वर्ग को जागरूक एवं संगठित होने की आवश्यकता को स्वीकार किया।

17.6.2 जाति का विरोध

वर्ण व्यवस्था में जब दोष अपनी चरम सीमा पर पहूँच गया तब उसकी परिणिति जाति के रूप में हुई। जाति के कारण हमारा समाज पूर्णतया दूषित हो गया है। डॉ. अम्बेडकर ने जाति प्रथा की जड़ों को काफी पुरानी माना हैं जाति प्रथा का विकास समुदाय के विभिन्न लोगों द्वारा खान–पान, रहन–सहन की आदतों व पद्धतियों में भिन्नता के आधार पर हुआ। धीरे–धीरे विशिष्ट रीति–रिवाजों को कठोर आचार संहिताओं का रूप दे दिया गया। उनका पालन न करने वाले लोगों को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। डॉ. अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था में ऊँच–नीच के लिए ब्राह्मणवाद को उत्तरदायी माना तथा ब्राह्मण भारतीय समाज में जाति प्रथा की मजबूत बनाये रखने पर देते है। डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि में जाति प्रथा ने भारतीय समाज में अनेक विकृतियाँ पैदा कर दी है।

जाति व्यवस्था के घातक प्रभावः– डॉ. अम्बेडकर के अनुसार जाति प्रथा के बढ़ते प्रभाव ने भारतीय समाज को तहस–नहस कर दिया है और समाज का मूल स्वरूप इतना विकृत हो गया है कि समाज परक बन कर रह गया है। समाज के सर्वत्र अन्याय, अत्याचार, शोषण का बोल बाला हो गया हैं व्यक्ति ने मूल आदर्श को छोड़कर अन्धविश्वासों को अपना लिया है जिसके कारण उनकी सोच संकुचित हो गई है। वे जाति व्यवस्था रूप मकड़ी के जाल में इस तरह फंस गये है कि निकलने के प्रयास के नाम पर ओर अधिक जकड़ते जा रहे है। यदि भारतीय समाज का सर्वागीण विकास करना है तो जाति व्यवस्था से ऊपर उठकर एक व्यापक दृष्टिकोण को अपनाना होगा। इसके लिए उन्होंने एक वर्गीय व्यवस्था, अन्तरजातीय विवाह को अपनाना होगा और अन्धविश्वास, कठोर रीतिरिवाजों से अपने आपको मुक्त करना होगा।

17.6.3 छुआछूत का विरोध

अम्बेडकर छुआछूत को अमानवीय, अनुचित एवं अन्याय पूर्ण मानते थे। यह हिन्दू समाज के उत्थान में सबसे बड़ी बाधा है। समाज के अन्य ब्राह्मणवादी तत्वों ने इस व्यवस्था को अपनाकर अपना हित साध रहे है। अस्पृश्यता निवारण को आवश्यक मानते थे। इसके लिए राज्य द्वारा व्यवस्था की जानी चाहिए। अस्पृश्य समझे जाने वाले लोगों को सरकारी नौकरियों में आरक्षण, संसद और विधानमण्डल में सीटों का आरक्षण, शैक्षिक विकास हेतु उन्हें सुविधा उपलब्ध करवायी जाएं ताकि उनका विकास एवं उन्नति हो सके।

17.6.4 स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण

अम्बेडकर ने स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर लगे प्रतिबन्ध का विरोध किया। उनकी मान्यता थी कि स्त्रियों की शिक्षा और सामाजिक क्षेत्रों में पुरूषों के समान अवसर प्रदान किये जाए। हिन्दू समाज में संपत्ति के उत्तराधिकार निःसन्तान होने पर किसी पुत्र या पुत्री की गोद लेने पर पुनः विवाह आदि के सन्दर्भ में स्त्रियों के साथ भेदभाव आदि का अंत किया जाए। इसीलिए डॉ. अम्बेडकर कानून मंत्री के पद पर रहकर इस दिशा में सार्थक कदम उठाए और हिन्दू कोड बिल पास करवाया।

17.6.5 दलितों के उत्थान के उपाय

अम्बेडकर ने दलितों से आग्रह किया, **शिक्षित बनों, संगठित रहों, संघर्ष करों।** अम्बेडकर का मत था कि हिन्दू समाज में दलित वर्गो की हीन स्थिति उच्च समझे जाने वाले वर्गों के स्वार्थी दृष्टिकोण के कारण बनी है। दलितों के उत्थान के लिए निम्न सुझाव दिये–

17.6.5.1 हिन्दू समुदाय की मूल मान्यताओं में क्रांतिकारी परिवर्तनः– इसके लिए हिन्दू धर्म की गतिशील व मानवीय स्वरूप दिया जाना चाहिए।

17.6.5.2 जाति प्रथा के स्वरूप में परिवर्तनः– अम्बेडकर के मतानुसार जाति प्रथा की रीढ़ की हड्डी परिवार है। जाति प्रथा का उन्नमूलन तभी होगा जब अन्तर जातीय विवाह व विभिन्न वर्गो के बीच सहभोज आरम्भ किये जायेंगें।

17.6.5.3 दलितों को संगठित व जागरूक करने की आवश्यकता।

17.6.5.4 दलित वर्गो के लिए संसद व विधान मण्डल में पृथक् प्रतिनिधित्व।

17.6.5.5 अम्बेडकर दलित वर्गो की भागीदारी के लिए नौकरियों में आरक्षण की सिफारिश करते थे।

17.6.5.6 शिक्षा के क्षेत्र में विशेष सुविधाएं दी जाएं।

17.6.5.7 धर्म परिवर्तनः– दलित वर्ग के उत्थान के लिए हिन्दू धर्म छोड़कर बौद्ध धर्म ग्रहण करने की सिफारिश की।

17.6.5.8 औद्योगीकरणः– अम्बेडकर के अनुसार औद्योगीकरण के द्वारा भी दलितों का उत्थान संभव है। औद्योगीकरण से लोगों को रोजगार प्राप्त होंगें।

इस प्रकार डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने अपना सम्पूर्ण जीवन दलितों के उत्थान हेतु समर्पित कर दिया। उन्होंने अपने उद्देश्यों एवं इच्छाओं को अमलिय जामा पहनाने के लिए हर सम्भव प्रयास किये। इसके अन्तर्गत दलितों को संविधान में विशेष स्थान दिलाने में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा।

17.7 गांधी और कांग्रेस के प्रति दृष्टिकोण

अम्बेडकर दलितोद्धार के लिए समर्पित थे और उनके सार्वजनिक जीवन में प्रवेश से पहले महात्मा गांधी दलितोद्धार की दिशा में कार्य कर रहे थे। लेकिन अम्बेडकर को गांधी एवं कांग्रेस की गतिविधियों एवं प्रयासों पर विश्वास नहीं था। इस कारण अम्बेडकर का गांधी जी से मतभेद था। मतभेद के विवादास्पद प्रसंग निम्न थे–

17.7.1 वर्णव्यवस्था के सबंध में

गांधी हिन्दू समाज में विद्यमान ऊँच–नीच की भावना को समाप्त करना, दलितों की स्थिति में सुधार लाना चाहते थे लेकिन वे वर्णव्यवस्था बनाये रखना चाहते थे जबकि अम्बेडकर दलितों की अमानवीय स्थिति का मूल कारण वर्णव्यवस्था को मानते थे। उनका तर्क था कि दलितों का इस स्थिति के लिए वर्णव्यवस्था ही जिम्मेदार हैं जिसकी आड़ में समाज के चन्द स्वार्थी तत्वों ने दलितों का शोषण किया हैं। अतः उसका पूर्ण निवारण होना चाहिए।

17.7.2 पृथक प्रतिनिधित्व

महात्मा गांधी किसी भी कीमत में हिन्दू धर्म की एकता भंग करना नहीं चाहते थे और भंग करने वाले प्रत्येक कदम का कड़ा विरोध किया। इसलिए उन्होंने दलितों एवं अन्य हिन्दूओं के पृथक प्रतिनिधित्व का विरोध किया लेकिन डॉ. अम्बेडकर अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भ से ही दलितों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व की आवाज बुलन्द कर रहे थे। द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में गांधी एवं अम्बेडकर के बीच मतभेद का मूल कारण ही यही था। अम्बेडकर का मत था कि जब तक दलितों का पृथक प्रतिनिधित्व नहीं होगा तब तक उन्हें उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल सकता और न ही उनकी स्थिति में सुधार आ सकता है।

17.7.3 धर्म परिवर्तान के संबंध में

1956 ई. डॉ. अम्बेडकर ने दलितों के आह्मान किया कि वे हिन्दू धर्म को त्याग बौद्ध धर्म ग्रहण कर ले क्योंकि हिन्दू धर्म में उनका कोई स्थान नहीं है और न ही हिन्दू धर्म में रहकर वे अपनी स्थिति में सुधार ला सकते हैं। जिसका गांधीजी ने विरोध किया और कहा समस्या का समाधानन एवं दलितों का उत्थान धर्म परिवर्तन करने से नहीं होगा। इससे हिन्दू धर्म की एकता को खतरा ही उत्पन्न होगा।

17.7.4 कांग्रेस एक हिन्दूवादी संगठन

अम्बेडकर ने न केवल महात्मा गांधी की विचारधाराओं का विरोध किया अपितु भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विचारधाराओं का विरोध किया। एक अन्य प्रसंग में उनका तर्क था कि– कांग्रेस हिन्दूओं का संगठन है जिससकी आर्थिक सहायता पूंजीपति हिन्दु हैं। इनका कार्य भारत का स्वतन्त्र कराना नहीं बल्कि अंग्रेजो से शासन की बागडोर अपने हाथ में लेना है।

17.8 नवीन समाज व्यवस्था

डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक चिन्तन के मूल तत्व स्वतन्त्रता, समता, भ्रातृत्व, जनतंत्र आदि है। जिसमें मानवीय गौरव की ध्वनि गूंजती है। ये बौद्धिक प्रेरणा और मानव सेवा के स्त्रोत हैं इन्हीं के आधार पर उन्होंने भारत में एक नवीन समाज व्यवस्था की बात कही, जो वर्ण, जाति तथा अस्पृश्यता से भिन्न मानववादी मूल्यों को श्रेष्ठ मानती है। उनके नवीन समाज व्यवस्था के विचार निम्नलिखित है

17.8.1 स्वतन्त्रता

अम्बेडकर का मानना था कि स्वतन्त्रता एवं स्वस्थ जीवन उसी समय सुलभ होगा, जब व्यक्ति अपने मनपसन्द धन्धे करने की स्वतन्त्रता हो। न केवल इतना ही, व्यक्तिक स्वतन्त्रता सामाजिक–आर्थिक तंत्र की कार्य–कुशलता को बढ़ाने में भी सहायता होती है। इस तरह अम्बेडकर के नवीन समाज में कुछ सीमा तक स्वतन्त्र आर्थिक क्रियाओं का स्थान भी होगा। इसप्रकार जैसा कि वह सोचते थे, यदि व्यक्तियों की शक्तियों को प्रभावशाली तथा सक्षम ढंग से उपयोग में लाया जाए, तो निश्चित ही स्वतंत्रता का अधिकार लाभदायक सिद्ध होगा। अपने नये समाज में, डॉ. अम्बेडकर ने राजनीतिक स्वतन्त्रता–दल बनाने, चुनाव लड़ने, सार्वजनिक पदग्रहण करने का प्रबलल समर्थक किया। स्वतन्त्रता के अभाव में व्यक्ति एवं समाज का चहुँमुखी विकास नहीं हो सकता। जिसके तहत प्रत्येक नागरिक को अपने धर्म के द्वारा बताए गये रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता, धार्मिक संस्था बनाने और धर्म के आधार पर किसी के साथ भेदभाव नहीं किया जाएं।

17.8.2 समानता

डॉ. अम्बेडकर समता के सिद्धान्त को वैचारिक एवं व्यावहारिक दोनों रूप में महत्व देते हैं। उन्होंने यह माना कि सब मनुष्य समान पैदा नहीं होते तो भी वह वैचारिक समता को महत्वपूर्ण समझते थे। समता का आदर्श, बिल्कुल काल्पनिक हो सकता है, फिर भी व्यावहारिक रूप से समता की भावना को प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अंग होना चाहिए।

17.8.3 बन्धुत्व

डॉ. अम्बेडकर का मत है कि आदर्श समाज प्रगतिशील होना चाहिए। समाज के विभिन्न लोगों के बीच सम्पर्क के ऐसे बहुविद्य और विर्विवाद बिन्दु होने चाहिए, जहां के अन्य रूपों में भी संवाद हो सके। दूसरे शब्दों में समाज के भीतर सम्पर्क का सर्वत्र प्रसार होना चाहिए।

17.8.4 प्रजातंत्र

डॉ. अम्बेडकर के नवीन समाज का मूलाधार प्रजातंत्र है। उन्होने कहा कि "प्रजातंत्र" सरकार का एक स्वरूप मा. नहीं है। यह वस्तुतः साहचर्य स्थिति में रहने का ढंग है, जिसमें सार्वजनिक का समवेत रूप से संप्रेषण होता है। प्रजातंत्र का मूल है, अपने साथियों के प्रति आदर और मानव की भावना इस तरह भ्रातृत्व एवं प्रजातंत्र के बीच घनिष्ट संबंध स्थापित करने का प्रयास किया गया है। एक अच्छी समाज व्यवस्था के लिए वह एक वैधानिक आधार भी चाहते थे। प्रजातांत्रिक समाज का आधार काल्पनिक न होकर वास्तविक होना चाहिए ताकि समाज में समानता की अवधारणा सुदृढ़ हो सके तथा समाज में विद्यमान साधनों का सही बंटवारा हो सके अन्यथा प्रजातंत्र अन्याय का साधन बन सकता है।"

17.8.5 त्रयी दर्शन

डॉ. अम्बेडकर का समस्त सामाजिक चिन्तन कुछेक त्रयी आदर्शों में अन्तर्निहित रहा है। अपने प्रारम्भिक सामाजिक जीवन से ही वह स्वतंत्रता, समता तथा भ्रातृत्व और शिक्षा, संगठन एवं आन्दोलन के दो त्रयी आदर्शो को अछूतों के बीच उनके सामाजिक उत्थान और मानवीय गोरव के लिए प्रसारित करता रहे। इन्हीं के साथ डॉ. अम्बेडकर ने एक अन्य त्रयी आदर्श– बुद्ध, धम्म, एवं संघ को भी जोड़ा। इन तीनों त्रयों आदर्शों का समन्वित रूप उनके सामाजिक चिन्तन का मूलाधार है, जो बड़ा ही व्यापक और कल्याणकारी है। इन आदर्शों से उद्भूत होने वाले मूल्य केवल दलित–अछूतों तक ही सीमित नहीं है अपितु सभी मानव प्राणी के साथ सीधा संबंध है।

इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर के नवीन समाजदर्शन वर्ण, जाति छुआछुत, भेदभाव, शोषण, अन्याय तथा उत्पीड़न का विरोध करता है और मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाकर स्वतंत्रता, समता, भ्रातृत्व, शिक्षा, संगठन, संघर्ष, ज्ञान, कर्तव्य और एकता का समर्थक करते है।

17.9 डॉ. अम्बेडकर का योगदान या देन

20वीं शताब्दी में जिन सुधारकों एवं चिन्तकों ने अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया था। उनमें डॉ. अम्बेडकर का नाम भी उल्लेखनीय है। उन्होने मूलतय सामाजिक न्याय की अवधारणा को प्रोत्साहन की आवश्यकता को स्वीकार किया। इसी के चलते उन्हें दलितोंका मसीहा कहा गया। उन्होंने अपना अधिकांश ध्यान दलितों के उत्थान में लगाया ताकि उन्हें समाज में अन्यों के समक्ष दर्जा मिल सके। उनके योगदान को हम निम्नलिखित शीर्षकों से प्रस्तुत कर सकते है–

17.9.1 वर्ण एवं जाति व्यवस्था पर प्रहार–

डॉ. अम्बेडकर ने सर्वप्रथम वर्ण एवं जाति व्यवस्था पर प्रभावी ढंग से प्रहार किया और उन्हे अवैज्ञानिक, अव्यावहारिक, अन्यायपूर्ण और गरिमाहीन करार दिया। समाज में दलितों की दुर्दशा के लिए उन्होंने इसी व्यवस्था को जिम्मेदार ठहराया। उनका तर्क था कि इन्हीं के चलते समाज अनेक खण्डों में विभाजित हो गया है जो चिन्ताजनक है। अतः उन्होंने लोगों को इनसवे होने वाली हानियों से सचेत किया।

17.9.2 दलितों के मसीहा

डॉ. अम्बेडकर दलितोंद्धार के लिए पूर्णत्या समर्पित थे, यह उनकी जीवन का सर्वप्रमुख संकल्प था। उन्होंने दलितों में चेतना उत्पन्न की, उन्हें संगठित किया, उन्हें स्वर्णो के अत्याचारों का विरोध करने के लिए प्रेरित किया, उन्हें स्वर्णो को यह समझाने का प्रयत्न किया कि दलितों के प्रति अन्याय की स्थिति को बनाए रखना हिन्दू समाज के लिए घातककारी होगा।

17.9.3 दलितोद्धार के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण

डॉ. अम्बेडकर ने दलितोद्धार के प्रति व्यावहारिक तथा यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया। दलितों की खराब स्थिति के लिए उन्होंने समाज के उच्च वर्गो को जिम्मेदार ठहराया और दलितों के समक्ष इस बात पर बल दिया कि वे अपनी बुरी आदतों एवं हीनता की भावना का त्याग कर सम्मानपूर्ण जीवन की ओर प्रवृत्त होना चाहिए। उनके सुझाव थेः दलित शिक्षित हों, संगठित हों और अत्याचार के विरूद्ध संघर्ष करें। उनका मत था कि दलित वर्ग अपना समय और क्षमताएं मन्दिर प्रवेश जैसी निरर्थक बातों में व्यय करने की अपेक्षा उच्च शिक्षा, अच्छे रोजगारों में प्रवेश पाने तथा आर्थिक स्थिति को सुधारने के प्रयत्नों में लगायेंगे तो निश्चित ही उनके सामाजिक स्तर में वृद्धि होगी। इसके लिए उन्होंने भारत के औद्योगीकरण का सुझाव दिया।

17.9.4 नारी–उत्थान की दिशा में कार्य

भारत के सभी वर्णो में नारी की स्थिति बहुत ही खराब रही है तथा अम्बेडकर ने उनके उत्थान के लिए भी प्रयत्न किये। अम्बेडकर ने नारी की इस स्थिति के लिए "मनुस्मृति" को उत्तरदायी माना है। उनका मत था कि नारी की स्वतन्त्र भूमिका होनी चाहिए। भारतीय परिवार व्यवस्था में स्त्रियों के अधीन तथा उन पर निर्भर समझो जाने की प्रवृत्ति के प्रबल विरोधी थे। उनकी मान्यता थी कि स्त्रियों की शिक्षा और सामाजिक जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में पुरूषों के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। हिन्दू समाज में स्त्रियों को सम्पत्ति के उत्तराधिकार, निसन्तान होने पर गोद लेने का अधिकार और पुनर्विवाह का अधिकार नहीं था। अम्बेडकर ने स्त्रियों के प्रति विद्यमान इन भेदभाव पूर्ण स्थितियों का अन्त करना आवश्यक माना तथा इस उद्देश्य से उन्होंने "हिन्दू कोड बिल" तैयार किया तथा उसे ससंद से पारित करवाने का प्रयास किये।

17.9.5 भारतीय संविधान के निर्माण में प्रमुख भूमिका

भारतीय संविधान के निर्माण में डॉ. भीमराव अम्बेडकर का महत्वपूर्ण योगदान रहा। यद्यपि वे कांग्रेस के विरूद्ध थे लेकिन उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हें न केवल संविधान सभा का सदस्य बनाया अपितु प्रारूप समिति का अध्यक्ष भी बनाया गया। संविधान के दर्शन एवं प्रावधानों पर उनका सर्वाधिक प्रभाव देखा जा सकता

है। उनके नेतृत्व में देश के लिए एक ऐसे संविधान का निर्माण हुआ, जो शांतिकाल और संकटकाल दोनों ही परिस्थितियों में राष्ट्र की एकता को बनाए रखने में समर्थ हैं।

17.9.6 सामाजिक न्याय और सामाजिक लोकतंत्र का प्रतिपादन

अम्बेडकर ने भारतीय समाज की समस्त स्थिति को भलीभांति समझा था। उन्होंने सामाजिक लोकतंत्र को राजनीतिक लोकतंत्र की पूर्व शर्त के रूप में प्रतिपादित कर भारत में लोकतंत्र की सार्थक व्याख्या एवं परिकल्पना प्रस्तुत की। संविधान की प्रस्तावना और अन्य भागों में "सामाजिक–आर्थिक न्याय" का जो संकल्प व्यक्त किया गया है, उसमें डॉ. अम्बेडकर के प्रयत्नों का महान योग है।

17.10 सारांश

अम्बेडकर ने एक से अधिक दलित वर्ग की मुक्ति को देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता की तुलना से भी अधिक महत्वपूर्ण बतलाया था। इस कारण अम्बेडकर के कुछ आलोचक उनकी राष्ट्रवादिता और देश प्रेम पर शंका करते थे लेकिन वस्तुतः ऐसा सोचने का कोई आधार नहीं हैं। यदि किसी देश में लगभग 20 प्रतिशत जनसंख्या अन्याय और अमानवीय व्यवहार को भुगत रही हो तो उस देश के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अम्बेडकर ने इस सत्य को समझा तथा उनके द्वारा किया गया दलितों की मुक्ति का कार्य इस देश के प्रति अद्वितीय सेवा है, जिसे युगों तक याद किया जाता रहेगा।

- डॉ. अम्बेडकर के विचारों से समाजवादी समाज की स्थापना की जा सकती है।
- उन्होंने दलितों के कल्याण की बात कर न केवल इन्हें समाज की समानधारा में जोड़ा अपितु भारतीय समाज को एकता की राह पर आगे बढ़ाया।
- संविधान को लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी, लोककल्याणकारी ढांचा प्रदान करवाने में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा।
- हिन्दू कोड बिल को तैयार कर उन्होंने नारी स्वाभिमान, नारी सम्मान तथा नारी के गौरव को बढ़ाने का कार्य किया।

17.11 अभ्यास प्रश्नावली

1. अम्बेडकर दलितोद्धार संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिए।
2. अम्बेडकर की नवीन समाज व्यवस्था का उल्लेख कीजिए।
3. अम्बेडकर के योगदान की समीक्षा कीजिए।
4. अम्बेडकर का गांधी जी से मतभेद के मूल कारण क्या थे?
5. दलितों उत्थान के लिए अम्बेडकर ने क्या उपाय बताए हैं?
6. अम्बेडकर का त्रयी–दर्शन क्या है?
7. बौद्ध धर्म के प्रति डॉ. अम्बेडकर का क्या दृष्टिकोण था?
8. नारी उत्थान की दिशा में अम्बेडकर का क्या योगदान रहा?
9. अम्बेडकर ने वर्ण व्यवस्था का विरोध क्यों किया?
10. अम्बेडकर के कांग्रेस के प्रति दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।
11. "शिक्षित बनो, संगठित रहो तथा संघर्ष करो" ये विचार किसके और किसके लिए दिये गये?
12. अम्बेडकर के बचपन का नाम क्या था?
13. अम्बेडकर ने किस पार्टी की स्थापना की?
14. हिन्दू कोड बिल लाने का श्रेय किसे जाता है?
15. अम्बेडकर के सामाजिक दर्शन का श्री क्या है?
16. संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष कौन थे?

अध्याय–18
रवीन्द्रनाथ टैगोर

संरचना

18.1 उद्देश्य
18.2 प्रस्तावना
18.3 स्वतंत्रता और आत्म–अनुभूति का सिद्धान्त
18.4 मानव विवेक पर बल
18.5 राष्ट्रवाद की आलोचना
18.6 गांधी के साथ मतभेद
18.7 बोल्शेविक विचारधारा का विश्लेषण
18.8 सारांश
18.9 अभ्यास प्रश्नावली

18.1 उद्देश्य

- रवीन्द्रनाथ टैगोर के प्रमुख विचारों को जानना
- राष्ट्रवाद के उत्थान में रवीन्द्रनाथ टैगोर के योगदान को समझना
- एक बौद्धिक चिन्तक के रूप टैगोर के विचारों को समझना

18.2 प्रस्तावना

रवीन्द्रनाथ टैगोर (1861–1941) भारत के एक उत्कृष्ट साहित्यिक व्यक्तित्व थे जिन्होंने समकालीन विश्व में मानव चिंतन पर अत्यधिक प्रभाव डाला। उनका यह प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र के साथ–साथ महत्वपूर्ण अवधारणाओं जैसे राष्ट्रवाद, स्वतंत्रता, मानव तर्कशक्ति (human rationality) और महात्मा गांधी (1869–1948) के दर्शन तथा कार्यनीतियों के साथ उनके अनेक मतभेदों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

गांधी राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलनकारी थे तथा टैगोर एक कवि थे। फिर भी उनके प्रमुख राजनीतिक विषयों की अभिव्यक्ति में महत्वपूर्ण समानता थी जिसे दोनो ने अपने समय की प्रमुख घटनाओं पर प्रतिबिम्बित करने में विकसित और परिष्कृत किया। इसके अतिरिक्त, टैगोर में मानव पूर्णता और विशेषता के लिए एक कवि की जिज्ञासा थी और उनकी अभिव्यक्ति मानव भावना और आशावाद (optimism) में उनके विश्वास का अर्थपूर्ण निवेदन थी जिसके द्वारा मानव स्वतंत्रता की अनुभूति करने और उन सभी कृत्रिम बंधनों को तोड़ने के विषय में सोच सकता था जो बरसों से बनाए हुए थे। पूर्वग्रहों ;चतमरनकपबमेद्ध और घृणा पर बने ये बंधन मानव संपूर्णता का मार्ग प्रशस्त करने के लिए सुदंर ओर सौहार्दपूर्ण अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने तथा मानव सृजनात्मकता को फलने–फूलने एवं मानव गरिमा की विजय को प्राप्त करने के मार्ग में बाधा थे। पश्चिमी विचारों को पूर्वी विचारों के साथ आत्मसात् (मिलान) करने की आधुनिक भारतीय परम्परा जो राममोहन राय से आरंभ हुई थी, टैगोर के साथ अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी।

18.3 स्वतंत्रता और आत्म–अनुभूति का सिद्धान्त (THEORY OF FREEDOM AND SELF-REALISATION)

स्वतंत्रता का विशिष्ट भारतीय विचार जो राजा राममोहन राय से विकसित होना आरंभ हुआ था, बाद में स्वामी विवेकानन्द (1863–1902), गांधी और टैगोर द्वारा अभिव्यक्त किया गया। राममोहन भारतीय और पश्चिमी विचारों को अपनी परम्परा की दृढ़ प्रतिबद्धता के साथ मिलाना चाहते थे। विवेकानन्द भी राममोहन की तरह ही भारतीय

परम्परा से जुड़े थे। अरविन्द, गांधी और टैगोर ने व्यक्ति की पहचान और संस्कृति खोए बिना सौहार्द पर बल दिया।

टैगोर के लिए स्वतंत्रता केवल राजनीतिक मुक्ति (political emanciption) के लिए ही नहीं थी, बल्कि ब्रह्ममांड (विश्व) के साथ व्यक्ति के मिलन में थी जी उनके – इस वायु में आकाश में और ब्रह्ममांड के इस प्रकाश मेंरी स्वतंत्रता (My freedom is in this air, in the sky and in the light of universe) अभिव्यक्त हुई हैं। उन्होंने प्रमुख रूप से बताया कि कई राष्ट्र और लोग शक्तिशाली तो थे परन्तु स्वतंत्र नहीं थे क्योंकि स्वतंत्रता की अनुभूति बाध्यकारी शक्ति (coercive power) का केवल प्रयोग करने से कुछ बिल्कुल अलग थी। मानव, इस महान ब्रह्ममांड के एक भाग के रूप में केवल तभी स्वतंत्रता का उपयोग कर सकता है जब वह विश्व के साथ अपने संबंधों को स्थापित कर ले। यह एकता का बंधन है जबकि सत्ता (शक्ति) विघटन (disunity) उत्पन्न करती है अर्थात् एकता तो तोड़ती है।

टैगोर की स्वतंत्रता की अवधारणा पर अभिव्यक्तिवाद (expressionism) (1910-24) और अर्नेस्ट बार्कर, मेरी फोलेट तथा लास्की का प्रभाव पड़ा जिन्होंने लोकतंत्र के सफल संचालन के लिए बहुत समाज (plural society) को एक बुनियादी पूर्व शर्त बताया था। टैगोर इलियट के आधुनिक समाज के उस विचार से सहमत थे जिन्होंने आधुनिक समाज को यांत्रिक (मशीनी) और खोखला समाज माना जो सृजनात्मक मानवीय भावना और ऊजाओं को व्यर्थ कर देता है। उन्होंने ऐसी स्वतंत्रता की इच्छा की जो मानव को उसके विचारों और आंकाक्षाओं की अनुभूति कराने में सफल होगी क्योंकि इसने विवेक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सहायता से विभिन्न प्रकार की सृजनात्मक कला में अभिव्यक्ति पाई है तथा इससे मानव मुक्ति के लिए उद्योगीकरण (industrialisation) की क्षमताओं का भी प्रयोग हो सकेगा।

टैगोर को सत्यम, शिवम, अद्वैतम् (truth of goodness and unity) के उपनिषद् सिद्धान्त का मार्गदर्शन मिला तथा वे महिमामंडन (प्रशंसा) और शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा शुरू किए गए विस्तारवाद (expansionism) के दर्शन से पूरी तरह असहमत थे। इसका पता उनकी दो प्रतीकात्मक रचनाओं (symboilic works) रक्ताकोराबी और मुक्तधारा में चलता है। परन्तु रसल की तरह उन्होंने मानव में अपने विश्वास को बनाए रखा जो उनकी रसियार चिठी और अफ्रीका से पता चलता है जिसमें राष्ट्रीय सीमाओं और मूलवंशों को पार करने वाले समाजवाद, लोकतंत्र, स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय को स्पष्ट वरीयता दी गई है।

टैगोर के लिए व्यक्ति की स्वतंत्रता मानव सभ्यता और प्रगति के विकास का आधार थी। यह व्यक्ति के लिए विश्व के साथ सामंजस्य स्थापित करने की आंतरिक आवश्यकता भी थी। स्वतंत्रता मानव मस्तिष्क और आत्मा में सृजनात्मक और स्वाभाविक होती है। इसमें बेहतर व्यवस्था सृजित करने की क्षमता है। टैगोर निर्विवाद अनुरूपता (unquestioned conformity) के विरूद्ध थे, जिसे उन्होंने, "दासता की अवस्था कहा जो कैंसर का विकृत रूप ले लेती है और मानवता जिसके अधीन हो जाती है।" व्यक्ति के कार्य में

विश्वास करने वाले टैगोर ने किसी कार्य के अंतिम रूप को अस्वीकार कर दिया और जोर दिया कि व्यक्ति की मुक्ति (salvation) और नैतिक प्रगति के अनेक मार्ग हैं। उन्होंने इतिहास को परम सत्य की अनुभूति माना और इसके माध्यम से व्यक्ति स्वयं को अभिव्यक्त कर पाता है और अंत में पूर्णरूप से स्वतंत्र और संतुष्ट मानव का उदय होता है। उन्होंने आइंस्टीन से कहा था कि उनका धर्म मानव धर्म है। उनका अन्वेषण शाश्वत था और यह उन उदार तथा मानवोचित विचारों के कारण है जिनसे सभ्यता अर्थग्रहण करती है।

पूर्व भारतीय उदारवादियों की तरह ही टैगोर ने भारत की वास्तविक समस्या को राजनीतिक नहीं बल्कि सामाजिक माना। राजनीतिक स्वाधीनता (स्वतंत्रता) का संकीर्ण दृष्टिकोण एक अच्छे समाज की स्थापना करने में बहुत ज्यादा पर्याप्त नहीं होगा क्योंकि इससे व्यक्ति नैतिक और धार्मिक स्वतंत्रता से वंचित रह जाएगा। उन्होंने इस संकीर्ण दृष्टिकोण को प्रदर्शित करने वाले स्वतंत्र देशों को भी फटकार लगाई। केवल राजनीतिक स्वतंत्रता किसी भी व्यक्ति को स्वाधीन नहीं कर सकती क्योंकि समाज में फूट और कमजोरियाँ राजनीति के लिए खतरा उत्पन्न कर देती है। एक औसत व्यक्ति में विश्वास उत्पन्न किए बगैर, वह हमेशा नीचा महसूस करेगा और "अन्यायपूर्ण अत्याचार" होता रहेगा। विश्व में प्रत्येक व्यक्ति में पहचान और गौरव की भाना का संचार करके आधार को व्यापक बनाकर स्वतंत्रता की अनुभूति करने की अनिवार्यता पर बल दिया। टैगोर की अमूर्त व्यक्ति पर बल देने वाली यह अवधारणा स्वतंत्रता के उन अनय लोकप्रिय राजनीतिक सिद्धान्तों से अलग थी।

18.4 मानव विवेक पर बल (EMPHASIS ON HUMAN REASON)

सभ्यता संकट और क्राइसिज इन सिविलाइजेशन (crisis in civilisation) में उन्होंने अंग्रेजी साहित्य की मानवतावादी परम्परा (humanistic tradition) की प्रशंसा का उल्लेख किया जिसने आधुनिक सभ्यता में उनके विश्वास का निर्माण किया। उन्होंने स्वीकार किया कि बाहरी विश्व से भारत का संपर्क अंग्रेजों के आगमन से स्थापित हुआ तथा साथ ही बुर्के, मैकाले, शेक्सपीयर और बायरन का उल्लेख किया जिन्होंने मानव की विजय को प्रेरण प्रदान की एवं विश्वास उत्पन्न किया। भारतीयों ने स्वतंत्रता चाही परन्तु अंग्रेजी उदारता (generosity) और अंग्रेजों के चरित्र में विश्वास किया जा सार्वभौम (विश्व) बंधुता के उनके दर्शन को दर्शाता है। अन्य समकालीन भारतीय चिंतकों की भांति, टैगोर का भी विश्वास था कि भारत सामान्य रूप से पश्चिम के और विशेष रूप से ब्रिटेन के अपने संपर्क से लाभ उठा सकता है। उन्होंने भारत पर अंग्रेजों की विजय को आधुनिकता की विजय माना।

टैगोर ने न केवल इस बात का उल्लेख किया कि एक युवक के रूप में वे किस प्रकार जॉन ब्राइट से प्रभावित हुए बल्कि उन्हें यह दुःख भी हुआ कि भारतीय उस औद्योगिक शक्ति से भी वंचित रह गए जिसने ग्रेट ब्रिटेन को विश्व शक्ति बना दिया। उन्होंने

भारत में आधुनिकता और वैज्ञानिक मनोवृति (scientific temper) की ओर इशारा किया जो एक ऐसा अभाव था जो पश्चिम के संपर्क से पूरा किया जा सकता था, इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी यूरोप के साथ एक सहयोग का युग बन जाएगी। परन्तु बीसवीं शताब्दी में यूरोप स्वयं अपने मानदंड (कसौटी) के कारण विफल हो गया क्योंकि यह अपनी वसीयता के गुणों को दूसरों को देने में सफल नहीं हो सका। इस संदर्भ टैगोर ने सोवियत शासन के स्वरूप और उद्देश्य के साथ ब्रिटिश शासन के स्वरूप और उद्देश्य के बीच एक दिलचस्प विरोधाभास प्रस्तुत किया। ये ऐसी दो शक्तियाँ थी जिन्होंने जातियों (races) पर शासन किया। ब्रिटेन ने अपने शासन द्वारा अधीन जातियों को आज्ञाकारी बनाया जबकि सोवियत उन्हें शक्तिशाली बनाने का प्रयास कर रहे थे। भारत ने पश्चिम की क्षमता का तो अनुभव किया परन्तु स्वतंत्रता प्रदान करने वाली उसकी शक्ति का अनुभव नहीं किया। अंग्रेजों की सरकारी नीति ब्रिटेन के सी.एफ. एंड्रूज जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति के अत्यंत विरूद्ध थी जो कि एक अद्भुत व्यक्ति थे तथा उन्होंने मानवता में और मानव विवेक और स्वतंत्रता के अपने विश्वास को सुदृढ़ किया।

18.5 राष्ट्रवाद की आलोचना

दोहरी भूमिका की टैगोर की अवधारणा, एक सकारात्मक, "पश्चिम की भावना" और दूसरी नकारात्मक "पश्चिम का राष्ट्र" राष्ट्रवाद के उनके विश्लेषण का एक आरंभिक बिन्दु था जो पश्चिम में विकसित हुआ था । उन्होंने साहित्य और कला के क्षेत्र में पश्चिम का आभार व्यक्त किया जिसे उन्होंने इसके एक करने की शक्ति के संदर्भ में विशाल बताया.... जिसने ऊँचाई और ब्रह्ममांड की गहराई को स्पर्श किया उन उत्कृष्ट व्यक्तियों का भी उल्लेख किया जो मानवता की भलाई के लिए संघर्ष कर रहे थे। परन्तु इस परोपकार के पीछे अहिततकारी पहलू भी है– "लक्ष्य के लिए महानता की अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग करते हुए, जो मनुष्य में अनंतता और शाश्वतता के विरूद्ध है।" उन्होंने इस परस्पर–विरोध का राष्ट्र–राज्य दंजपवद.जंजमद्ध के लिए बीमारी बताया। जो देश समस्त लोगों के संगठित स्वार्थ (स्व–हित) को व्यक्त करता है वह न्यूनतम मानवीय और न्यूनतम आध्यात्मिक है और समकालीन विश्व में सबसे बड़ी बुराई है। इसने "शक्ति (सत्ता) की सभ्यता" निर्मित की जिसने इसे विशिष्ट, अंहकारी और अभिमानी बना दिया। इसके प्रदर्शन का एक रूप लोगों का उपनिवेशन (colonisation) तथा उनका शोषण करना था और उन्हें कष्ट में रखना था। इस संदर्भ में टैगोर ने जापान का उदाहरण दिया जिसमें पश्चिमी सभ्यता के पश्चिम प्रभुत्व में रहे बगैर अधिकतम संभव सीमा तक लाभ प्राप्त किएं टैगोर ने राष्ट्र को "राजनीति और वाणिज्य के संगठन" के सिवाय कुछ नहीं माना । सफलता पर इसके जोर दिए जाने के कारण, इसने इसे एक ऐसा यंत्र बना दिया जिसने सामाजिक जीवन को बाधित किया और अच्छे जीवन के लक्ष्य को समाप्त कर दिया। उन्होंने उन अराजकतावादियों (anarchists) का हवाला दिया जिन्होंने व्यक्ति पर किसी भी प्रकार की सत्ता (शक्ति) थोपने का विरोध किया। उन्होंने इस आधार पर आतंक (terror) के संतुलन की विचारधारा को अस्वीकार कर दिया कि मानव की दुनिया एक नैतिक दुनिया है। उन्होंने सांप्रदायिक मतवाद (communal sectarianism) और राष्ट्रवाद की भर्त्सना की तथा अमूर्त विश्व राजनीति (विश्वबंधुता) की आलोचना की। बर्लिन (1977:65) ने लिखा कि–

"टैगोर ने संकीर्ण कार्य का विरोध किया और वे कठिन सत्य के अपने दृष्टिकोण से विमुख नहीं हुए। उन्होंने अतीत से भावुक जुड़ाव की भर्त्सना की जिसे उन्होंने "खूंटे से बंधा बलि के बकरे की भांति" अतीत से जुड़ा भारत का प्रयास कहा था, और उन्होंने इन व्यक्तियों पर आरोप लगाया जिन्होंने इसे प्रदर्शित किया– ये लोग टैगोर को प्रतिक्रियावादी लगते थे जो यह नहीं जानते थे कि वास्तविक राजनीतिक स्वतंत्रता क्या है, उनका (टैगोर का) संकेत अंग्रेज चिंतकों और अंग्रेजी पुस्तकों की ओर था जिनसे राजनतिक स्वाधीनता की अवधारणा प्राप्त हुई थी। परन्तु विश्व बंधुत्व के प्रतिकूल, उनका मानना था कि जिस प्रकार अंग्रेज अपने पैरों पर खड़े हुए हैं, उसी प्रकार भारतीयों को भी अवश्य खड़े होना चाहिए। उन्होंने 1917 में एक बार फिर "स्वामी (मालिक) की अटल इच्छा पर सब कुछ छोड़ने" के खतरे की निन्दा की "चाहे ब्राह्मण हों अथवा अंग्रज हों"।

टैगोर ने वर्तमान परिदृश्य के लिए स्पष्ट रूप से दो सही विकल्प देखेः पहला, एक दूसरे के साथ संघर्ष करना जारी रखना और दूसरा "सामंजस्य और पारस्परिक सहायता के सही आधार"को खोजना । राष्ट्रवाद की इस प्रबल भर्त्सना को निश्चय रूप से प्रथम विश्व युद्ध से गति मिली। राष्ट्र क्या है? (what is nation? 1901) में उन्होंने रेनन (1823–1892) के विचारों का विश्लेषण किया और साम्राज्यवाद को एक राष्ट्र की तार्किक परिणति के रूप में विशेष रूप से घोषित किया तथा मूलवंश (race) भाषा, व्यावसायिक हित, धार्मिक एकता तथा भौगोलिक अवस्थिति (geographical location) ने मानवता (human essence) का निर्माण किया। बीवसीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उन्होंने उदारवाद की कीमत पर संकीर्ण धार्मिक विश्वासों और आक्रामक राष्ट्रवाद के खतरों के प्रति सावधान किया और सर्वमुक्तिवाद (बंधुता) को एक प्रभावशाली विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया जो गीतांजली सहित उनकी बाद की अनेक रचनाओं में दिखाई दिया।

प्रथम विश्व युद्ध के कारणों का विश्लेषण करते समय, टैगोर ने एशिया और अफ्रीका के यूरोपीय प्रभुत्व (आधिपत्य) के विषय में लिखा था। युद्ध का मूल कारण जर्मनी द्वारा उपनिवेशों की छीना–झपटी और विश्व का शासक और शासितों में विभाजन था। उन्होंने बहुत सही टिप्पणी थी कि जब इसी दर्शन (विचारधारा) का यूरोप के बाहर प्रचारित किया गया तो यूरोपवासियों ने इसकी कटुता को नही समझा परन्तु जब उनका इससे सामना हुआ, तो उन्हें बहुत कष्ट हुआ। उस समय जर्मनी की कार्रवाही कोई अनोखी नहीं थी परन्तु यूरोपीय सभ्यता का एक हिस्सा थी। उन्होंने पहले से ही सही–सही बता दिया था कि प्रथम विश्वयुद्ध अंतिम विश्वयुद्ध नहीं होगा और एक युद्ध होने की और संभावना होगी।

राष्ट्रवाद की टैगोर द्वारा की गई आलोचनाओं की तत्कालिक प्रतिक्रिया मिली–जुली हुई। अमेरिकन प्रेस का रवैया बिल्कुल विरोधी था। दि डेटरायट जर्नल। (The Detroit Journal) ने"ऐसे बीमार मीठे मानसिक जहर जिससे टैगोर हमारे विशाल संयुक्त राज्य के युवाओं के मस्तिष्कों को दूषित करना चाहते हैं, के प्रति लोगों को चेतावना दी।" (कृपलानी उद्धत 1961:139)। भारत में टैगोर के कुछ समकालीन व्यक्तियों ने उनके टिप्पणी को अपवाद स्वरूप लिया। उदाहरण के लिए, गदर पार्टी के कुछ सदस्यों ने उनकी आलोचनाओं को "भारतीय राष्ट्रवाद की आकांक्षाओं के विश्वासघात" के रूप में समझा (कृपलानी उद्धत वही:139)। उन्होंने सोचा कि वर्ष भर पहले नाइट की उपाधि से सम्मानित टैगोर, एक ब्रिटिश एजेंट है और भारत को बदनाम करने के लिए उन्हें संयुक्त राज्य भेजा गया था। आरंभ में जापान में बुद्ध की धरती के एक कवि–मनिषी ;ममतद्ध के रूप में उनका उत्साहपूर्ण स्वागत किया गया था। परन्तु अपने व्याख्यानों में उन्होंने पश्चिमी सभ्यता और राष्ट्रराज्य की उपासना की सत्ता की लालसा का अनुकरण करने के विरूद्ध चेतावनी दी जिसके उनकी तीव्र आलोचना हुई। जब उन्होंने जापान को पश्चिम के केवल मानवोचित मूल्यों को अपनाने के लिए कहा तो उनकी लोकप्रियता गिर गई (कृपलानी उद्धत वही:139)। परन्तु कुछ जापानी बुद्धिजीवी टैगोर के चिारों के महत्व को समझ गए। (पोद्धार उद्धतः195)। युद्ध के बाद यह पता चल गया था कि राष्ट्रवाद पर टैगोर की टाइप हुई प्रतियाँ पश्यिचमी मोर्चे के सैनिकों में वितरित की गई थी। ऐसा अनुमान था कि यह काम यूरोपीय शांतिवादियों (pacifists) का था। एक ब्रिटिश सैनिक मैक्स प्लोमन ने युद्ध के बाद स्वीकार किया कि उसने टैगोर की रचना पढ़ने के बाद 1917 में सदा के लिए सेना छोड़ दी। रोलैण्ड ने 26 अगस्त, 1919 के पत्र में ऐसे ही विचार व्यक्त किए जैसे कि टैगोर ने व्यक्त किए थे।

आधुनिकता, विज्ञान और प्रौद्योगिकी तथा विवेक में यूरोप का नेतृत्व होने के कारण टैगोर ने यूरोपीय युग को आधुनिक युग कहा। परन्तु वे बराबर उसकी कमजोरियों जैसे सत्ता का अंहकार, शोषणकारी और प्रभुत्ववादी स्वरूप तथा सर्वोच्चता की इच्छा को जानते थे। यद्यपि टैगोर की धारणाएं तेजी से बदल चुकी हैं परन्तु उनकी

चिंताएँ (सरोकार) जैसे यूरो–केंद्रिकवाद (Euro-centricism) को स्वीकार न करना और सार्वभौम सभ्यता की मूल विशेषताओं को संचरित करने की इसकी अयोग्यता आज भी वैध नहीं हुई है।

18.5 गांधी के साथ मतभेद

गांधीजी के संपूर्ण राजनीतिक दर्शन का उल्लेख हिन्द स्वराज (1908) में और टैगोर का उल्लेख स्वदेशी समाज (1904) में मिलता है। दोनों का ही एक दूसरे के प्रति सम्मान था हालांकि इस परस्पर सम्मान ने उन्हें भारतीय स्थिति में अपने–अपने समकालीन वास्तविकता के बोध और आन्दोलनों की बुनियादी गतिविधियों के वांछित स्वरूप के बारे में नहीं रोका। दक्षिण अफ्रीका से गांधीजी के भारत लौटने और पर भारतीय राजनीति में उनके तेजी से ऊपर उठने के बाद ही विवाद उत्पन्न हुआ जिसकी परिणिति गांधीजी के असहयोग आंदोलन और टैगोर की सर्वमुक्तिवाद (विश्व बंधुत्व) दर्शन (philosophy of universalism) की अभिव्यक्ति और प्रथम विश्व युद्ध के दौरान राष्ट्रवाद की आलोचना हुई।

टैगोर भारत की मूल समस्या को राजनीतिक न मानकार सामाजिक मानते थे यद्यपि गांधीजी की भांति, वे भारतीय समाज में तीव्र मजभेदों और संघर्षें से परिचित थे। ऐसा समाज, न कि राजनीति, उनके आकर्षण का प्राथमिक क्षेत्र था। उनका विचार था कि विज्ञान की विजय ने पूरे देश को एक कर दिया था जिससे एकता प्राप्त करना संभव हो सका था जबकि यह एकता राजनीतिक एकता नहीं थी। इसी अवधारणा से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत इस संबंध में एक समाधान प्रदान कर सकता है क्योंकि "भारत के पास राष्ट्रवाद का वास्तविक ज्ञान नहीं है"। राष्ट्रवादी लहर के बारे में उनका विश्वास था कि यह स्वतंत्रता के लिए संघर्ष को लोकप्रिय बनाएगी परन्तु अपने विकास के समूचे संदर्भ से असृजनात्मक होगी क्योंकि स्वतंत्रता की खोज इसके कार्यान्वयन को जोखिम में डाल देगी।

टैगोर ने इस तर्क को गांधीवादी नेतृत्व और रणनीति की सावधानीपूर्वक जाँच करने के बाद विकसित किया। उन्होंने 1905 के बंगाल विभाजन के विरूद्ध आन्दोलन के दिनों में अपने पूर्व अनुभवों से इस मूल्यांकन का बुनियादी ढाँचा तैयार किया। टैगोर ने रक्षाबंधन और राष्ट्रपरक गीतों पर प्रचार करने में सक्रिय भूमिका निभाई। स्वदेशी समाज के प्रकाशन के तुरन्त बाद उन्होंने कमजोर पड़ते गाँवों को पुनर्जीवन प्रदान करने और सामान्यलोगों के बीच नई जागरूकता पैदा करने का तुरंत आह्मवान किया। आरंभ में यद्यपि वे आन्दोलन में सबसे आगे थे, परन्तु शीघ्र ही उनका मोह भंग हो गया क्योंकि उन्हें बहुत जल्दी पता चल गया कि जनजागरूकता की जरूरत के बारे में किसी का कोई सरोकार अथवा चिंता नहीं थी और शहरी मध्यम वर्क अपने–अपने स्वार्थों को बचाने में लगे हुए थे। उन्होंने आन्दोलन से हटने के बाद तत्कालीन मौजूदा जमींदारी व्यवस्था के अंतर्गत ग्राम्य जीवन का पुनर्निर्माण करने का गंभीर प्रयास किया। गांधी के साथ उनके बुनियादी मतभेदों को समझने के लिए इस पृष्ठभूमि को जानना जरूरी है।

गांधी की प्राथमिकताओं और नीतियों के बारे में टैगोर का प्रथम लिखित प्रमाण मिलता है जिसके अनुसार उन्होंने शांतिनिकेतन से 12 अप्रैल, 1919 को एक पत्र लिखा था जिसमें गांधीजी को असहयोग आन्दोलन के बारे में सावधान किया गया था क्योंकि यह कार्यक्रम भारत की नैतिक श्रेष्ठता को व्यक्त नहीं करता था। उन्होंने भारतीय राजनीति में गांधी के उत्थान के साथ आए महत्वपूर्ण परिवर्तनों को भी ध्यानपूर्वक देखा। उन्होंने गांधी के नेतृत्व के बारे में भी बहुत तेजी से विचार किया और वह यह भी देख सके कि प्रस्तावित असहयोग आन्दोलन पूरे देश को अपनी चपेट में ले लेगा और यह बंगाल के विभाजन विरोधी आन्दोलन से बहुत बड़ा होगा। वे मौजूदा अवस्था और पूर्व अवस्थाओं के महत्वपूर्ण अंतर को भी समझ गए थे। पहले के नेताओं ने अंग्रेजी शिक्षित लोगों के अलावा नहीं देखा जबकि इसके विपरी गांधी करोड़ों अनपढ़ भारतीयों के प्रवक्ता थे। वे उनकी भाषा बोलते थे और वैसे ही कपड़े पहनते थे। यद्यपि उनके विचार व्यावहारिक थे, परन्तु उनके विचारों में तार्किक और वैज्ञानिक प्रासंगिकता नहीं थी। उनके विचारों में राष्ट्र को जाग्रत करने का दर्शन नहीं था। सत्य के मार्ग का अनुसरण करने के बजाए, गांधी ने सरल रास्ते पर चलने का प्रयास किया।

बाद में टैगोर इस सच्चाई से दुखी हो गए कि प्रत्येक व्यक्ति एक ही आवाज में बोलता था और वैसे ही प्रयास करता था तथा इस विकास को उन्होंने राष्ट्रवाद की सबसे खराब अभिव्यक्ति कहा क्योंकि इसे उन्होंने दासतापूर्ण मानसिकता बताया तथा विदेशी शासन से कुछ लेना–देना नहीं था। उनका (टैगोर) सबसे ज्यादा विरोध इस बात से था कि गांधी के निर्देश जिनमें हाथ से सूत काटना और विदेशी कपड़े जलाना भी शामिल था, मध्यकालीन युग से जुड़े थे। इनमें से किसी भी शर्त का आलोचनात्मक रूप से विश्लेषण नहीं किया गया और

इन्हें धर्म का सिद्धान्त मान लिया गया। गांधीके निर्देशों का तर्कसंगत ढंग से अनुसरण न करके तेजी से अनुसरण कर लिया गया। टैगोर का मानना था कि सादगी पर बल देने से आर्थिक विकास धीमा पड़ जाएगा क्योंकि स्वदेशी के संकुचित स्वरूप से केवल सीमित प्रान्तीय दृष्टिकोण और पृथक्तावाद उत्पन्न होगा तथा शेष दुनिया में अनावश्यक वैमनस्य उत्पन्न

हो जाएगा। गांधी की योजनाओं से भारत अलग–थलग पड़ जाएगा जिससे भारत को पश्चिमी ज्ञान और प्रगति से वंचित होना पड़ेगा।

गांधीजी से असहमति व्यक्त करते हुए, टैगोर ने कहा कि मध्य वर्ग और जो कि किसान भारत की आबादी का अस्सी प्रतिशत हैं और वे वर्ष में छह महीने बिना किसी उद्देश्यपूर्ण (सार्थक) व्यवसाय के बिना रहते है, उनके बेकार समय का अनुमान लगाना संभव नहीं है। उन्होंने आश्चर्य किया कि क्या चरखे के प्रयोग का प्रचार करना जरूरी है। इसके बजाय, उन्होंने रचनात्मक कार्यक्रमों जैसे सामूहिक कृष्टि पर जोर दिया क्योंकि उनका मानना था कि इससे छोटी अनुत्पादक जोतों (unproductive holdings) की दुर्दशा दूर हो जाएगी और करीबी दूर की जा सकेगी। उनका विचार था कि गांधी का महिलाओं को अंग्रेजी पढ़ने से रोकने क लिए कहना गलत था तथा उन्होंने सरकारी स्कूलों के गांधीजी के बहिष्कार के आह्मवान का विरोध किया। यद्यपि टैगोर मौजूदा व्यवस्था के आलोचक थे, फिर भी उन्होंने महसूस किया कि बेहतर विकल्प के अभाव में इससे केवल अज्ञान, अंधविश्वास और पिछड़ापन बढ़ता रहेगा। 1928 में टैगोर ने वर्णाश्रम के गांधी के समर्थन की यह तर्क देकर आलोचना की कि यह व्यवस्था ठीक नहीं है क्योंकि व्यवसाय व्यक्ति की क्षमता अथवा योग्यता के अनुसार नही है बल्कि जन्म के अनुसार है। वंशागत व्यवसाय (hereditary occupations) यांत्रिक (मशीनी), आवृतिमूलक (एक जैसा अर्थात् बार–बार दोहराया जाने वाला) है तथा नए परिवर्तनों (नएपन) एव मानव स्वतंत्रता में बाधा पहुँचाता है। इसी प्रकार उन्होंने 5 फरवरी, 1934 को बिहार में आए भूकंप के कारण के संबंध में छुआछूत पर गांधी के दावे को अस्वीकार कर दिया क्योंकि गांधीजी ये बताने में असमर्थ रहे कि क्यों केवल गरीबों और निम्न जातियों कोही उच्च जातियों की अपेक्षा अधिक नुकसान उठाना पड़ा। 20 मई, 1939 को कांग्रेस को लिखे एक पत्र में उन्होंने कांग्रेस में शक्ति की पूजा (worship of power) के विरूद्ध तब चेतावनी दी जब गांधी के कुछ अनुयायियों ने गांधी की तुलना मुसोलिनी और हिटलर से की जिससे पूरे विश्व में गांधी का अपमान हुआ। एक आवश्यक विकल्प के रूप में टैगोर ने "सार्वभौम मानवता के आग्रह का आह्मवान किया और भारत के विस्तृत आयामों को उसके विश्व संदर्भ" में मान्यता प्रदान करने का आग्रह किया क्योंकि अब "अब कोई भी राष्ट्र जो स्वयं अलग–थलग होना चाहता है, वह समय की भावना के साथ संघर्ष में उलझ जाता है और उसे शांति नहीं मिलती। अब से, प्रत्येक राष्ट्र की सोच को अन्तरराष्ट्रीय होना पड़ेगा। इस विश्व बंधुता को ध्यान में रखकर एक नए युग का विकास करने का प्रयास है।"

इन आरोपों के उत्तर में गांधी ने उत्तर दिया कि "भारतीय राष्ट्रवाद न तो विशिष्ट है, न ही आक्रामण है और न ही विनाशकारी है। यह तो स्वास्थ्यप्रद और धार्मिक है, अतः मानवतावादी है। उन्होंने चरखे के प्रयोग का बचान किया क्योंकि यह भारत के करोड़ो–करोड़ लोगों में अनिवार्य और एक रहने की अनुभूति करने का एकमात्र उपाय है। इसका उद्देश्य संपूर्ण राष्ट्र के लिए बलिदान" को व्यक्त करना है। प्रान्तवाद क संकीर्ण आरोपों और अपने राष्ट्रवाद के खतरों के आरोपों के संबंध में उन्होंने कहाः "मैं स्वतंत्र वायु में उतना ही बड़ा आस्थावादी हूँ जितना बड़ा एक कवि। मैं अपने घर को चारों ओर से घिरा हुआ नहीं चाहता हूँ और न ही अपनी खिड़कियों को बंद रखना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि सब देशों (स्थानों) की संस्कृतियाँ, संभव हो सके तो मेरे घर को झकझोर दें। परन्तु मैं नही चाहता कि कोई मुझे अपने कदमों से डिगा दे।" इसके अतिरिक्त गांधी ने अपने राष्ट्रवाद को विशिष्ट नहीं समझाः "यह किसी अन्य देश को हानि पहुँचाने के लिए नहीं है बल्कि सही अर्थ में सबको लाभ पहुँचाने के लिए है। मेरे विचार में भारत की स्वतंत्रता विश्व के लिए कभी भी खतरा नहीं हो सकती।" । टैगोर का भी सांस्कृतिक विविधता के लिए यह विचार था परन्तु वे संभव नुकसान और पतन की अपनी अवधारणा के लिएगांधी से ज्यादा सतर्क थे क्योंकि उन्होंने इसे 1905 में बंगाल के विभाजन के समय हुई बाद की घटनाओं में देखा था।

रोलैण्ड ने टैगोर के विद्रोह को गांधी के विरूद्ध "स्वतंत्र आत्मा का विद्रोह" कहा था (1976–64)। सी.एफ. एंड्रूज ने टैगोर के विषय में ऐसे ही विचार व्यक्त किए। नेहरू ने 1961 में लिखा "टैगोर के लेख दि काल आूफ ट्रूथ (सत्य की पुकार) और गांधी के उत्तर को उनके साप्ताहिक यंग इंडिया जिसमें उन्होंने "महान प्रहरी" (The Great Sentinel) कहा था, आश्चर्यजनक रूप से पठनीय है। इनसे सत्य के दो पक्षों का पता चलता है जिनमें से

किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती हैं।" टैगोर की भूमिका आलोचनात्मक भूमिका थी परन्तु भारत में वे राष्ट्रवादी लहर के सही प्रेक्षक थे जिन्हें वे लोगों के लिए तर्क और सरोकार पर आधारित बनाना चाहते थे। उन्होंने लोकतंत्र की तब आलोचना की जब उन्हें महसूस हुआ कि महात्मा इन मोर्चों और उद्देश्यों से हट रहे हैं। उन्होंने न केवल आलोचना की अपितु गांधी की अवधारणा को वैकल्पिक अवधारणा भी प्रदान की। उन्होंने उनकी महानता के प्रति भी आभार व्यक्त किया और जातिवाद, छुआछूत और सांप्रदायिकता से संघर्ष करने में उनकी भूमिका की प्रशंसा की परन्तु वे साथ ही गांधी की योजनाओं की कमजोरियों को बताने में भी नहीं हिचके। उदाहरण के लिए, उन्होंने वर्धा योजना के नाम से वि,यात, 1937 की महात्मा गांधी की बुनियादी शिक्षा योजना की दो आधारों पर आलोचना की। पहले, उन्होंने व्यक्तित्व के विकास पर भौतिक उपयोगिता की श्रेष्ठता की अनिवार्यता पर प्रश्न किया। दूसरे, उनका मानना था कि ग्रामीण गरीबों के लिए विशेष प्रकार की शिक्षा उनके व्यवसाय (vocation) की पंसद को सीमित कर देगी और यह दुःख की बात है कि हमारी आदर्श योजना में शिक्षा गरीबों को कम मात्रा में थोड़ा–थोड़ा करके वितरित की जानी चाहिए। उन्होंने बुनियादी शिक्षा की कमी को भारत के अनेक सामाजिक और आर्थिक कष्टों का मूलभूत कारण बताया और जीवंत और सही विद्यालयों की माँग की।

टैगोर में गांधी के दृष्टिकोण की कमियाँ बताने में विरोध करने का साहस था। उनकी कुछ आलोचनाएँ प्रमाणों पर आधारित है, अतः पिछले पांच दशकों के अनुभव के साथ विशेषकर ग्रामीण पुनर्निर्माण शिक्षा जैसी हमारी कमियों के प्रमुख क्षेत्रों में उन्हें जोड़ने तथा उत्कृष्ट और गरिमापूर्ण जीवन जीने के लिए ग्रामीण गरीबों को आवश्यक प्रोत्साहन प्रदान करने का समय आ गया है।

18.7 बोल्शेविक विचारधारा का विश्लेषण (ANALYSIS OF BOLSHEVISM)

टैगोर ने अनेक बार यूरोप और संयुक्त राज्य की यात्रा की परन्तु वह केवल एक बार ही सोवियत रूस गए जब वे सत्तर वर्ष के थे और उन्होंने इस यात्रा को एक तीर्थयात्रा समझा तथा महसूस किया कि यदि वह नहीं जाते तो उनका जीवन अधूरा ही रहता।

यह दौरा केवल दो सप्ताह के लिए था और वे वहाँ कहीं और न जाकर मास्को में ही थे। लैटर्स फ्रॉम रशिया (Letters from Russia) ने उनकी स्मृतियों को दर्शाया। यह उनका यात्रा वृतांत (travelogue) ही नहीं है बल्कि उन्होंने वहाँ जो पसंद–नापसंद किया, उसका विचारशील लेखा–जोखा प्रस्तुत करता है। अधिकांश पत्र सोवियत संघ छोड़ने के बाद लिखे गए थे। वहाँ जाने से पहले, टोक्यो में एक दिलचस्प घटना घटी जहाँ कोरिया के एक युवक ने टैगोर के साथ बातचीत करना शुरू कर दिया जिसे बाद मे उसने स्वयं रिकार्ड किया। प्रश्नोतर नए सोवियत समाज के अभ्युदय के इर्द–गिर्द घूमते रहे। इस वार्तालाप में, कोरियावासी ने गरीबों और अमीरों के बीच वैमनस्य तथा क्रांति की अपरिहार्यता के प्रश्न पर जोर दिया। इस वार्तालाप के कुछ महीनों बाद टैगोर सोवियत संघ गए। वह कोरियाई युवक की तरह अभिभूत नहीं थे क्योंकि नई समाजवादी सत्ता द्वारा प्रचारित की जा रही नई संस्कृति के बारे में उन्हें कुछ संदेह था। उन्होंने नए समाज की स्थापना करने के सोवियत प्रयासों की सराहना की जो साधारण लोगों को शिक्षा, कृषि, स्वास्थ्य और उद्योग जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सामूहिक उद्यम (enterprises) आरंभ करने के लिए अधिकार प्रदान कर रहा था।

टैगोर के विश्वव्यापी मानव दुख को बोल्शेविक विचारधारा के उदय का कारण बताया परन्तु बाद में शासन में हिंसा, क्रूरता और दमनात्मक नृशंसता के प्रयोग की निंदा भी की। इसका बलात् सौहार्द अनिश्चित आधारों पर टिका हुआ था। नेता और अनुयायियों के बीच संपर्क भ्रामक और अधूरा था तथा अशांति का लगातार स्त्रोत था। इसके अतिरिक्त, उन्होंने कहा कि "निष्क्रिय अनुसरण की आदत मस्तिष्क और चरित्र को कमजोर कर देती है। इसकी सफलता स्वयं पराजित कर देती है।" हिंसा का त्याग करने में टैगोर और गांधी के बीच दृष्टिकोण में समानता है। दोनों ने बोल्शेविक प्रथा से इसके मुख्य रूप से महिमामंडन और हिंसा के प्रचार के कारण अपने आपको दूर रखा है।

टैगोर ने इस बात की प्रशंसा की कि बोल्शेविकों ने जार शासन की अनेक कुप्रथाओं को समाप्त कर दिया परन्तु विचार के दमन की प्रथा को जारी रखा। उन्होंने बोल्शेविकों को इस प्रथा को समाप्त करने की सलाह दी। मस्तिष्क (मन) की स्वतंत्रता के महत्व में विश्वासकर्ता के रूप में, वे सोवियत व्यवस्थ में मतभेद (असंतोष) के दमन के खतरों और वैकल्पिक दृष्टिकोणों को आसानी से देख सकते थे। वे क्रोध और वर्ग घृणा (class hatred) के प्रचार के विरूद्ध थे जिसकी सोवियत संघ ने शिक्षा दी थी और साथ ही वे मानते थे कि

किसी भी अच्छे समाज को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के माध्यम से मतभेद की मौजूदगी को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। उनकी प्राथमिक रूचि नई शैक्षिक व्यवस्था में थी और व उस उत्साह से खुश थे जिसके साथ यह पूरे रूसी समाज में फैली। उपलब्धि केवल संख्या में ही नहीं थी बल्कि उसकी तीव्रता में थी जिसने आत्म–सम्मान की भावना पैदा की थी। परन्तु उनकी अंतर्दृष्टि से व्यवस्था की प्रमुख त्रुटियाँ छिपी न रह सकीं क्योंकि इस व्यवस्था को उस सांचे में ढाल दिया था जहां मानवता एक जीवंत मस्तिष्क हाता है तथा उनका मानना था कि "या तो साँचे के टुकड़े–टुकड़े हो जाएँगें या मानव का मस्तिष्क गतिहीन होकर मर जाएगा अथवा मानव एक मशीनी गुड़िया में बदल जाएगा।" उन्होंने बोल्शेविक विचारधारा को एक बीमार समाज के लिए डाक्टरी उपचार माना तथा इसे सभ्य समाज की स्थायी विशेषता नहीं समझा।

सोवियत संघ के बारे में टैगोर का विवरण संतुलित था जिसने नकारात्मक और सकारात्मक पक्षों पर प्रकाश डाला। इस संबंध में टैगोर ने सिडनी और बिएटरीस वैब जिन्होंने 1930 के दशक में सोवियत संघ का दौरा किया था, की अपेक्षा एच.जी.वैल्स का अधिक समर्थन किया। वैल्स के विपरीत वैब ने सोवियक समाज के नकारात्मक पक्षों की उपेक्षा की।

18.8 सारांश

टैगोर एक व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनके बारे में मुल्क राज आनंद ने लिखा है:

....वे एक स्वप्नद्रष्टा थे जिनका विश्वास था कि एक भावना में एक बहुराष्ट्रीय सभ्यता एक ऐसा मार्ग है। जिसके माध्यम से व्यक्ति और राष्ट्र अपनी शक्ति का समर्पण करते हैं। एक भारतीय के रूप में वे जानते थे कि वास्तव में स्वतंत्रता प्रेमी राष्ट्र लालच और लूट पर बने अनेक आक्रामक राष्ट्रों द्वारा बाधित कर दिए गए। अतः उन्होंने अपने समय के साम्राज्यवादियों से उस लचीलेपन के साथ संघर्ष किया जिसने उनके राजनीतिक चिंतन को विशिष्ट यथार्थवाद (peculiar realism) साथ–साथ एक स्वप्नद्रष्टा का गुण भी प्रदान किया ।

उन्होंने केवल सोचा ही नहीं बल्कि प्रयोग करने का प्रयास भी किया और अपने विचारों को व्यवहार में लाए। विरोध के साहस के साथ, उन्होंने राष्ट्रवाद की पद्धति (cult), राष्ट्रों के बीच असमानता, और साम्राज्यवाद जिसमें सांस्कृतिक साम्राज्यवाद शामिल हैं और औपनिवेशिक विश्व में जहाँ अधिकतर लोग सुविधा वंचित जीवन जीते हैं, के विरूद्ध आवाज उठाई। उन्होंने मानव तर्क–शक्ति में कभी भी आशा नहीं छोड़ी और प्लेटो की तरह सोचा कि शिक्षा ही मानव उत्कृष्टता (excellence) और श्रेष्ठ भविष्य की कुंजी है। अमर्त्यसेन (2000:106) ने उचित ही कहा है कि "रविन्द्रनाथ ने प्रत्येक मुद्दे पर खुली बहस पर बल दिया और यात्रिक (मशीनी) सूत्र पर आधारित निष्कर्षों पर विश्वास नहीं किया चाहे वह सूत्र आकर्षक ही क्यों न दिखाई देता हो... . उन्होंने लगातार प्रश्न पूछा कि जो कुछ प्रस्तावित किया जा रहा है, क्या इसे चाहने का हमारे पास पर्याप्त कारण है और क्या हर बात का ध्यान रखा जा रहा है। विवेकशक्ति को अतीत से आगे जाना है।" इस विवेकशक्ति की संप्रभुता–स्वतंत्रता की निडर विवेक शक्ति में ही निहित है कि हम रवीन्द्र नाथ टैगोर की अमर वाणी में ही पा सकते हैं।

वैश्वीकरण (globalisation) का तंत्र राष्ट्रों के बीच एक नई भागीदारी सृजिक करने और लोगों का आधार समानता और साझी समृद्धि पर होने के बजाय पुराने साम्राज्यवादी समय के आधिपत्य और शोषण की भावना को बनाए रखने का एक नया उपाय है। यह उन्न देशों की पुरानी और अदूरदर्शी नीति के बने रहने के कारण ही है कि विश्व बंधुता के दर्शन (विचारधारा) को दोयम दर्जा दिया गया है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया जारी है। इसके बारे में टैगोर ने पश्चिम पर आरोप लगाया कि यह अपनी स्वतंत्र करने की ताकत के बजाए अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहा है। जब तक इसे सुधारा नहीं जाता, तब तक पश्चिम को विश्व के लगभग अस्सी प्रतिशत लोगों द्वारा संदिग्ध ही ठहराया जाता रहेगा। यदि कानून और व्यवस्था क्रियान्वित करनी है तो पश्चिम के मानवतावादी पक्ष को अग्रिम पंक्ति में आना पड़ेगा। यह केवल तब ही संभव होगा जब पश्चिम टैगोर द्वारा बताए गए अपने संकीर्ण राष्ट्रवादी सरोकारों को त्याग देगा। उन्होंने मानवतावाद के तर्क और विज्ञान की आशा की और यह चाहा कि इस संबंध में पश्चिम रास्ता दिखाए। दो विश्वयुद्धों और विश्व समुदाय के निरंतर शांतिपूर्ण अभ्युदय के लिए बढ़ती आवश्यकता को देखते हुए सुविधासंपन्न लोगों और सुविधावंचित लोगों के बीच दूरी कम करने की आवश्यकता है। टैगोर द्वारा की गई समीक्षा और आलोचना इस सुधार की शुरूआत हो सकती है।

18.8 अभ्यास प्रश्नावली

1. रवीन्द्रनाथ टैगोर के स्वतंत्रता और आत्मविश्वास के विचार की चर्चा कीजिए।
2. राष्ट्रवाद की टैगोर की आलोचना को स्पष्ट कीजिए।
3. टैगोर और गांधी के बीच बुनियादी असहमति पर चर्चा कीजिए और उनमें अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. बोल्शेविक विचारधारा पर टैगोर के विचारों का मूल्यांकन कीजिए

अध्याय-19
एम.एन.राय

संरचना

19.1 उद्देश्य

19.2 प्रस्तावना

19.3 जीवन–परिचय

19.4 राय की रचनाएँ

19.5 राय और मार्क्सवाद

19.5.1 राय की मार्क्सवाद में आस्था

19.5.1.1 मार्क्स के भौतिकवाद में सम्पूर्ण आस्था

19.5.1.2 मार्क्स की वैज्ञानिक पद्धति

19.5.1.3 मार्क्सवादी चिन्तन के मूल लक्ष्य में आस्था

19.5.1.4 मार्क्स के चिन्तन तथा कर्म की एकता

19.5.2 मार्क्सवादी सिद्धान्त से सहमति

19.5.2.1 द्वन्द्ववाद से असहमति

19.5.2.2 इतिहास की आर्थिक व्याख्या से असहमति

19.5.2.3 वर्ग–संघर्ष के समाजशास्त्र में सन्देह

19.5.2.4 मध्यम वर्ग के संबंध में मार्क्स का गलत दृष्टिकोण

19.5.2.5 सर्वहारा वर्ग की तानाशाही

19.5.2.6 मानव तत्व की उपेक्षा

19.5.2.7 नैतिकता का कोई स्थान नहीं

19.5.2.8 शांतिपूर्ण तरीके में विश्वास

19.6 एम.एन. राय का नव मानवतावाद

19.6.1 यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता प्राप्ति का आन्दोलन

19.6.2 मानवीय विवेक में विश्वास

19.6.3 विश्व बन्धुत्व की भावना में विश्वास

19.6.4 नैतिक व्यक्तित्व की स्थापना

19.6.5 मानव स्वभाव की व्याख्या

19.6.6 समग्र आर्थिक विकास पर जोर

19.6.7 व्यक्ति की सत्ता का महत्व

19.6.8 नव मानवतावाद एक जीवन दर्शन

19.7 मानवेन्द्र नाथ राय के लोकतंत्र संबंधी विचार

19.7.1 जन समितियों के माध्यम से समस्त कार्यो का सम्पादन

19.7.2 विकेन्द्रित सत्ता पर बल

19.7.3 दल विहिन लोकतंत्र की स्थापना पर बल

19.7.4 मतदाताओं के शिक्षित होने पर बल

19.8 सारांश

19.9 ई.एम.एस. नम्बूदिरिपादः (साम्यवादी सिद्धान्तवादी)

19.9.1 मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्त

19.9.2 जाति संघर्ष पर

19.9.3 राष्ट्रीय एकता

19.9.4 भारतीय क्रांति की रणनीति

19.9.5 भारत का इतिहास

19.9.6 सारांश

19.9.7 अभ्यास प्रश्न

19.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य भारतीय राजनीतिक विचारक मानवेन्द्र नाथ राय के मुख्य विचारों को जानना हैं उन्होंने अपने जीवन का प्रारम्भ एक मार्क्सवादी चिन्तक के रूप में किया लेकिन कुछ समय बाद मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति अलगाव की भावना आ गई उसमें व्यापक परिवर्तन करने की आवश्यकता पर बल देते हुए नवमानवतावादी दर्शन प्रस्तुत किया। इस अध्याय में आप जान सकेंगे–

- एम.एन. राय ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद मार्क्सवाद से कहां तक सहमत थे और उनका विरोध किन सिद्धान्तों को लेकर था,
- राय का नवमानवतावाद, जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं नैतिक उत्थान पर आधारित है,
- राय ने लोकतंत्र में सुधार के संबंध में भी व्यापक विचार रखे, जैसे उन्होंने शिक्षा पर आधारित मताधिकार का समर्थन किया तथा दलविहीन लोकतंत्र की स्थापना पर बल दिया, जिसको अपना लेने से लोकतांत्रिक विचारधारा को और प्रभावशाली बनाया जा सकता है।
- नम्बूदिरिपाद के विचारों को जान सकते हैं।

19.2 प्रस्तावना

आधुनिक राजनीतिक विचारों में साम्यवादी विचारधारा को सम्मानपूर्वक जाना जाता है। यह एक ऐसी विचारधारा है जो मजदूरों के हितों पर सर्वाधिक बल देते हुए पूंजीवाद का विरोध करती है। कार्लमार्क्स को इसके प्रवर्तक के रूप में स्वीकार किया जाता है। मार्क्स का वर्ग संघर्ष की बुनियाद पर टीका हुआ है। जिसकी बदौलत सम्पूर्ण विश्व में क्रांतिकारी परिवर्तन आये। इस विचारधारा का प्रभाव विश्व की हर व्यवस्था पर पड़ा। भारतीय परिवेश भी इससे अछुता नहीं रहा। भारत में मानवेन्द्र नाथ राय व ई.एम.एस. नम्बूदरिपाद को प्रमुख समाजवादी के रूप में जाना जाता है।

भारत के आधुनिक राजनीतिक चिन्तक के इतिहास में मानवेन्द्र नाथ राय का अग्रणीय स्थान है। उनकी पहचान एक समाजवादी चिन्तक के रूप में होती है। उन्होंने अपना जीवन समाजवाद के प्रचार–प्रसार हेतु समर्पित कर दिया। भारत में साम्यवाद का अध्याय उन्हीं के नाम से प्रारम्भ होता हैं, किन्तु जितनी प्रबलता से उन्होंने साम्यवाद का समर्थन किया उतनी ही प्रबलता से उन्होंने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में उसका विरोध भी किया। जहाँ एक ओर एशिया तथा भारत को साम्यवाद का संदेश उन्होंने दिया वहीं दूसरी ओर उन्होंने सर्वप्रथम साम्यवाद की भर्त्सना कर सारे विश्व को मानवता का संदेश भी दिया। साम्यवाद की त्रिमूर्ति लेनिन, स्टालिन तथा ट्राटस्की के अत्यन्त निकट रहकर तथा मैक्सिको, चीन व भारत को साम्यवाद का मार्ग दिखाकर जिस तरह से मानवीय स्वतंत्र्य का उद्घोष किया उसका दूसरा उदाहरण विश्व में नहीं मिल सकता। उनका नव मानवतावाद भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन की विश्व को एक अनुपम देन हैं। एम.एन. राय के अनुसार,–" नव मानवतावाद मनुष्य की प्रभुसत्ता की घोषणा करता है और बताता है कि विवेकपूर्ण तथा नैतिक समाज सम्भव है। क्योंकि मानव अपनी प्रकृति से विवेकपूर्ण तथा नैतिक है। नव मानवतावाद सर्वव्यापी है।"

19.3 जीवन परिचय

मानवेन्द्र नाथ राय का जन्म 6 फरवरी, 1886 को कलकत्ता के निकट एक गांव में हुआ था। राय का बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य था। प्रारम्भिक शिक्षा घर में सम्पन्न करने के बाद उन्हें स्थानीय पाठशाला में भर्ती करवाया गया। राय के जीवन लेखक "मुंशी और दीक्षित" के अनुसार, "राय का जीवन स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ और स्वामी दयानन्द से प्रभावित रहा।" इस प्रकार राय अनेक क्रांतिकारियों के सम्पर्क में आये जिससे उनके मन में देशभक्ति की भावना को बढ़ावा मिला। एक क्रांतिकारी के रूप में राय को 1910 में हावड़ा काण्ड तथा 1915 में एक राजनीतिक डकैती के सिलसिले में जेल यात्रा करनी पड़ी।

प्रथम महायुद्ध छिड़ जाने के बाद वे भागकर मैक्सिको चले गये। यहाँ उन्होंने समाजवादी शक्तियों को संगठित करने में सक्रिय रूची ली और बहुत कुछ उनके प्रभाव से ही मैक्सिको के समाजवादी आन्दोलन को अन्तरराष्ट्रीय दिशा में मोड़ा गया। 1920 में कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की दूसरी कांग्रेस में उन्होंने भाग लिया। लेकिन इन्टरनेशनल के साथ उनके मतभेद हो गये। इसका मूल कारण औपनिवेशिक देशों में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के प्रति दृष्टिकोण के चलते उन्हें निष्कासित कर दिया।

इसके पश्चात् उन्होंने भारत के राजनीतिक जीवन का पर्दापण किया। 1939 में उन्होंने कांग्रेस के भीतर "लीग ऑफ रेडीकल कांग्रेसमैन" नामक संगठन की स्थापना की। 1940 में उन्होंने मौलाना आजाद के विरूद्ध कांग्रेस अध्यक्ष का चुनाव लड़ा, परन्तु इसमें उन्हें भारी पराजय का सामना करना पड़ा। 1940 में कांग्रेस छोड़कर रेडीकल डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की लेकिन उनकी पार्टी भारतीय राजनीति में कोई विशेष पहचान कायम नहीं कर सकी।

19.4 राय की रचनाएँ

राय प्रतिभाशाली विद्वान और लेखनी के अपूर्व धनी व्यक्ति थे। उनके कुल ग्रन्थों की संख्या 110 है। राय के दार्शनिक विचारों का प्रमुख संग्रह (Philosophical consequences of modern science) नाम ग्रंथ है। यह 9 खण्डों में लिखा हुआ है, उनकी अन्य प्रमुख रचनाएं है।:–

1. दी प्रॉब्ललक ऑफ इण्डिया (1923)
2. इण्डिया इन ट्रांजिशनन (1922)
2. रेडिकल ह्यूमेनिडम पीरा
4. न्यूह्यमेनिडम (नवमानवतावाद)

19.5 राय और मार्क्सवाद

एम.एन. राय ने मार्क्स तथा अन्य समाजवादी लेखकों की रचनाओं का गहन अध्ययन किया था। उन्होंने बहुत शीघ्र ही मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग–सघर्ष के सिद्धान्त पर अधिकार जमा लिया और मार्क्स के दर्शन से प्रभावित थे। उन्होंने मैक्सिको में साम्यवादी दल की स्थापना की और "साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय" के संस्थापक सदस्य के रूप में अपने दृढ़ मार्क्सवादी होने का परिचय दिया। उन्होंने भारत में साम्यवादी आन्दोलन को आगे बढ़ाने का भी कार्य किया।

19.5.1 राय की मार्क्सवाद की आस्था

राय की मार्क्सवादी विचारधारा की प्रमुख रूप से निम्न बातों में आस्था रखते थे–

19.5.1.1 मार्क्स के भौतिकवाद में सम्पूर्ण आस्थाः– मार्क्स के "द्वन्द्ववादी भौतिकवाद" का प्रतिपादन किया था, जिसमें उनकी गहरी आस्था थी। अन्तरराष्ट्रीय साम्यवाद से अलग होने के बाद भी भौतिकवाद में उनकी आस्था बनी रही।

19.5.1.2 मार्क्स की वैज्ञानिक पद्धतिः– राय मार्क्स की वैज्ञानित पद्धति से बहुत प्रभावित थे। राय का मत था कि सर्वाधिक अनुकरणीय और प्रशंसनीय बात वैज्ञानित पद्धति की है।

19.5.1.3 मार्क्सवादी चिन्तन के मूल लक्ष्य में आस्थाः– मार्क्स ने कमजोर दलित एवं श्रमिक के प्रति गहरी सहानुभूति का भाव रखते हुए इस बात की निन्दा की कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शोषण करें। मार्क्स का लक्ष्य शोषण की इस स्थिति को समाप्त कर एक समतावादी समाज की स्थापना करना था। राय मार्क्स के चिन्तन की इस मानवीय तथा उदारवादी प्रवृत्ति और उसके सम्पूर्ण चिन्तन के मूल लक्ष्य के प्रति भारी आस्था रखते थे।

19.5.1.4 मार्क्स के चिन्तन तथा कर्म की एकताः– राय के मार्क्स के सिद्धान्त के उस अंश को स्वीकार किया जो चिन्तन तथा कर्म की एकता पर बल देता है। कोई भी कार्य तभी सफल हो सकता है जबकि सोच–समझकर निश्चित की गई योजना के अनुरूप हो तथा विद्यमान वस्तु स्थिति पर आधारित हो।

19.5.2 मार्क्सवादी सिद्धान्त से असहमति

एम.एन. राय मार्क्स के चिन्तन में गहरी आस्था रखते थे। मार्क्स के सम्पूर्ण चिन्तन को कभी भी स्वीकार नहीं किया। इसलिए मार्क्सवादियों के साथ उनके वैचारिक मतभेद शीघ्र ही शुरू हो गये। राय ने वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने, मार्क्स की विचारधारा को लचीला बनाने और इस विचारधारा को सजीव एवं गतिशील दर्शनन बनाने पर बल दिया। इन्हीं मतभेदों के चलते 1928 में राय को "साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय" से निष्कासित कर दिया। राय ने मार्क्सवादी चिन्तन पर जो असहमति व्यक्त की है, वह इस प्रकार है–

19.5.2.1 द्वन्द्ववाद से असहमति– राय मार्क्स के द्वन्द्ववाद से कभी भी सहमत नहीं हो पाये। राय का मत था कि द्वन्द्ववाद एक वैचारिक प्रक्रिया है। इससे भौतिक जीवन के विविध चरणों और भौतिक स्थिति की व्याख्या नहीं की जा सकती।

19.5.2.2 इतिहास की आर्थिक व्याख्या से असहमतिः– राय मार्क्स की इस बात से सहमत नहीं है किव्यक्ति की नियति का निर्धारण मात्र आर्थिक कारकों से होता है। उनके अनुसार सामाजिक,बौद्धिक, नैतिक कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है।

19.5.2.3 वर्ग–संघर्ष के समाजशास्त्र मे संदेहः– कार्ल मार्क्स ने वर्ग संघर्ष को मानवीय जीवन का मूल तत्व माना है। उनके अनुसार हमेशा से ही समाज में दो प्रतिद्वन्द्वी वर्ग चले आ रहे है, जिनके बीच नियमित संघर्ष चलता रहता है लेकिन राय का मत है कि यदि समाज के वर्गो में संघर्ष रहता तो समाज का अस्तित्व कभी का समाप्त हो जाता। समाज तो आपसी सहयोग, सामाजिक एकता बनाने में सहायक है।

19.5.2.4 मध्यम वर्ग के संबंध में मार्क्स का गलत दृष्टिकोणः– कार्ल मार्क्स मध्यम वर्ग को एक ऐसे अवसरवादी वर्ग के रूप में मानते है जो मौका मिलने पर पूंजीपतियों का साथ देता है। अतः समाजवादी व्यवस्था में मध्यम वर्ग का अन्त हो जाएगा। लेकिन मार्क्स की भविष्यवाणी गलत साबित हुई है इसके विपरीत मध्यम वर्ग एक शक्ति के रूप में उभरा और सामाजिक परिवर्तन में सफल रहा।

19.5.2.5 सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की आलोचनाः– मार्क्स ने पूंजीवादी व्यवस्था के अन्त के बाद "सर्वहारा वर्ग की तानाशाही" की स्थापना का प्रतिपादन किया। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के नाम पर राज्य की तानाशाही स्थापित होगी। इसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं है। राय व्यक्ति की स्वतन्त्रता की दृष्टि से मार्क्सवाद पर आधारित इस सर्वाधिकारवादका विरोध और उदारवाद का समर्थन करते है।

19.5.2.6 मानव तत्व की उपेक्षाः– मानव एक स्वतन्त्रता प्रिय, कल्पनशील और रचनात्मक प्रवृत्ति का प्राणी है, मार्क्सवाद दर्शन में इन पर कोई ध्यान न देकर मानव को साधन मात्र बना दिया गया है। मानव का विकास नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता से ही सम्भव है। मार्क्स वादी दर्शन में व्यक्ति को इस स्वतन्त्रता से वंचित कर समष्टि की वेदी पर व्यक्ति का बलिदान कर दिया गया है।

19.5.2.7 नैतिकता का कोई स्थान नहीं:– मार्क्स ने अपने सम्पूर्ण चिन्तन में नैतिकता को महत्व न देकर भौतिक तत्वों को महत्व दिया है। राय की दृष्टि में मार्क्स का सबसे बड़ा दोष है।

19.5.2.8 शांतिपूर्ण तरीके में विश्वासः– मार्क्सवाद हिंसा और बल प्रयोग की प्रवृति में विश्वास करता है और क्रांति एवं संघर्ष के माध्यम से व्यवस्था में परिवर्तन करना चाहते है। राय भी सामाजिक परिवर्तन के पक्षधर है, लेकिन राय शांतिपूर्ण तरीकों से परिवर्तन लाने में विश्वास करते है।

यद्यपि राय ने मार्क्सवाद के कुछ सिद्धान्त में विश्वास किया लेकिन अपने जीवन काल के अंतिम वर्षों में उनके मन में मार्क्सवाद के प्रति असहमति बनी और मार्क्सवाद का पूर्णतया परित्याग कर एक नवीन विचारधारा "मौलिक मानववाद"के साथ जुड़ गए।

19.6 एम.एन. राय का नवमानवतावाद

नव मानवतावाद या मौलिक मानववाद राय के सम्पूर्ण चिन्तन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है, जिसके माध्यम से राय ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा और नैतिक उत्थान पर बल दिया है। साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय से निष्कासित होने के बाद राय मार्क्सवाद से हटने लगे और भारतीय राजनीति में प्रवेश लेने के पश्चात् उन्होंने पाया कि जब तक भारत में सांस्कृतिक एवं बौद्धिक क्रांति नहीं आयेगी, तब तक भारतीय "मौलिक लोकतंत्र" के सिद्धान्त को नही समझ सकेंगे। इसलिए उन्होंने अपनी समस्त शक्ति बौद्धिक पुनर्जागरण में लगा दी। जिसक उद्देश्य नव मानवतावाद का मार्गप्रशस्त करना था। नव मानवतावाद का प्रतिपादन राय ने अपने ग्रंन्थ New Humanism में किया।

राय ने लिखा है कि "मनुष्य स्वभाव से विवेकपूर्ण और नैतिक है, अतः एक उन्मुक्त और न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में स्वतंत्र है, पर चूंकि समकालीन विश्व का नैतिक और चिन्तन का स्तर गिर चुका है तथा सार्वजनिक जीवन में नैतिक मूल्यों का ह्रास हो चुका है। अतः एक स्वस्थ, उन्मुक्त और न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए हमें कठोर प्रयत्न करने होंगे।" राय ने नव मानवतावाद के प्रमुख तत्व इस प्रकार है–

19.6.1 यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता प्राप्ति का आन्दोलन

राय के अनुसार स्वतन्त्रता मनुष्य स्वभाव का मुख्य गुण है। नव मानवतावाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का आन्दोलन है। स्वतन्त्रता ही व्यक्ति के अस्तित्व का सार है। स्वतन्त्रता के बिना न केवल व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास अवरूद्ध होता है, अपितु राज्य एवं समाज का विकास अवरूद्ध हो जाता है। इसलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए मनुष्य प्रयास करता रहता है। ऐसा स्वतन्त्र व्यक्ति ही न्यायप्रिय समाज को मुख्य आधार प्रदान करता है। राय के आर्थिक स्वतन्त्रता की तुलना में बौद्धिक स्वतंत्रता को सर्वोपरि माना है किन्तु स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रण का अभाव नहीं है। राय के अनुसार स्वतन्त्रता व्यक्ति में चेतना जागृत करती है। जिसके कारण व्यक्ति अपने अधिकारों व हितों के प्रति सजग होता है।

नव मानवतावाद

व्यक्ति की स्वतन्त्रता प्राप्ति का आन्दोलन
विश्वबन्धुत्व की भावना में विश्वास
समग्र आर्थिक विकास पर जोर
मानवीय विवेक में विश्वास
नैतिक व्यक्तित्व की स्थापना
मानव स्वभाव की व्याख्या
व्यक्ति की सत्ता का महत्व
जीवन दर्शन

- ❖ स्वतन्त्रता एवं नैतिकता का उचित समन्वय।
- ❖ बौद्धिक पुनर्जागरण में सहायक।
- ❖ विश्व–बन्धुत्व से ही मानवता का उद्धार संभव।
- ❖ मानव गरिमा को बढ़ाने में सहायक।

19.6.2 मानवीय विवेक में विश्वास

राय के अनुसार मनुष्य स्वभाव से विवेकपूर्ण होता है। बुद्धि व्यक्ति का मौलिक व विशिष्ट तत्व हे। राय व्यक्ति की बौद्धिक शक्ति में पूर्ण विश्वास करता है। ब्राइस थिसिस में राय ने कहा कि व्यक्ति की विवेकशीलता एक सहज गुण है। अन्धविश्वास प्राकृत धर्म के प्रति सुझाव विवेकहीनता का द्योतक है। जैसे–जैसे व्यक्ति ने ज्ञान के आधार पर नवीन अविष्कार किये, वैसे–वैसे अन्धविश्वास के प्रति, उसकी धारणा कम होती है।

19.6.3 विश्व बन्धुत्व की भावना में विश्वास

राय राष्ट्रवाद को एक संकीर्ण विचारधारा मानता है। वे विश्वबन्धुत्व को महता प्रदान करते हुए कहते हैं कि इससे व्यक्ति का सर्वागीण विकास सम्भव हो सकेगा। वह राष्ट्रवाद के बन्धन से परे एक सार्वभौम समुदाय की बात करता है। यह स्वतन्त्र व्यक्ति का समुदाय है जो समस्त विश्व के व्यक्तियों के साथ जुड़ा हुआ है। आज वास्तव में राष्ट्रवाद के अपेक्षा विश्व बन्धुत्व की आवश्यकता है।

19.6.4 नैतिक व्यक्तित्व की स्थापना

राय के अनुसार नैतिकता व्यक्ति का एक स्वाभावित लक्षण हैं यह व्यक्ति में विवेकशीलता का परिणाम है। यदि व्यक्ति नैतिकता विहिन है तो मानवतावादी दर्शन का कोई मूल्य नहीं रह जाता। नैतिकता और विवेकशीलतापूर्ण व्यक्ति ही सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था का निर्माण कर सकत5ा है। व्यक्ति में अच्छाई के प्रति झुकाव किसी भय के कारण नहीं होना चाहिए अपितु स्वाभाविक रूप से होना चाहिए।

19.6.5 मानव स्वभाव की व्याख्या

राय ने व्यक्ति को स्वार्थी नहीं माना है। इनका मानना है कि मनुष्य स्वभाव से विकासवान हैं उसमें विकास की प्रवृति हमेशा रही है। राय के अनुसार मानव स्वभाव के विवेक, स्वतन्त्रता एवं नैतिकता प्रमुख तत्व है। जैसे व्यक्ति होंगे वस्तुतः वैसा ही समाज होगा अर्थात् श्रेष्ठ व्यक्ति समाज का आधार होता हैं इसमें व्यक्ति बर्बरता से सभ्यता की ओर बढ़ता है और नव मानवतावाद की स्थापना शिक्षित प्रबुद्ध एवं अच्छे स्वभाव वाले व्यक्तियों के माध्यम से ही हो सकती है।

19.6.6 समग्र आर्थिक विकास पर जोर

राय का मानवतावाद व्यक्ति के आर्थिक पक्ष को भी महत्वपूर्ण मानता है। वह एक ऐसे समाज की रचना करना चाहता है, जिसमें किसी भी व्यक्ति का शोषण नहीं हो और सम्पूर्ण समाज का आर्थिक विकास हो। सभी व्यक्ति एक–दूसरे का सहयोग करें न कि प्रतिस्पर्धा। राय व्यक्ति को एक आर्थिक इकाई नहीं मानते है। उनका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के विकास के लिए समान अवसर प्राप्त हो ताकि समाज में बढ़ती आर्थिक समानता को समाप्त किया जा सके। सम्भवतः राय में यह विचार मार्क्सवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप आये।

19.6.7 व्यक्ति की सत्ता महत्व

राय के अनुसार व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। मानव जीवन अपने आप में पूर्ण है। व्यक्ति ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है। राय के अनुसार व्यक्ति समस्त राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं का मूल आधार हैं ये संस्थाएँ व्यक्ति को स्वतन्त्र बनाए रखने में सहयोग करती है। यही एम.एन. राय के नव मानवतावाद के दर्शन का आधार है। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं नैतिक संबंध इस तरह से निर्धारित किये जाएं कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता को महत्व मिले।

19.6.8 नव मानवतावाद एक जीवन दर्शन

राय द्वारा प्रतिपादित नव मानवतावाद का सिद्धान्त केवल दर्शन पर आधारित न होकर व्यक्ति जो जीवन जीना सिखाता है क्योंकि इसमें व्यक्ति को केन्द्र बिन्दु मानकर उसकी गरिमा को बढ़ाने पर बल दिया गया है।

राय यह नहीं मानते है कि सृष्टि का निर्माण किसी देवी शंक्ति से हुआ है। उनका स्पष्ट मत है कि व्यक्ति ही मानव जाति का मूल है। राय ने अपने दर्शन में विवेकशीलता, नैतिकता, वैज्ञानिकता, बौद्धिक शक्ति, स्वतन्त्रता, विश्व बन्धुत्व की भावना आदि को प्रमुख स्थानदिया है। राय के लोगों के प्रेम व विश्वास पर आधारित समुदाय निर्माण की बात कही, जिसमें मानव अपना जीवन सुखमय बना सके। इस प्रकार नव मानवतावाद राय की मुख्य देन है, जिसका मूल आधार स्वतन्त्रता, बौद्धिक शक्ति एवं नैतिकता है, जो मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं में है।

19.7 मानवेन्द्र नाथ राय के लोकतंत्र संबंधी विचार

मानवेन्द्र नाथ राय मनुष्य को नैतिक इकाई के रूप में स्वीकार करते हैं और इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि इस नैतिक मनुष्य का विकास स्वतन्त्रता के आधार पर ही सम्भव है। इसके अलावा राय के नव मानवतावाद का लक्ष्य लोकतंत्र में ही प्राप्त किया जा सकता है। इस तरह राय ने "उदारवादी लोकतंत्र" का समर्थन किया है। लेकिन उनका कहना था कि वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था दूषित है और इससे हमारे मन–मस्तिष्क में लोकतंत्र के प्रति आस्था को आघात पहूँचा है। इसीलिए उन्होंने लोकतंत्र के स्वरूप में भारी परिवर्तन की आवश्यकता बतायी। उनके द्वारा लोकतांत्रिक व्यवस्था की जो रूपरेखा प्रस्तुत की गई, उसे वे "संगठित लोकतंत्र" का नाम देते है। लोकतंत्र को सुदृढ़ करने हेतु राय द्वारा दिये गये सुझाव निम्नलिखित है–

19.7.1 जन समितियों के माध्यम से समस्त कार्यों का सम्पादन

राय ने अनुभव किया कि वर्तमान समय की लोकतान्त्रिक व्यवस्था में राजनीति सत्ता केन्द्रीत हो गई और इसमें योग्य व्यक्तियों के चुने जाने की कोई गुंजाइश नहीं है। वे जनता के बौद्धिक और नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने की आवश्यकता का अनुभव करते है और आज की लोकतांत्रिक व्यवस्था के दोषों का निवारण करने के लिए "संगठित लोकतंत्र" का आदर्श प्रस्तुत करते है। जिसका सबसे प्रमुख तत्व है, "जन समितियों के माध्यक से समस्त कार्यों का सम्पादन।"

राजनीतिक दलों के बढ़ते हुए दुष्प्रभावों ने समस्त शासन की विचार शक्ति कुण्ठित कर दी है। "विधि का शासन" मात्र औपचारिक घोषणा रह गयी है, इसलिए वह स्थानीय व्यक्तियों की जन समितियों के द्वारा वर्तमान

प्रजातन्त्र को संगठित करना चाहते हैं और राय इन समितियों को अधिकाधिक कार्य सौंपने के पक्ष में है। ये जन समितियाँ विवेकशील व्यक्तियों के सहयोग से स्थानीय, प्रान्तीय और केन्द्र की सामाजिक संस्थाओं की इकाई के रूप में कार्य करेंगी। इन समितियों के कारण राज्य के सर्वशक्तिमात होने का भय समाप्त हो जाएगा। राय इन समितियों में अधिक से अधिक जनता को भागीदारी सुनिश्चित करना चाहते हैं, ताकि संगठित लोकतंत्र की स्थापना की जा सके।

19.7.2 विकेन्द्रित सत्ता पर बल

राय वर्तमान समय की लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में बढ़ती हुई केन्द्रीकरण की प्रवृति को आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से उचित नहीं मानते। उन्होंने वर्तमान लोकतंत्र में केन्द्रीय सता के स्वरूप को माननीय विकास के मार्ग की भारी बाधा घोषित किया हैं। समाज के मूलभूत पुनर्गठन की आवश्यकता बतलाते हुए विकेन्द्रीकरण पर बल देते है और कहते है कि सता के विकेन्द्रीकरण को अपनाने पर राजनीति के स्थान पर लोक नीति की प्रतिष्ठा सम्भव हो सकेगी।

19.7.3 दलविहिन लोकतंत्र की स्थापना पर बल

राय वर्तमान लोकतंत्र की समस्याओं के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार राजनीतिक दलों को मानते है। इनका प्रभाव इतना ज्यादा हो गया है कि लोकतंत्र "दलतन्त्र" बन कर रह गया है। दलों ने व्यक्ति की प्रेरणा शक्ति और निर्णय शक्ति दोनों को ही कुण्ठित कर दिया है और व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व की कल्पना असम्भव हो गयी है। राजनीतिक दलों का जन हितों एवं जन समस्याओं से कोई वास्ता नहीं है। उनका उद्देश्य केवल सता प्राप्त करना है और इसके लिए वे किसी भी सीमा को लांघ सकते हैं। इसके अलावा विश्व में जो नैतिक पतन हो रहा है इसके लिए राजनीतिक दल ही जिम्मेदार है। अतः राय के अनुसार,–"यदि हमें लोकतन्त्रवाद की रक्षा करनी है तो उसे "दल रहित" बनाना होगा अर्थात् एक दल विहिन लोकतंत्र की स्थापना करनी होगी।"

19.7.4 मतदाताओं के शिक्षित होने पर बल

"संगठित लोकतंत्र" के प्रतिपादन में राय ने मतदाताओं के शिक्षित होने की अनिवार्यता पर बल दिया है, ताकि वे भाषण कला में निपुण नेताओं के बहकावे में नहीं आ सके। वे नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से ईमानदार तथा पक्षपात रहित लोगों को ही शासन का नेतृत्व सौंपने के पक्ष में था। उन्होंने प्रारम्भ में कुशल तथा गुणी शासकों के निर्वाचक के स्थान पर मनोनयन का प्रावधान भी प्रस्तुत किया।

19.8 सारांश

इस प्रकार यह कहा जात सकता है कि मानवेन्द्र नाथ राय के विचार मानवता के कल्याण एवं गरिमा को प्रोत्साहन देने वाले हैं। मार्क्सवादी विचारधारा के विरूद्ध का उनका मुख्य कारण इसका व्यवहारिक होना नहीं था। इसलिए उन्होंने मार्क्सवाद के कुछ बुनियादी सिद्धान्तों की आलोचना की। उनका मत था कि हिंसा या क्रांति के माध्यम से किसी व्यवस्था में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। नवमानवतावादी दृष्टि पूर्णतया स्वतन्त्रता, प्रजातंत्र, विकास, नैतिकता तथा विश्वबन्धुत्व पर आधारित हैं, जिसको अपना लेने से समाज अपने निहित लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है।

यद्यपि वे स्वतंत्र लोकतंत्र के समर्थक थे लेकिन लोकतांत्रिक व्यवस्था में विद्यमान कमजोरियों को देखकर उसमें भी सुधार की आवश्यकता पर बल दिया। उनका मत था कि जब तक शासन में अधिक से अधिक लोगों की भागीदारी सुनिश्चित नहीं होगी तब तक लोकत? के सुखद अनुभूति नहीं की जा सकती, साथ ही साथ राय ने लोकतंत्र के समक्ष चुनौतियों के लिए राजनीतिक दलों को उत्तरदायी माना। इसके लिए उन्होंने दल विहिन प्रजातंत्र के औचित्य पर बल दिया। शिक्षा पर आधारित मताधिकार का समर्थन कर उन्होंने मताधिकार के महत्व को बढ़ाने का प्रयास किया ताकि योग्य एवं प्रतिभाशाली जन–प्रतिनिधित्व का चयन किया जा सके।

19.9 ई.एम.एस. नम्बूदिरिपादः साम्यवाद सिद्धान्तवादी

ईर्नाकुलम मणाक्कल संस्करण नम्बूदिरिपाद (1909–1998) संयुक्त केरल के निर्माताओं में से एक था, वह ऐसा विख्यात, साहसी और समपर्पित समाजवादी, इतिहासकार और मार्क्सवादी सिद्धान्तवादी था जिसने भारत के साम्यावादी आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। उनका जन्म वर्तमान मालापुरम जिला के पेरिन्थल मन्ना मालुक में हुआ। अपने प्रारंभिक वर्षो में वह यू.टी. महाश्रीपाद और कई अन्यों के सानिध्य में था और पार्टी में जातिवाद और प्रतिक्रियावादी रूढ़िवादी के रूप में विद्यमान थे। यह "योग क्षेम सभा" प्रगतिशील युवकों के संगठन के पदाधिकारियों में से एक पदाधिकारी बना अपने कालेज दिनों क दौरान वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और स्वतंत्रता

संघर्ष से जुड़े रहा। 1934 में वह कांग्रेस समाजवादी पार्टी में शामिल हो गया और बाद में वह केरल राज्य कांग्रेस के सचिव चुना गया। नम्बूदिरिपाद को व्यापक रूप से सबसे अधिक बुद्धिमान कुशाग्र राजनीतिज्ञ के रूप में माना जाता था जिसका सम्पूर्ण 1970 के दशक में केरल और दक्षिण भारत की राजनीति में बड़ा प्रभाव रहा। प्रमुख सी. पी.एम. नेता, ज्योति बसु और नम्बूदिरिपाद को भारत में सक्रिय राजनीतिक नेताओं में सबसे अधिक सम्मान प्राप्त है। सी.पी.आई. के 1964 के विभाजन के बाद पार्टी पर उसका प्रभुत्व रहा और उसने सक्षम युवा वर्ग के नेताओं को आकर्षित किया। वे सी.पी.एम. पार्टी के थे जो पूर्व सोवियत संघ और लोकतंत्रात्मक गणतंत्र चीन द्वारा प्रभावित हैं।

ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद साम्यावादी पार्टी के अधिक उग्रवादी विंग के थे। वे 1962 में चीन–भारत–सीमा युद्ध के बाद कांग्रेस द्वारा अपनाई गई कठोर चीन विरोधी विदेश नीति से और 1959 में केरल में सी.पी.आई. के नेतृत्व की सरकार को हटाने में कांग्रेस की भूमिका से विक्षुब्ध थे।

ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद इस विचार का समर्थन करते हैं कि मार्क्स और लेनिन के विचार आधारित कामगार क्रान्ति की तुलना में माओवादी धारणा की किसान आधारित क्रान्ति भारतीय परिस्थिति के लिए अधिक प्रासंगिक थी। वे समाजवादी विचारों के प्रति समर्पित रहें और पद दलित श्रमिक वर्ग के प्रति उनके स्नेहभाव ने उन्हें साम्यवाद में शामिल होने के लिए प्रेरित किया। इसके लिए उन्हें कई वर्षों तक गुप्तवास पर रहना पड़ा। भारत को 1947 में स्वतंत्रता मिली और 1956 में केरल राज्य का गठन हुआ। 1957 में ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद के नेतृत्व में राज्य में रहले चुनाव ने साम्यवाद की विजय प्राप्त हुई। शीघ्र ही उसने क्रान्तिकारी भूमि सुधार अध्यादेश और शिक्षा बिल लागू किया। जो वास्तव में उनकी सरकार की बरखास्तगी का कारण बना। ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद शक्ति और संसाधनों के विकेन्द्रीकरण तथा केरल साक्षरता आन्दोलन के भी प्रबल समर्थक था।

ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद को "फ्रण्ट लाईन मैगजीन द्वारा "चिन्तक,.....,इतिहास निर्माता, महानतम साम्यवादी नेता जिसे भारत ने देखा है, साम्राज्यवाद विरोधी और स्वतंत्रता सेनानी, सामाजिक सुधारक, लेखक, पत्रकार और सिद्धान्तवादी" के रूप में चित्रित किया गया था। "के.आर. नारायणन, तत्कालीन भारत के राष्ट्रपति ने उसे "दुर्लभ दृष्टि, कुशाग्र बुद्धि और दृढ़ संकल्प के व्यक्ति के रूप में" वर्णित किया है। वह विद्वान, इतिहासविद और पत्रकार था। इस सबके ऊपर लोगों का और अपने नेताओं का भी शिक्षक था। कई दशकों से अपने अंतिम दिनों तक उसने अपनी बौद्धिक स्थिति और समृद्ध भारतीय राजनीतिक, भारतीय राजनीतिक विचारधारा की महानपैठ से सामाजिक राजनीतिक परिदृश्य का विश्लेषण किया।" सी.पी.आई. के महासिचव वर्धन ने कहा, "यह निश्चित था, नम्बूदिरिपाद के विचारधारा ने केरल को जो आकार दिया, वह आज दिखाई देता है। ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद के विचार और लेखन ने साम्यवादियों की पीढ़ी को प्रभावित किया है। हम सभी ने ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद को पढ़ा है, हमने ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद को सुना है। हम ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद के विरूद्ध लड़े हैं। हम ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद के पीछे खड़े रहे। हम ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद के लिए खड़े हैं और उसके विरूद्ध खड़े हुए। परन्तु हम उसकी कभी भी उपेक्षा नहीं कर सके।"

सच्चे मार्क्सवादी लेनिनवादी के रूप में ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद ने भारत की असाधारण दशाओं को ध्यान में रखते हुए ग्रामीण गरीबों और मजदूरों को मुक्त किया, भूमि सुधार ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद की साम्यवादी विचारधारा की महान विशेषता थी। उसने भूमि सुधार कानून द्वारा और किसान आन्दोलन को मजबूत बनाकर करवाया, इससे छोटे भूमि धारकों और कृषि मजदूरों की संस्याएँ स्वतः हल हो गई।

उसकी योग्यता के व्यक्ति के लिए साधारणतया भारत में और खासतौर पर केरल में व्यक्तिगत पूंजी सामग्री उत्पादन की ओरलोगों की जागरूकता उत्पन्न होने पर निर्भर था, जैसा कि ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद ने सोचा, ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद निजी क्षेत्र के माध्यम से औद्योगिकीकरण के पक्ष मे थे। उन्होंने कहा, "क्योंकि केरल में सार्वजनिक क्षेत्र के माध्यम से औद्योगिकीकरण की संभावना अधिक उज्जवल नहीं थी। इसलिए हम बारी निजी क्षेत्र को लाए।" पक्ष में थे।

नम्बूदिरिपाद ऐसे साम्यवादी सिद्धान्तवादी थे जिसने भारतीय वास्तविकताओं से मार्क्सवादी सिद्धान्तों को जोड़ने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया में उसने भारतीय परिस्थिति के लिए अपने स्वयं की मार्क्सवादी व्याख्या की। उसने श्रमजीवियों, ग्रामीण श्रमिकों और शोषित कामगारों का समर्थन किया और यही इहिास की सच्चाई है। परन्तु मार्क्सवादी विचारधारा का मध्यममार्गी के रूप में उसने उस समय विद्यमान विशेषकर भारतीय दशाओं में सामाजिक आर्थिक परिवर्तनों का पक्ष लिया। कृषि में उसका तरीका सहकारितावाद का था, उद्योग में, वहसबसे पहले था। जब औद्योगीकरण आरंभ किया गया और उसके बाद उसका सामाजिकीकरण किया गया।

सच्चे मार्क्सवादी के रूप में नम्बूदिरिपाद का विश्वास था कि मार्क्सवाद भिन्न–भिन्न परिस्थिति के अधीन गतिहीन विचारधारा नहीं है, उसकी व्याख्या भिन्न–भिन्न थी,और हो सकती है और सामाजिक आर्थिक परिवर्तन लाने के लिए उसकी कार्य नीति भी भिन्न–भिन्न दशाओं में अलग अलग हो सकती है। इसे इसलिए इस संदर्भ से अलग किया जाना चाहिए। ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद का विश्वास था कि पूर्व सोवियत संघ में परिवर्तनों के बाद 1989 के बाद के वर्षों में सोवियत साम्यवाद पुनः जीवित नहीं किया जा सकता है और कि साम्यवाद को अन्य विचारधाराओं के महत्वपूर्ण आधार तत्वों को अपनाना होगा।

भारत में साम्यवादी पार्टी के भिन्न–भिन्न खंडों में परस्पर विरोधी प्रवृतियाँ थी, क्योंकि देशी और विदेशी सामाजिक संरचनाओं से वैचारिक प्रभावों का सामना करना पड़ रहा था। इसका सुन्दर ढंग से विश्लेषण करते हुए नम्बूदिरिपाद ने कहा, "यहाँ संघर्ष ह्रासमान पुराने देशीय सामाजिक प्रणाली और विदेशी सामाजिक प्रणाली के बीच है जो अभी–अभी विकसित हो रहा है। जबकि दूसरी ओर एक पक्ष नया समाज बनाने के लिए आतुर हैं, दूसरा अपनी सभी की भूमि और पुराने रीति–रिवाज और परम्पराओं की रक्षा करने का इच्छुक है। यह केवल आधुनिक समाज के सार को लागू करना है जो विदेशियों के माध्यम से देश में आया और हमारे समाज का आधुनिकीकरण कर क्या हम विदेशियों के आक्रमणों से अपने देश को बचा सकते हैं।"

साम्यवादी पार्टी के कुछ प्रमुख नेता कांग्रेस पार्टी से कामन फ्रण्ट (आम मोर्चा) बनाने के पक्ष में थे। जिन अधिकारी का विचार था कि मजबूत राष्ट्रीय लोकतांत्रिक आन्दोलन बनाने के लिए और साम्यवादी पार्टी में विघटन रोकने के लिए कांग्रेस पार्टी के वामपंथी ताकतों से सहयोग करना वांछनीय था। इसके बारे में निर्णय पार्टी के विजयवाडा कांग्रेस में भी लिया गया था। सम्मेलन ने संघर्ष और एकता का दृष्टिकोण विकसित करने का निर्णय लिया जो लोकतांत्रिक विरोधी दल की पार्टियों" के साथ लोकतांत्रिक शक्तियों को जोड़ने में संगठन को बल देगा। नम्बूदिरिपाद राजनीति में इसके पक्ष में नहीं थे। नम्बूदिरिपाद के रूख पर टिप्पणी करते हुए, अधिकारी ने कहा, "उसका (नम्बूदिरिपाद) बहुमत के नेतृत्व के प्रति उसकी व्यंग्यात्मक द्वेष के परिणामस्वरूप उसे सिद्धान्त पर सोचने के लिए विवश किया।"

नम्बूदिरिपाद ने, वामपंथियों की लोकतंत्र के दृष्टिकोण को अस्वीकार किया। उसने कहा, पार्टी के आंतरिक मतभेदों की उत्पति और विकास का जिससे पार्टी का विभाजन हुआ, पता लगाया जाना चाहिए, विशेषकर बुरी मंशा, कुछ व्यक्तिशः नेताओं के कुकृत्यों का नहीं बल्थिक कुछ वास्तविक तथ्यों का।"

सी.पी.आई. (एम) के अधिकांश सदस्य केरल में नम्बूदिरिपाद की सरकार गिराने के उसके निर्णय के लिए नेहरू की कांग्रेस सरकार के बहुत कटु आलोचक थे लेनिन के अनुसार, यह सोचना भयंकर गलती होगी कि प्रतिशोध के तरीके प्रति क्रान्ति के विरूद्ध समाजवादी क्रान्तिकारियों और मेन्शेविको का समर्थन का "अस्वीकार" करने की क्षमता क्रान्तिकारी सर्वहारा में नहीं है, अर्थात् समर्थन में उन्होंने बोल्शेविकों को कुचलने में सामने सिपाहियों को गोली मारने तथा कामगारों को निरस्त करने से समर्थन दिया है। पहले, यह नैतिकता की फिलिस्टिन अवधारणाओं को सर्वहारा के लिए प्रयोग कर सकते हैं (क्योंकि उद्देश्य की भलाई के लिए, सर्वहारा सदा न केवल ढुलमुल छोटे बुर्जुआ का समर्थन करते है बल्कि बड़े बुर्जुआ का भी करते है), दूसरा, और यह महत्वपूर्ण बात है– "सदाचारी बनाकर" परिस्थिति का राजनीतिक सार छुपाने के लिए फिलिस्तीनी प्रयास होगा।

दोनों साम्यवादी पार्टियों, सी.पी.आई. और सी.पी.आई. (एम) दोनों के नेताओं में कोई अनुकूल वैचारिक दृष्टिकोण नहीं रहा है। इन दोनों दलों के विलय के बारे में नम्बूदिरिपाद के ढुलमुल रूख ने बहुत भ्रम पैदा किया। "विकास के गैर–पूंजीवादी पथ" के पुराने नारे को जैसा भारत पर लागू किया था, सी.पी.आई. द्वारा कलकता में 1989 में अपने चौदहवें कांग्रेस में त्याग दिया। यह सामयिक मुद्दों के प्रति पार्टी के साम्राज्य विरोधी, संघ विरोधी और एकाधिकार विरोधी दृष्टिकोण पर बल देता है। हम अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर सी.पी.आई. (एम) में वामपंथी नेताओं द्वारा सुस्पष्ट भिन्न दृष्टिकोण भी देख सकते है। उदाहरण के लिए, 1989 में त्रिवेन्द्रम में सी.पी. आई.(एम) के तेरहवं कांग्रेस ने नम्बूदिरिपाद ने माइविल गोर्वाचोव प्रशासन की नीतियों का पूरी तरह से समर्थन किया था जबकि एक अन्य नेता, सी.टी. रणदिवे इसका बहुत आलोचक था।

नम्बूदिरिपाद के बारे में इन सन्दर्भों के बाद, मार्क्सवादी–लेनिनवावदी सिद्धान्त भारतीय इतिहास, भारत में जाति और राजनीति, राष्ट्रीय एकता और एकता तथा ऐसे ही मुद्दों के बारे में उसके कुछ विचारों और रूख का संक्षिप्त विश्लेषण करना वांछनीय होगा। चार दशकों तक देश भर में वाम आन्दोलन से उसका संबंध वाम और लोकतांत्रिक आन्दोलन के लिए वरदान था। आइए, उसके कुछ विचारों पर संक्षेप में चर्चा करें।

19.10.1 मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्त

नम्बूदिरिपाद के अनुसार, विश्व के भिन्न भिन्न भागों में राष्ट्र राज्य प्रणालियों पर पूंजीवादी प्रभुत्व के अंत की शुरूआत प्रथम विश्व युद्ध से हुई। रूस के अक्टूबर क्रान्ति में साम्यवाद की विजय से मानवता के इतिहास ने पहली बार देश की पूंजीवाद संरचना

पर श्रमजीवी वर्ग की विजय देखी। रूसी क्रान्ति की स्थिर स्थायी भावना ने न केवल पूर्वी यूरोप को प्रभावित किया बल्कि अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली के मुख्य भाग को भी प्रभावित किया। उन्होंने विश्व के राजनीतिक मानचित्र को ही पूंजीवाद से समाजवाद में बदल दिया।

पूंजीवाद और मार्क्सवाद लेनिनवाद सिद्धान्त के संघर्ष के बारे में चर्चा करते समय, नम्बूदिरिपाद ने कहा, "इन संघर्षों में न केवल विद्यमान उत्पादों के बहुत बड़े भाग को ही, बल्कि पहले निर्मित उत्पादन शक्तियों को भी आवधिक रूप से नष्ट किया गया। इन संकटों में महामारी छिड़ गई, जो पिछले पूरे समय में अति उत्पादन की महामारी से, समाज ने अचानक अपने आपको क्षणिक बर्बरता में पाया, यह ऐसा प्रतीत हुआ जैसे दुर्भिक्ष है, विनाश का विश्वव्यापी युद्ध है जिसने जीवन के सभी साधनों की आपूर्ति की लाईन काट दी है, उद्योग और वाणिज्य नष्ट हो गए प्रतीत हुए, और क्यों? इसका कारण था बहुत अधिक सभ्यता, बहुत अधिक जीविका के साधन, बहुत अधिक उद्योग, अधिक व्यापार। "मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक कैपिअल में इस संकट पर विचार किया है, न केवल दोनों मार्क्स और एन्जेल, चक्रीय संकटों के पुनरावर्तन के बारे में चर्चा की है जो धीरे–धीरे उसके अपरिहार्य विनाश की ओर ले जाएगा अपितु यह भी उल्लेख किया है, जो पूंजीवाद के गर्भ से उत्पन्न होता है, वह स्वतः ही पूंजीवाद को समाप्त कर देना। मार्क्स ने कहा, "न केवल सर्वहारा वर्ग ने वे अस्त्र उठाए हैं जो स्वतः मृत्यु लाएँगे बल्कि उन मनुष्य के अस्तित्व को ही ललकारा है जिन्होंने अर्थात् आधुनिक श्रमजीवी वर्ग, सर्वहारा वर्ग ने काम में लाना है।"

नम्बूदिरिपाद के अनुसार, कई राष्ट्रों वाले समाजवादी कैम्प के गठन से अंततः उपनिवेशी प्रणालियों की वास्तविक समाप्त होगी। विश्व की राजनीतिक परिदृश्य का विश्लेषण करते समय उन्होंने हमें समाजवादी विश्व के देशों की कमजोरियां और कठिनाइयों से अवगत कराया। उसने कहा कि "समाजवादी विश्व मानवता के सागर में द्वीप नहीं हैं।" यह पूंजीवादी विश्व के साथ रहता है।" यद्यपि पूंजीवादी विश्व पर अपना प्रभाव डालना समाजवाद के लिए संभव है, इसके साथ ही पूंजीवादी विश्व के प्रभाव का होने का भी खतरा है।" पूंजीवाद विश्व में वर्तमान संघर्ष का प्रभाव समाजवादी विश्व पर पड़ना निश्चित है। इसलिए सावधानी के साथ यह देखना चाहिए कि आर्थिक योजना में संतुलित और समानुपाती विकास के जाँचे परखे सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाए।

उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि समाजवादी विकास कार्यक्रमों को दीर्घकालीन संभावनाएँ भूमि सहित सोपान–दर–सोपान राष्ट्रीकरण, समश्टिवाद, और उत्पादन के सभी साधनों और उपायों के सामाजिक नियंत्रण पर आधारित होना चाहिए। उन्होंने पार्टी और पार्टी नेतृत्व दोनों का विदेशी वर्ग विचारधारा के उन बुरे प्रभावों से लड़ने के श्रेष्ठ कार्य की उपेक्षा न करने की चेतावनी दी जो लोगों की धार्मिक कट्टरता सहित विभिन्न विचारों में प्रगट होते हैं। नम्बूदिरिपाद का यह विश्लेषण अब दर्शाता है कि किस सीमा तक उसका दर्शन समसामयिक समाज के लिए कितना प्रासंगिक हुआ है।

19.10.2 जाति संघर्ष पर

नम्बूदिरिपाद ने कहा कि "पीढ़ियों पुरानी" ग्राम प्रणाली की समाप्ति और ब्रिटिश प्रशासन द्वारा नए पूंजीवाद के विकास के फलस्वरूप भारतीय समाज औरराजनीति में स्पष्ट रूप से दो विरोधाभासी लक्षण उत्पन्न हुए। वर्ग के रूप में श्रमजीवीवर्ग का अविर्भाव और श्रमजीवी वर्ग की एकता का विघटन जैसा "पिछड़ी" और "अगड़ी" जातियों के बीच बढ़ते संघर्ष में देखा गया है। ये तनाव, राष्ट्रीय आन्दोलन में बनाए गए थे जिसमे नेताओं ने बहुधा "युगों पुरानी" भारतीय सभ्यता और संस्कृति को पुनर्जीवित करने पर महत्व दिया, इससे जातियों की पदानुक्रमिक प्रणाली में समाज के विभाजन को बल मिलता हैं उसने भारतीय राजनीति की दो विरोधाभासी विशेषताओं की चर्चा की, भूतालिंगम रिपोर्ट और 1973 में औद्योगिक संबंध विषयक विधेयक के विरूद्ध श्रमजीवी वर्ग की बढ़ती हुई एकता और "पिछड़े" तथा "अगड़े" समुदायों की बीच बढ़ते हुए संघर्ष। उसने हमें स्वरूप और इन दो संघर्षो की गहराईकी उचित समझ लेने की सलाह दी, और दमन का प्रतिरोध करने की भी सलाह दी, जो "उच्च" और "निम्न" जातियों में तनाव और संघर्ष उत्पन्न करने के सहायक कारकों में से एक कारक के रूप में कार्य करता है। उसने देश के भिन्न भिन्न भागों और गैर ब्राह्यमण आन्दोलनों का उल्लेख किया। यह स्मरण

करना महत्वपूर्ण है कि अब तक दमित जातियों के समुदायों के लाखों लोगों द्वारा किए गए संघर्ष अब धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र के संघर्ष का अभिन्न अंग बन गया है। इसलिए यह निष्कर्ष निकालना युक्तिसंगत होगा कि "पिछड़े वर्ग" समुदायों द्वारा किए गए आरक्षण की माँग ही होगी।

19.10.3 राष्ट्रीय एकता

स्वतंत्रता संग्राम के महत्वपूर्ण उद्देश्यों में से एक उद्देश्य ब्रिटिश प्रशासन के विरूद्ध विद्रोह बैनर के नीचे विभिन्न जातियों, धार्मिक समुदायों और भाषायी समूहों में एकता लाना था। समाजवाद ने बुरी प्रथाओं, जैसे छुआछूत और महिलाओं की अधीनस्थ स्थिति हटाने को भी महत्व दिया। कांग्रेस के भावनगर अधिवेशन (1961) में इस पहलू पर जोर दिया गया। इसमें कहा गया, "राजनीतिक और सामाजिक कार्यों के आवरण में सम्प्रदायवाद, जातिवाद, प्रान्तवाद और भाषावाद कुछ मात्रा में पुनः प्रगट हुए हैं। सम्प्रदायवाद जिसने विगत में राष्ट्र को इतनी हानि पहुँचाई, पुनः दिखाई देने लगा है और प्रतिक्रियात्मक प्रवृतियों को प्रोत्साहित करने के लिए इस एकता को क्षति पहुँचाकर लोकतांत्रिक साधनों का उपयोग कर रहा है। प्रान्तीयवाद और भाषावाद ने भी उन उद्देश्यों पर प्रतिकूल प्रभाव डाला जिनके लिए कांग्रेस दशकों से लड़ रही थी इसलिए अत्यधिक महत्व है कि इन बुराइयों को समाप्त करने के लिए हर संभव प्रयास किए जाने चाहिए और इस संकल्प को स्वीकृति के बाद राष्ट्रीय एकता समिति की नियुक्ति की गई।

नम्बूदिरिपाद ने कहा कि "बहुसंख्यकों के पुनर्जागरणवाद ने अनिवार्यतः हिन्दू सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण को "राष्ट्रीयवाद" का आधुनिक "धर्मनिरपेक्ष" का चोला दिया। अल्पसंख्यकों का पुनर्जागरणवाद, दूसरी ओर खुले तौर पर साम्प्रदायिक आधार था।" उसने पुनर्जागरणवाद को राष्ट्रीय एकता के लिए गंभीर खतरे के रूप में माना।

राष्ट्रभाषा के मामलें में राष्ट्रीय बुर्जुआ का विश्वासघात और भाषाओं तथा भिन्न भाषा भाषी राज्यों की समस्याओं क लिए लोकतांत्रिक दृष्टिकोण के परित्याग ने लोगों के बीच बढ़ते हुए राजनीतिक असंतोष को उत्पन्न किया हैं। इसके अलावा, आर्थिक विकास कार्यक्रम लोगों के बीच असमानता समाप्त नहीं कर सके। जनप्रतिनिधियों की बढ़ती हुई शक्तियाँ, लोगों के आधारभूत अधिकारों की बहाली, जनविरोधी उपयों की समाप्ति, जनजाति क्षेत्रों के लिए क्षेत्रीय, स्वायतता, धर्म, जाति और लिंग का लिहाज किए बिना सभी नागरिकों के लिए समान अधिकार, माध्यमिक स्तर तक निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा, जनसांस्कृतिक कार्यक्रमों और सभी क्षेत्रों में संसाधनों का समान वितरण कुछ ऐसे उपाय हैं जिन्हें उन्होंने महत्व दिया।

नम्बूदिरिपाद समाज में महिलाओं के प्रति निन्दनीय व्यहार के बहुत अधिक आलोचक थे। उन्होंने कहा कि समाज को आधुनिक बनाया जाना है, यदि हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई और अन्य महिलाएं यहां तक कि हिन्दुओं में भी पुरूषों के समान अधिकार सम्पन्न हो, आधुनिक एकविवाही परिवार के विशेषाधिकार का उपयोग किया जाना चाहिए। महिलाओं के संघर्ष को महिलाओं द्वारा आगे बढ़ाया जाना चाहिए "महिलाएं जैसा कि परिश्रमी वर्गों, श्रमजीवी वर्गों, किसानों के अभिन्न अंग के रूप में महिलाओं के संगठन की भूमिका पर जोर देते हुए उन्होंने कहा कि संगठनों को भी यह महसूस करना चाहिए कि समानता के लिए उनके अपने स्वयं के संघर्ष के तभी सफल परिणाम हो सकते हैं यदि श्रमजीवी लोगों के आम संगठननों को सुदृढ़ किया जाता है यदि वे पुरूष और महिला दोनों अपने अपने ट्रैक ग्रहण करते हैं।"

19.10.4 भारतीय क्रान्ति की रणनीति

"दक्षिण पंथी" साम्यवादी पार्टी के राष्ट्रीय परिषद द्वारा अक्टूबर 1971 में कोचीन में आयोजित अपने कांग्रेस के लिए तैयार किए राजनीतिक संकल्प मसौदा में कांग्रेस के नेतृत्व में केन्द्र में वामपंथी और लोकतांत्रिक सरकार पर बल दिया गया। उन्होंने अधिकारिक तौर से इसे "कांग्रेस के अंदर और बाहर वामपंथी लोकतांत्रिक शक्तियों" का गठबंधन कहा। नम्बूदिरिपाद इस दृष्टिकोण का कटु आलोचक था। सी.पी.आई. (एम) ने "कांग्रेस द्वारा शासित और उसके शासक वर्गों की सभी पार्टियों द्वारा निरूपित प्रतिक्रिया के पूरे गुट के विरूद्ध संघर्ष का आह्वान दिया। उन्होंने जनता के मुख्य शत्रुओं – देश के अंदर साम्राज्यवादी या विदेशी एकाधिकार सामंतवाद या सभी परिचित सामाजिक–सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संस्थाओं और विदेशी सहयोग से तेजी से बढ़ते हुए एकाधिकारवादी पूंजी के विरूद्ध समन्वित राजनीतिक संघर्ष की वकालत की।

वे विश्व समाजवादी आन्दोलन के प्रति श्रमजीवी वर्ग के सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयवाद के बारे में सुनिश्चित थे। उन्होंने कहा कि "भारतीय क्रांति पूंजीवाद से समाजवाद के संक्रमण की ऐसी प्रक्रिया का अभिन्न भाग है जो विश्वव्यापी मात्रा में होती है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि भारत इस संक्रमण के लिए तैयार हे। भारत को एक अन्य क्रांति से गुजरना है जो पूंजीवाद से समाजवाद में संक्रमण के लिए मुख्य पूर्व शर्त है।

19.10.5 भारत का इतिहास

नम्बूदिरिपाद की राय थी कि यद्यपि इतिहासकार "निष्पक्ष", "विषयपरक", ओर केवल "सत्य की खोज" करने के इच्छुक होने का दावा करते हैं, उनका कार्य अनिवार्यतः उस वर्ग के दर्शन को प्रतिबिम्बित करता है जिसके वे होते हैं। कुछ इतिहासकार खास धार्मिक समुदायों, क्षेत्रीय, भाषायी या सांस्कृतिक समूहों या समुदायों का पक्ष लेते हैं। प्रायः भिन्न–भिन्न इतिहासकारों के परस्पर विरोधी विचार इतिहास की खास विचारधारा, सामाजिक तनाव और अस्थिरता पैदा करती है। बहुधा उनके लेख भारत के इतिहास और संस्कृति की समस्याओं के प्रति उनके दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करते हैं। उन्होंने कहा, "इतिहासकार उनसे भिन्न जो ऐतिहासिक भौतिकतावाद के सिद्धान्त द्वारा निर्देशित होते हैं, वे इस तथ्य से बाधित हो जाते हैं कि वे मानव समाज का इतिहास इस रूप में नहीं देखते हैं, जिससे प्रकृति के विरूद्ध मनुष का संघर्ष रहा और इस दौर में समाज के अन्य सदस्यों से पारस्परिक संबंधों मे प्रवेश करता हो। न ही उन्होंने सोचा कि ये पारस्परिक प्रतिक्रियाएं वह होती हैं जिसे शोषण और शोषित वर्गों के बीच संघर्ष के संबंधों के रूप में जाना जाता है। इसलिए यह वास्तव में आवश्यक है कि सभी मानव समाजों के इतिहास को वगर्ब संघर्ष के इतिहास के रूप में देखा जाए। भारत के इतिहास का अध्ययन का उल्लेख करते समय, ब्रिटिश समाज से पहले का स्वरूप, उसकी दुर्बलता, इन दुर्बलताओं की वृद्धि, विद्यमान सामाजिक आर्थिक संरचनाओं और राजनीतिक शासन व्यवस्थाओं को समझने की खोज से शुरू करना चाहिए।

ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद का राजनीतिक दर्शन, वास्तव में, सामयिक समाज के समाज विज्ञान के विकास के लिए मूल्यवान योगदान है।

19.10.6 सारांश

भारत में साम्यवादी विचारधारा की जड़े मार्क्सवादी–लेनिनवावदी विचारधारा में है। भारत मे साम्यवादी आन्दोलन, यद्यपि मार्क्सवादी विचारधारा का अनुसरण करता है, परन्तु निश्चित भारतीय दशाओं में आगे बढ़ा है। भारतीय साम्यवादी पार्टी के जन्म से पहले प्रारम्भिक साम्यवादी साम्राज्यवाद विरोधी थे। इसलिए उन्हें कारावा (कानपुर, मेरठ मामलों में) की सजा भुगतनी पड़ी। सी.पी.आई. ने अपने प्रारंभिक वर्षों में कामगारों और किसानों को संगठित करने में कुछ प्रभावकारी ढंग से कार्य किया। उसे अपने विकासक्रम के मार्ग में विभाजन (सी.पी.आई. और सी.पी.आई. (एम)) भी देखना पड़ा। यह समाजवादी समाज की स्थापना के लिए दृढ़

रहा। और साम्राज्यवाद रहित और शोषणयुक्त समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीयवाद का प्रयत्न करते रहा। भारतीय मार्क्सवादी कभी भी मार्क्सवाद का रूढिवादी अनुयायी नहीं थे। एम.एन. राय सैद्धान्तिक रूप से मार्क्सवाद से रूढ़िवादी मानवतावादी बने, जब कि ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद ने व्यावहारिक रूप में भारत में, विशेषकर केरल में आधुनिक विकसित समाज का प्रयास किया।

19.11 अभ्यास प्रश्नावली

1. एम.एन. राय के नव मानवतावाद पर लेख लिखिए।
2. एम.एन. राय के मार्क्सवाद संबंधी विचारों की समीक्षा कीजिए।
3. राय के संगठित लोकतंत्र संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिए।
4. राय मार्क्सवाद के किन सिद्धान्त पर सहमति व्यक्त करते है।
5. नव मानवतावाद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
6. राय के दलविहिन लोकतंत्र का विचार स्पष्ट कीजिए।
7. नव मानवतावाद मानव जीवन का दर्शन किस प्रकार है?
8. "राय के राष्ट्रवाद के स्थान पर अन्तरराष्ट्रीयवाद का समर्थन किया है।" सिद्ध कीजिए।
9. राय के जन समितियों का महत्व किस प्रकार स्वीकारा है।
10. नव मानवतावाद का प्रतिपादन किसने दिया?

11. राय ने अपनी कौनसी रचना में नव मानवतावाद का प्रतिपादन किया?
12. नव मानवतावाद का मूल आधार क्या है?
13. राय में मार्क्सवाद के प्रति विरोध का मूल कारण क्या था?
14. राय के किस पार्टी की स्थापना की थी?
15. लोकतंत्र के सुधार की योजना को नाम देते हैं?
16. एम.एन. राय की जीवनी के लेखक कौन है? संक्षेप में भारत में साम्यवादी आन्दोलन के विकास का विवरण दीजिए।
17. समाजवाद और साम्यवाद में अंतर बताइए।
18. एम.एन. राय किस सीमा तक मार्क्सवाद से प्रभावित हुए थे? किस आधार पर मार्क्सवाद से उनका मतभेद हुआ?
19. उग्र मानवतावाद पर एम.एन. राय के क्या विचार थे?
20. भारत में साम्यवादी विचारधारा के संबंध में ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद के योगदान का उल्लेख कीजिए।
21. स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले और उसके बाद भारतीय साम्यवाद का विवरण प्रस्तुत कीजिए।

अध्याय-20
डॉ.राम मनोहर लोहिया

संरचना

20.1 उद्देश्य

20.2 प्रस्तावना

20.3 जीवन परिचय

20.4 डॉ. राम मनोहर लोहिया के सामाजिक विचार

20.4.1 वर्ण व्यवस्था का विरोध

20.4.2 सामाजिक विषमताओं और प्रहार

20.4.3 सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार कर्म होना चाहिए, न कि जन्म

20.4.4 जाति प्रथा के उन्नमूलन हेतु सुझाव

20.4.5 आर्थिक दृष्टि से जाति प्रथा तोड़ने पर बल

20.4.6 विशेष अवसर का सिद्धान्त

20.5 डॉ. लोहिया के समाजवाद संबंधी विचार

20.5.1 लोकतंत्र एवं स्वतन्त्रता के हित पोषक

20.5.2 व्यावहारिकता परबज

20.5.3 समाजवाद की नवीन प्रकृति देने का प्रयास

20.5.4 समाजवाद को नवीन चिन्तन एवं कर्म की आवश्यकता

20.5.5 विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के समर्थक

20.6 राजनीतिक विचार

20.6.1 राजनीति इतिहास की समाजवादी व्याख्या

20.6.2 चौखम्भा–योजना का स्थान

20.6.3 वाणी–स्वतन्त्रता और कर्म–नियन्त्रण का सिद्धान्त

20.6.4 जन–शक्ति का समर्थन

20.6.5 व्यक्ति और समाज के संबंधें की विवेचना

20.7 मौलिक अधिकार संबंधी विचार

20.7.1 बौद्धिक स्वतन्त्रता के अधिकार का समर्थन

20.7.2 अत्याचारी एवं अन्यायी कानूनों का प्रतिरोध करने का अधिकार

20.7.3 धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार

20.7.4 समता का अधिकार

20.8 डॉ. लोहिया के अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था संबंधी विचार

20.9 सारांश

20.10 अभ्यास प्रश्नावली

20.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य डॉ. राममनोहर लोहिया के विचारों का जानना है ताकि एक राजनीतिक चिन्तक के रूप में उनके द्वारा प्रदत्त योगदान को जाना जा सके और उनको अपनाकर लोहिया के सपनों को साकार किया जा सके। इस अध्याय में आप जान संकेगें–

- डॉ. लोहिया के सामाजिक विचार, जो वर्ण, जाति तथा विषमताओं पर प्रहार आधारित हैं,
- लोहिया के समाजवादी संबंधी विचार, जिनसे भारत में समाजवाद की परिभाषा ही बदल गयी और आम नागरिक को समाजवाद को जानने का अवसर मिला और बड़ी संख्या में लोग जुड़े, जो लोकतंत्र पर आधारित है,
- राजनीति के संबंध में उनके विचारों में चौखम्भा योजना अत्यन्त महत्वपूर्ण हो, जिसको अपनाने से विकेन्द्रीकरण को प्रोत्साहन दिया जा सकता है,
- उनके मौलिक अधिकार संबंधी विचार,
- अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था के संबंध में उनके विचार भाांति एवं बन्धुत्व पर आधारित है, इन्हें भी जानने का अवसर मिलेगा।

20.2 प्रस्तावना

डॉ. राममनोहर लोहिया आधुनिक भारत के ऐसे प्रतिभाशाली राजनीतिक विचारक थे, जिन्होंने भारत के स्वाधीनता संग्राम और समाजवादी आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभाई। उन्होंने समाजवाद की नवीन व्याख्या भारत और एशिया की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के मद्देनजर की। लोहिया ने भारतीय समाज एवं राजनीति में सुधार की व्यापक योजना प्रस्तुत कर, समाज को गतिशील बनाने का कार्य किया। उन्होंने भारतीय समाज के पतन के लिए सबसे जिम्मेदार जातिवाद एवं वर्णव्यवस्था को माना। उनका कहना था कि इन्होंने सम्पूर्ण समाज को खोखला कर दिया है। आर्थिक असमानता की खाई ओर गहरी एवं चौड़ी होती जा रही है, जिसके लिए कथित उच्च वर्ग एवं जाति के लिए जिम्मेदार है। जिन्होंने समाज के अधिकांश लोगों को अपना दास बना रखा है। डॉ. लोहिया का कहना था कि जाति का आधार कार्य न होकर कर्म होना चाहिए। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन दलितों के उत्थान में बिताया और मरते दम तक दलितों के न्याय एवं अधिकारों के लिए संघर्ष करते रहे।

डॉ. लोहिया को समाजवादी चिन्तक के रूप में जाना जाता है। उनका समाजवादी चिन्तन देश–प्रेम तथा जन–कल्याण की भावना से ओत–प्रोत है। वे न तो मार्क्स से सहमत थे और न ही गांधी से। उनके दर्शन में मौलिकता थी। उन्होंने भारत की पद्दलित एवं पिछड़ी जातियों को देखा। उनकी पीड़ाओं को महसूस किया। वह उनके कल्याण के लिए प्रतिबद्ध हो गये। इस तरह लोहिया ने समाजवादी "समानता एवं सम्पन्नता" के साथ जोड़कर व्यावहारिक रूप दिया। इस तरह डॉ. लोहिया भारतीय समाज के अनुरूप समाजवाद की स्थापना करना चाहते थे।

20.3 जीवन परिचय

राम मनोहर लोहिया का जन्म 10 अक्टूबर, 1910 को अकबरपुर (उत्तर प्रदेश) के एक राष्ट्रवादी परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम हीरालाल एवं माता का नाम चंदा था। लोहिया की प्रारम्भिक शिक्षा अकरबरपुर में सम्पन्न हुई। उसके पश्चात् की शिक्षा बम्बई, कलकता, वाराणसी और बर्लिन के हुम्बर्ट विश्वविद्यालय में "नमक और सत्याग्रह" नामक शोध–प्रबन्ध पर पी.एच.डी. की उपाधि प्रदान की।

लोहिया के विद्यार्थी जीवन में अनेक संगठनों के साथ जुड़कर राष्ट्रवाद एवं स्वतंत्रता प्रेरित गतिविधियों का संचालन किया। 1924 के "गया कांग्रेस अधिवेशन" में पहली बार भाग लिया। 1928 के साइमन कमीशन के विरूद्ध चले आन्दोलन का भी नेतृत्व किया। 1934 में पं. नेहरू के साथ मिल कर "कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी" का निर्माण किया। कांग्रेस पार्टी के अन्तर्गत एक पर राष्ट्र विभाग खोला गया, जिसका मंत्री डॉ. लोहिया को बनाया गया लेकिन 1939 में उन्होंने इस को त्याग दिया। द्वितीय महायुद्ध के शुरू होने के समय डॉ. लोहिया के

स्वतन्त्रता संग्राम को नवीन मोड़ किया। ब्रिटिश सरकार ने उन राष्ट्र विरोधी गतिविधियां संचालित करने का आरोप लगा कर जेल भेज दिया।

देश की आजादी के पश्चात् डॉ. लोहिया के मतभेद कांग्रेस के नेताओं से और अधिक बढ़ने लगे। संविधान सभा, देश विभाजन भावी नीतियों को लेकर उनमें गम्भीर मतभेद पैदा हो गये थे। डॉ. लोहिया ने कई बार पं. नेहरू के विरूद्ध चुनाव लड़ा पर सफलता नहीं मिली। उन्होंने संसद के बाहर रहकर "अग्रेजी हटाओ", दाम बंधो", "जाति तोड़ो", हिमालय बचाओ" आदि आन्दोलन का संचालन किया।

1963 में पहली बार अमरोहा निर्वाचन क्षेत्र में हुए उपचुनाव में विजय होकर लोकसभा में प्रविष्ट हुए। एक सांसद के रूप में उन्होंने गम्भीर एवं संवेदनशील मुद्दो को उठाया। उनका मूल उद्देश्य समता पर आधारित समाज की स्थापना करना और समाज को नवीन दिशा प्रदान करना था। लेकिन इस लोह पुरूष का दिल्ली में 12 अक्टूबर, 1967 को देहावसान हो गया।

20.4 डॉ. राम मनोहर लोहिया के सामाजिक विचार

डॉ. लोहिया ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर कड़ा प्रहार किया। वे हिन्दू होते हुए भी हिन्दू धर्म एवं समाज की मूल मान्यताओं के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने धर्म को ईश्वर तथा आत्मा के साथ न जोड़कर, मानव प्राणियों के कल्याण तथा लौकिक समृद्ध के साथ जोड़ा। वे जाति एवं वर्ण व्यवस्था को कैंसर के समान मानते थे, जिसने भुद्र, कमजोर, दलित एवं महिलाओं के जीवन को नरक बनाया। समाज के कथित उच्च जातियों के लोग निम्न जातियों के लोगों पर अन्याय, अत्याचार एवं शोषण करने से नहीं चुकते है समाज में विद्यमान आर्थिक संसाधन कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रीत हो गये हैं, इससे आर्थिक असमानता को बढ़ावा मिल रहा है। वर्ण या जाति के नाम पर शुद्रों के साथ छुआछुत जैसा अमानवीय व्यवहार किया जा रहा है। इनके कारण समाज विखण्डित नजर आ रहा है। अतः डॉ. लोहिया ने जाति एवं वर्णवाद के निवारण की पहल की और शुद्रों के उत्थान की आवश्यकता पर बल दिया।

20.4.1 वर्ण व्यवस्था का विरोध

डॉ. लोहिया ने यह अनुभव किया कि–"भारत इतने समय तक वर्ण–व्यवस्था के फलस्वरूप तन्द्रा और सड़न की स्थिति में रहा है और अब आन्तरिक असामनता को समाप्त करने का संघर्ष प्रारम्भ हो गया है।" उन्होंने यह नहीं माना कि वर्ण या जाति का आधार स्वभाव या कर्तव्य विभाजन है। वह यह मानते हैं कि वर्ण व्यवस्था बल द्वारा निर्मित की गई एक व्यवस्था है, जिसमें गुण–कर्म का कोई मूल्य नहीं है।

20.4.2 सामाजिक विषमताओं पर प्रहार

डॉ. लोहिया ने यह माना कि भारतीय समाज का पतन यहाँ व्याप्त अनेक विषमतओं के कारण हुआ। उनके अनुसार, सामाजिक विषमतओं में वर्ण–व्यवस्था या जाति–प्रथा, नर–नारी असमानता, अस्पृश्यता, रंगभेद–नीति और साम्प्रदायिकता प्रमुख है। हिन्दू समाज की दुर्दशा के लिए वे ब्राह्मणवाद को उत्तरदायी मानतें है। इसके मूल में ब्राह्मणवाद का षड़यत्र समझ में आया। साथ ही वाणिकवाद की सांठ–गांठ का भी आभास हुआ। दोनों ने मिलकर ही जाति चक्र चना है। यह सामाजिक विषमता उसी का ही परिणाम है। इनसे व्याकुल होकर न समता पर आधारित समाज व्यस्था के पक्षधर थे। अन्य समता की अपेक्षा सामाजिक समता की स्थापना पर अधिक बल दिया।

20.4.3 सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार कर्म होना चाहिए न कि जन्म

डॉ. राम मनोहर लोहिया का मानना था कि सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार कर्म होना चाहिए न कि जन्म। जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय या वेश्य को उच्च समझना जाति प्रथा को बनाये रखना हैं। एक व्यक्ति के उच्च वर्ण में केवल जन्म लेने से वह उच्च नहीं हो जाता, बल्कि उसमें उच्चता के अनुकूल गुण एवं योग्यता होनी चाहिए। जात–प्रथा एक जड़–वर्ग की द्योतक है जिसके कारण भारत समग्र जीवन निष्प्राण हो गया। इसी कारण भारत दासता का शिकार हुआ।

20.4.4 जाति प्रथा के उन्नमूलन हेतु सुझाव

जाति प्रथा के उन्मूलन के डॉ. लोहिया ने अनेक सुझाव दिये। सामान्यतः अन्तर्जातीय विवाहों और सहभोजों को उन्होंने महत्व दिया। उनकी मान्यता थी कि अन्तर्जातीय विवाहों और सह भोजों से आवश्यक रूप से समता का भाव पैदा होने लगेगा। डॉ. लोहिया ने जाति प्रथा के जोड़ने में वयस्क मताधिकार और प्रत्यक्ष चुनाव

की भूमिका पर बल दिया। उनका विचार था कि–"जैसे–जैसे यह वयस्क मताधिकार चलता रहेगा, चुनाव चलते रहेंगे, वैसे–वैसे जाति का ढ़ीलापन बढ़ता रहेगा।" संक्षेप में डॉ. लोहिया ने आम लोगों में राजनीतिक चेतना भरने और राष्ट्र को सशक्त बनाने के लिए जाति–प्रथा की समाप्ति की दिशा में प्रत्यक्ष चुनाव, वयस्क मताधिकार और विशेष सिद्धान्त की आवश्यकता पर बल दिया।

20.4.5 आर्थिक दृष्टि से जाति प्रथा तोड़ने पर बल

जाति प्रथा के चलते छोटी जातियां सार्वजनिक जीवन से बहिष्कृत की जाती है। उसमें दासता की भावना पैदा हो जाती हैं इससे ये जातियां कमजोर एवं पिछड़ी हो जाती हैं। इसलिए डॉ. लोहिया की दृष्टि में कमजोर एवं पिछड़ी जातियों को आर्थिक रूप से सबल और उनमें आत्म सम्मान की भावना विकसित करने की आवश्यकता है। डॉ. लोहिया ने सुझाया कि सभी भूमिहीन मजदूरों को साढ़े छः एकड़ जमीन मिलें, खेतीहर मजदूरों की मजदूरी बढ़ायी जाए। ऊँची से ऊँची आमदनी या नीचे से नीचे आमदनी के बीच में एक मर्यादा बांधने वाली बात लागू की जाए। इस तरह सामाजिक व्यवस्था के सफल संचालन हेतु समाज में विद्यमान आर्थिक असमानता की खाई को पाटना होगा।

20.4.6 विशेष अवसर का सिद्धान्त

डॉ. लोहिया का विशेष अवसर का सिद्धान्त एक उच्च आदर्श एवं न्याय पर आधारित है। वह सामाजिक न्याय की बात ही नहीं करते थे, बल्कि उसे व्यवहार में लाने के लिए, और वर्ग विहिन तथा जाति–विहिन समाज की स्थापना की दृष्टि से, कमजोर तथा पिछड़े वर्ग लोगों को हर क्षेत्र में प्राथमिकता देने पर बल देते थे। वे इन्हें आठ प्रतिशत आरक्षण देने के पक्षधर थे, ताकि समाज में उन्हें सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हो सके। लोहिया इन कमजोर पिछड़े लोगों को नेतृत्व के पदों पर देखना चाहते थे। इस प्रकार लोहिया की दृष्टि में "समान अवसर नहीं, बल्कि प्राथमिकता पर आधारित अवसर इन संकुचित बंधनों की दीवारों की ढहा सकता है।

20.5 डॉ. लोहिया के समाजवाद संबंधी विचार

20.5.1 लोकतंत्र एवं स्वतन्त्रता के लिए हित पोषक

डॉ. लोहिया का प्रजातंत्र एवं स्वतंत्रता में अटूट विश्वास था। उन्होंने मार्क्सवाद का विरोध इसी आधार पर किया था, क्योंकि मार्क्स लोकतंत्र एवं स्वतन्त्रता को महत्व नहीं देता। वे कहते थे कि यदि कोई मार्क्सवाद पर चलेगा तो तानाशाही उसका एक तत्व अवश्य होगा। डॉ. लोहिया व्यक्ति की स्वतन्त्रता के इतने बड़े समर्थक थे कि वे उसको किसी कीमत पर भी छोड़ना नहीं चाहते थे। व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए यदि राज्य की सत्ता में कमी भी करनी पड़े तो उसके भी तैयार थे।

20.5.2 व्यावहारिकता पर बल

डॉ. लोहिया के समाजवादी चिंतन में व्यावहारिकता की छाया स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। यूरोप के समाजवादी लोगों ने जिस तरह का सिद्धान्तवादी समाजवाद माना है–डॉ. लोहिया उससे बिल्कुल सहमत नहीं है। उसे वे रूढ़ समाजवाद कहते थे। उनका मत था कि यूरोप के समजावादी चिन्तक अपने राष्ट्रों की समस्याओं से ही सम्बन्धित बातें में उलझे हुए हैं और समाजवाद के विश्व दर्श से दूर हैं। इस तरह उन्होंने ऐसे समाजवाद को अपनाने पर बल दिया जो हमारी परिस्थितियों के अनुकूल हो जिससे हमारी समस्याओं का समाधान हो सकें।

20.5.3 समाजवाद को नवीन प्रकृति देने का प्रयास

स्वतन्त्र चिन्तक होने के कारण डॉ. लोहिया समाजवाद को एक नई प्रकृति देना चाहते थे। उन्होंने सन् 1950 में समाजवादियों के मद्रास सम्मेलन में कहा था कि अब समाजवाद को विभिन्न आदर्शो की जरूरत नहीं है। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि हम सामाजिक सच्चाईयों को समझों और उनकी समाजवादी मोड़ देने के लिए किसी की रूढ़ मान्यता से न बंधे रहे। आज आवश्यकता इस बात की है कि नव स्फूर्त समाज की स्थापना की जाएं।

20.5.4 समाजवाद को नवीन चिन्तन एवं कर्म की आवश्यकता

डॉ. लोहिया साम्यवादियों की इस बात को नहीं मानते थे कि पूँजीवाद की चरम सीमा से समाजवाद का उदय होगा। उनका कहना था कि समाजवाद को मूर्त रूप देने के लिए प्रयत्न करना होगा। नये तौर से व्यापक

चिन्तन करना होगा। वे मार्क्सवादियों की इस बात को कोरी मूर्खता कहते थे कि चिन्तन का कार्य मार्क्सकर चुका है और किसी नये चिन्तन की आवश्यकता नहीं है। वे कहते थे कि समाजवाद लाने के लिए निरन्तर चिन्तन और कर्म की आवश्यकता है।

20.5.5 विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के समर्थक

डॉ. लोहिया पूंजीवादी या समाजवादी उत्पादन तकनीकी को भारत के लिए ठीक नहीं समझते थे। उनका कहना था कि यहां के समाजवाद में जो भी उत्पादन की तकनीकी होगी वह इस बात पर आधारित होगी कि यहां पर कितने छोटो–छोटे खेते हैं, यहां की जनसंख्या कितनी है और यहां पर पूंजी कितनी है आदि। इसलिए डॉ. लोहिया विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के पक्षधर थे जो भारत और एशिया की विशेष आर्थिक दशा को सामने रखकर नियोजित की जाए।

20.6 राजनीतिक विचार

समाजवादी चिन्तन में सर्वाधिक प्रभावशाली आर्थिक तत्व होता है लेकिन डॉ. लोहिया के समाजवादी दर्शन में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक तत्व भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते है। उनके राजनीतिक विचार व्यापक हैं, जिसमें व्यक्ति एवं समाज से संबंधित तमाम पहलूओं पर विचार किया गया है। डॉ. लोहिया के राजनीतिक दर्शन के प्रमुख तत्व इस प्रकार है:–

लोहिया के राजनीतिक विचार

- यदि कोई राष्ट्र से दावा करे कि हमेशा उसकी शक्तियाँ समान रहेंगी तो यह उसकी बहुत बड़ी भूल होगी।
- एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था, जिसके चार आधार होते हैं– ग्राम, मण्डल, प्रांत व केन्द्र, जिनका परस्पर घनिष्ट संबंध होगा।
- व्यक्ति और राज्य दोनों ही एक–दूसरे के विकास में भागीदार होते हैं।

20.6.1 राजनीतिक इतिहास की समाजवादी व्याख्या

इतिहास चक्र में सभी देशों का समान रूप से उत्थान–पतन होता है, चाहे कोई भी देश कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो। कोई देश के लिए न तो वैभवशाली और धनवान होता है और न ही उनसे रहित। इतिहास बताता है कि जो देश पहले शक्तिशाली थे उनका भी पतन हो गया और जो पहले कमजोर थे, उनका उत्थान हो गया।

20.6.2 चौखम्भा–योजना का स्थान

डॉ. लोहिया के राजनीतिक चिन्तन में चौखम्भा–योजना का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने न केवल आर्थिक, अपितु राजनीतिक विकेन्द्रीकरण को प्रमुख स्थान दिया। राजनीतिक विकेन्द्रीकरण राजनीतिक समता एवं सम्पन्नता का द्योतक हैं। वे राजनीति केन्द्रीकरण के विरोधी थे। उनका कहना था कि इससे "दिमाग जकड़ गये हैं, विचारों का स्थान प्रचारों ने ले लिया हैं आज विचार शक्ति का गुलाम बन गया है। "यदि प्रजातांत्रिक व्यवस्था को सुदृढ़ करना है तो विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को अपनाना होगा ताकि शासन में स्थानीय लोगों की अधिकाधिक भागीदारी सुनिश्चित की जा सके। दो खम्भों–केन्द्र एवं प्रान्त–वाली संघात्मक व्यवस्था को डॉ. लोहिया अपर्याप्त मानते थे। उनके अनुसार, "बड़ी राजनीति, देश के कूड़े को बुहारती है, छोटी राजनीति, मोहल्ले अथवा गांवों के कूड़े को।" इसलिए उन्होंने अपने चौखम्भा–योजना के तहत ग्राम, मण्डल, प्रान्त और केन्द्र इस चार समान प्रतिभा और सम्मान वाले खम्भों में शक्ति के विकेन्द्रीकरण का सुझाव दिया।

20.6.3 वाणी–स्वतन्त्रता और कर्म–नियन्त्रण का सिद्धान्त

वाणी की स्वतन्त्रता का सशक्त प्रतिपादन करते हुए डॉ. लोहिया ने जनतांत्रिक देशों से आग्रह किया कि वे व्यक्ति को भाषण और अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता दे। ऐसा साम्यवादी देशों मेंसंभव नहीं हो सकता, क्योंकि वहां सर्वहारा वर्ग की तानाशाही होती है। स्वतन्त्रता के साथ–साथ डॉ. लोहिया ने जो कर्म नियन्त्रण की बात कही, वह महत्वपूर्ण है। कर्म–नियन्त्रण को उन्होंने दो प्रकार से बतलाया–प्रथम सिद्धान्त और विधान वर्जित कामों को न करें और द्वितीय सम्मेलन विधान द्वारा आदेशित कामों को करें।

20.6.4 जन–शक्ति का समर्थन

जन–शक्ति से उनका तात्पर्य जन–इच्छा से था। यह वह जन इच्छा है जो डॉ. लोहिया द्वारा अपनी पुस्तक "सात क्रांतियों का सुत्रपात में की है– 1. नर–नारी की समानता के लिए, 2. चमड़ी–रंग पर रची असमानताओं के विरूद्ध, 3. जन्मजात तथा जाति–प्रथा के खिलाफ, 4. परदेशी गुलामी के खिलाफ, 5. निजी पूंजी की विषमताओं के खिलाफ, 6. अस्त्र–शस्त्र के खिलाफ, 7. सत्याग्रह के लिए।" डॉ. लोहिया के विचार में राज्य को आन्तरिक एवं बाह्य दोनों मामलों में अपनी शक्ति का इस्तेमाल हमेशा जन इच्छा की दृष्टि से, विकास के हित से करना चाहिए।

20.6.5 व्यक्ति और राज्य के संबंधों की विवेचना

डॉ. लोहिया ने तो व्यक्ति और समाज को एक ही माना है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि व्यक्ति समाज से जन्मा है और समाज भी व्यक्ति से जन्मा है। जिस प्रकार व्यक्ति का विकास समाज द्वारा होता है, उसी प्रकार समाज का विकास व्यक्ति द्वारा होता है। डॉ. लोहिया ने कहा हे कि– "व्यक्ति एक साध और एक साधन दोनों है, एक साध्य के रूप में वह सबके प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति करता है, एक साधन के रूप में वह अन्याय के विरूद्ध क्रांतिकारी क्रोध का उपकरण है।"

20.7 मौलिक अधिकार संबंधी विचार

डॉ. राम मनोहर लोहिया ने मौलिक अधिकारों पर विशेष बल दिया है। उनका तर्क है कि मौलिक अधिकारों के बिना व्यक्ति का सर्वागीण विकास सम्भव नहीं हो सकता। अतः मानव जीवन को संस्कृत एवं गौरवमय बनाने के लिए मौलिक अधिकारों का अनुमोदन किया, जो लोकतांत्रिक समाजवादी जीवन के अनिवार्य अंग है। उनकी राय में राज्य मौलिक अधिकारों को जन्म देने वाला न होकर केवल औचित्य प्रदान करने वाला होता है। डॉ. लोहिया के मौलिक अधिकार संबंधी विचार निम्न है–

20.7.1 बौद्धिक स्वतन्त्रता के अधिकार का समर्थन

डॉ. लोहिया चिन्तन एवं अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्ष में थे। डॉ. लोहिया समाजवादी होते हुए, बौद्धिक स्वतन्त्रता पर साम्यवादी देशों द्वारा लगाए गये अंकुश के कट्टर आलोचक थे। साम्यवादी व्यवस्था मनुष्य को मौलिक अधिकारों से वंचित रखती है। यह सम्पूर्ण मानव जाति के पतन का द्योतक है। इस प्रकार डॉ. लोहिया ने "वाणी स्वतन्त्रता और कर्म नियन्त्रण" के सिद्धान्त द्वारा बौद्धिक स्वतन्त्रता का व्यापक अनुमोदन किया।

20.7.2 अत्याचारी एवं अन्यायी कानूनों का प्रतिरोध का अधिकार

डॉ. लोहिया के अनुसार ये अधिकार सभी नागरिकों को प्राप्त होने चाहिए। लेकिन ऐसा अहिंसात्मक एवं शांतिमय ढ़ंग से होना चाहिए। यही कारण है कि डॉ. लोहिया ने सविनय अवज्ञा के अधिकार का समर्थन किया। वह इसे मौलिक अधिकार मानते हैं। उन्होंने एक ओर प्राण–दण्ड देने का विरोध किया, तो दूसरी और आत्म हत्या के अधिकार का समर्थन किया। उनका मत है कि व्यक्ति आत्महत्या तब करता है, जब वह अपने जीवन से ऊब जाता है और उसके स्तर में गिरावट आ जाती है।

20.7.3 धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार

डॉ. लोहिया धर्मनिरपेक्ष राज्य के समर्थन होने के कारण धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार का पक्ष लेते थे। उनका मत था कि किसी भी नागरिक के साथ धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए और सभी को विकास के समान अवसर उपलब्ध होने चाहिए। इसके अलावा नागरिकों को अपने धर्म का प्रचार करने, धार्मिक क्रया कलाप करने, धार्मिक संस्थाओं के संचालन करने आदि की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

20.7.4 समता का अधिकार

भारतीय समाज में विद्यमान विषमताओं को समाप्त करने के लिए समता की भावना और व्यवहार को सर्वक्षेत्रीय बअनाने में उन्होंने भारी योगदान दिया। डॉ. लोहिया ने नर–नारी समता, जाति उन्नमूलन,रंग भेद और छुआछुत की समाप्ति के न केवल सिद्धान्त तथा कर्म प्रस्तुत किये, बल्कि व्यापक रूप में स्वयं संघर्ष भी किया। उन्होंने वैधानिक, आर्थिक राजनीतिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रों में समानता के अधिकार का समर्थन किया। वह वैधानिक समता के तहत विधि के समक्ष समानता राजनीतिक समता के तहत भेदभाव रहित सार्वभौतिक मताधिकार, आर्थिक समता के अन्तर्गत समाजवाद की स्थापना और धार्मिक समता के अन्तर्गत धर्मनिरपेक्ष एवं सहिष्णुत की अवधारणा को अपनाने पर बल प्रदान करते है। इस प्रकार लोहिया ने न केवल मौलिक अधिकारों, अपितु समस्त मानवाधिकारों को सामाजिक, आर्थिक, राजनितिक एवं धार्मिक विकास के लिए अनिवार्य बतलाया। इन्हीं की प्रगति से व्यक्ति एवं समाज जीवन उच्च तथा समृद्ध हो पायेगा।

20.8 डॉ. लोहिया के अन्तरराष्ट्रीय–व्यवस्था संबंधी विचार

डॉ. राममनोहर लोहिया भारत में ही नहीं, अपितु विश्व में एक मौलिक चिन्तक के रूप में स्थान रखते है। उनका चिन्तन केवल भारत तक ही सीमित नहीं रहा। उनके समाजवादी दर्शन का स्वरूप विश्वव्यापी हैं। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर लोहिया जिन विचारों को प्रतिष्ठित करना चाहते थे, वे हैं–

- विश्व समाजवाद का दर्शन
- संयुक्त राष्ट्र संघ के पुनर्गठन का नवीन आधार
- अन्तरराष्ट्रीय जाति–प्रथा का उन्नमूलन
- विश्व–विकास की सीमित पहल
- निशस्त्रीकरण का सशक्त प्रतिपादन
- साक्षात्कार का सिद्धान्त
- अन्तरराष्ट्रीयवाद

20.9 सारांश

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राममनोहर लोहिया के विचारों को भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल माना जाता है। उनके विचारों का प्रमुख उद्देश्य भारतीय समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करते हुए एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था का सूत्रपात करना, जो लोकतंत्र व समाजवाद पर आधारित हो तथा समाज के उस वर्ग के हितों का संरक्षण किया जाए जो शोषण एवं सामाजिक विषमताओं को लम्बे समय तक झेल रहा था। वे एक ऐसी अर्थव्यवस्था कायम करना चाहते थे, जो विकेन्द्रीकरण पर आधारित हो तथा सभी की अपनी बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने का अवसर मिल सके।

- लोहिया के विचार सामाजिक न्याय पर आधारित हैं,
- उनके समाजवाद का लक्ष समाज को व्यवस्थित रूप प्रदान करते हुए मूलभूत सामाजिक समस्याओं का समाधान,
- अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर उनका मत था कि राष्ट्रों में पारस्परिक सहयोग को बढ़ावा देना चाहिए तथा विश्व सरकार जैसे तंत्र की स्थापना की जानी चाहिए। ऐसे होने से अन्तरराष्ट्रीय शांति को प्रोत्साहन मिलेगा।

20.10 अभ्यास प्रश्नावली

1. डॉ. राममनोहर लोहिया के सामाजिक विचार स्पष्ट कीजिए।
2. डॉ. लोहिया के समाजवाद संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिए।
3. डॉ. लोहिया के अधिकार संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिए।
4. डॉ. लोहिया के राजनीतिक विचार स्पष्ट कीजिए।
5. लोहिया के अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था संबंधी विचार बताओ।
6. जाति प्रथा के उन्नमूलन हेतु लोहिया के क्या सुझाव दिये।
7. राजनीति के क्षेत्र में लोहिया द्वारा प्रस्तुत चौखम्भा–योजना क्या है?
8. लोहिया का विशेष अवसर का सिद्धान्त क्या हैं?
9. लोहिया ने समाजवाद को व्यावहारिक रूप देने के लिए क्या किया?
10. लोहिया का जन्म कब और कहाँ हुआ?
11. लोहिया ने कांग्रेस के किस अधिवेशन में पहली बार भाग लिया?
12. लोहिया व नेहरू ने मिलकर किस पार्टी की स्थापना की?
13. चौखम्भा योजना में क्या शामिल हैं?
14. लोहिया ने पहली बार कब और किस निर्वाचन क्षेत्र से संसद में पहुँचे?

अध्याय-21

जय प्रकाश नारायण

सरचंना

21.1 उद्देश्य

21.2 प्रस्तावना

21.3 जीवन परिचय

21.3.1 स्वतन्त्रता आन्दोलन में भागीदारी

21.3.2 समाजवादी दल का गठन

21.3.3 प्रमुख रचनाएँ

21.4 मार्क्सवाद पर जयप्रकाश नारायण के विचार

21.4.1 बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति की गारन्टी

21.4.3 सार्वजनिक व सहकारी कृषि का समर्थन

21.4.4 सामाजिक पुर्नरचना

21.4.5 लोकतांत्रिक समाजवाद

21.4.6 निजी सम्पति स्वामित्व के खिलाफ

21.5 लोकतंत्र के प्रति विचार

21.5.1 लोगों में सत्य के प्रति आस्था

21.5.2 दूसरों के प्रति सहिष्णुता

21.5.3 उत्तरदायित्व की भावना

21.5.4 साधारण जीवन में विश्वास

21.5.5 हिंसा का परित्याग

21.5.6 स्वतंत्रता के प्रति आस्था

21.5.7 आपसी सहयोग की भावना

21.6 वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण

21.6.1 दोषपूर्ण चयन प्रणाली

21.6.2 राजनीतिक दलों का उद्देश्य केवल सत्ता प्राप्ति

21.6.3 जनता की भावना से खेलना

21.6.4 नैतिक मूल्यों का ह्रास

21.6.5 राजनीतिक व आर्थिक शक्तियों का केन्द्रीकरण

21.7 सर्वोदय दर्शन

21.7.1 सर्वोदय का दर्शन सभी के उत्थान में विश्वास रखता है।

21.7.2 शोषण विहिन समाज की स्थापना

21.7.3 ग्रामदान, भूदान सम्पत्ति दान तथा ग्राम स्वराज्य

21.7.4 सर्वोदय का सामाजिक व आर्थिक ढांचा कठिन नहीं

21.7.5 राजशक्ति की जगह लोकशक्ति

21.8 भारतीय लोकतंत्र को सशक्त बनाने हेतु सुझाव

21.8.1 सत्ता का विकेन्द्रीरकण

21.8.2 विधानसभा व लोकसभा चुनाव क्षेत्रों में सत्ता में बदलाव

21.8.3 आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण

21.8.4 दलविहिन लोकतंत्र

21.9 जयप्रकाश नारायण का सम्पूर्ण क्रांति का स्वरूप

21.10 अभ्यास प्रश्नावली

21.1 उद्देश्यः–

एक समाजवादी चिन्तक के रूप में जयप्रकाश नारायण की पहचान भारत के उन अग्रणिय राजनीतिक चिन्तक में होती है जिन्होंने राजनीतिक मूल्यों को स्थापित करने की दिशा में काम किया। इस अध्याय का प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैः–

- मार्क्सवाद पर लोहिया के विचारों को जानना।
- वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था में सुधार हेतु लोहिया ने जो मार्ग बताया, उसे जानना।
- सर्वोदय का दर्शन समझना।
- भारतीय लोकतंत्र को सशक्त करने के उपाय आज भी कितने प्रासंगिक है।
- जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रांति स्वरूप को जानना।

21.2 प्रस्तावनाः–

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तकों में जयप्रकाश नारायण को एक प्रमुख विचारक के रूप में माना जाता है। जिन्होंने हमारे समाज व राजनीति को नई दिशा देने का सफलतक प्रयास किया। उनके विचारों से प्रभावित होकर भारतीय राजनीति का एक बहुत बड़ा तबका तैयार हुआ जिन्होंने आगे चलकर न केवल भारतीय राजनीति को जे.पी. के विचारों के अनुसार दिशा दी बल्कि युवाओं की वह फौज तैयार की जो समाजवादी विचारों का बढ़ाने में मददगार बने। जे.पी. भारतीय राजनीति के ऐसे सूरज थे जिन्होंने समाज के कमजोर, शोषित, पिछड़ा, पीड़ित, युवा, किसान, मजदूर की आवाज बने। उनका मानना था कि भारत में जब तक लोकतंत्र को मजबूत नहीं किया जा सकता तब तक सामाजिक व आर्थिक रूप से समुचित विकास न हो जाता है। सर्वोदय व समपूर्ण क्रांति के माध्यक से भारतीय व्यवस्थाओं को सशक्त दिशा देने का प्रयास किया। उनके द्वारा मूल्यों पर आधारित राजनीति का आगाज किया गया। स्वतंत्रता के पश्चात् जिस तरह भारत का नवनिर्माण को आगे बढ़ाया जा रहा था, उस नव निर्माण को जनता से जोड़ने व जनता की आवाज बनने का कार्य जय प्रकाश नारायण के द्वारा किया गया। वे अपने दौर के पहले विचारक थे, जिन्होंने सरकार व व्यवस्थाओं पर विरोध सकारात्मक दृष्टिकोण से किया। उनके विचारों में जाति व धर्म का कोई स्थान नहीं था उनका केवल एक ही ध्येय था समग्र क्रांति। सभी का उदय।

समाजवाद उनके विचारों का मूल आधार था। वे एक ऐसी सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था चाहते थो जिसमें समाज में उपलब्ध संसाधनों का उचित संरक्षण व सम्वर्द्धन किया जाएं। जमींदारी प्रथा का पूर्ण उन्नमूलन कर सार्वजनिक व सामूहिक कृषि को बढ़ावा दिया जाए। लोकतांत्रिक समाजवाद व लोकतंत्र में दूसरे के मतों के प्रति सहिष्णुता उनकी प्रमुख पहचान है। उनका मानना था कि विरोधी मतों को भी उतना महत्व दिया जाए जितना अपने समर्थक को दिया जाता है। विरोधी की भावना को दबाने की बजाए यदि उसका सम्मान किया जाता है और पूरी निष्ठा से सुना जाता है तो उसे लोकतंत्र व लोकतांत्रिक मूल्यों को बल मिलेगा। उनका यह भी मानना था कि राजनीतिक दलों का उद्देश्य केवल जन भावना को भड़काकर सत्ता प्राप्त करना नहीं होना चाहिए बल्कि जन सेवा होनी चाहिए, परन्तु जिस तरह राजनीतिक दल धर्म, जाति, साम्प्रदायिकता व झूठी राष्ट्रवादिता के नाम पर वोटों का ध्रुवीकरण कर येन केन प्रकारेण सत्ता प्राप्ति ही अपना लक्ष्य बना लिया है उससे भारत का हित पूरा नहीं हो सकता। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण पर बल देकर सत्ता में स्थानीय लोगों की भागीदारी सुनिश्चित करने का संकल्प व्यक्त किया और लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को भारत के विकास की अनिवार्य शर्त बताया।

इस प्रकार जे.पी. के विचार पूरी तरह से व्यवहार पर आधारित हैं, जिन्हें अपनाकर सशक्त भारत का निर्माण संभव है, जो भारतीय संविधान की आत्मा के अनुरूप है। यदि जे.पी. के विचारों के अनुरूप भारत का निर्माण होता तो आज के दौर में जो चुनौतियां हमारे संविधान व लोकतंत्र के समक्ष खड़ी है वे उठ नहीं सकती।

21.3 जीवन परिचयः–

भारत के समाजवादी विचारधारा के अग्रदूत, स्वतंत्रता सेनानी, समग्र विकास के प्रवर्तक, समपूर्ण क्रांति का आगाज करने वाले तथा मूल्यों पर आधारित लोकतंत्र के प्रतिपादक जयप्रकाश नारायण का जन्म सिताबा (बिहार) नाम गाँव में एक कायस्थ परिवार में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में हासिल की। तत्पश्चात् आगे की पढ़ाई के लिए पटना आ गएं इसी बीच गांधी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन शुरू हो गया उसमें भी उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया। जे.पी. का विवाह प्रमुख कांग्रेसी नेता बाबू ब्रजकिशोर की पुत्री के साथ हुआ।

1922 में जयप्रकाश नारायण उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए अमेरिका चले गए। वहां की शिकागो सहित कई विश्वविद्यालयों से शिक्षा हासिल की। अमेरिका में रहते हुए वे मार्क्सवादी विचारधारा के सम्पर्क में आये। मानवेन्द्र नाथ राय की पुस्तक "भारत संक्रमण काल में" नामक पुस्तक पढ़ने के पश्चात् मार्क्सवाद में अटूट आस्था हो गई।

21.3.1 स्वतन्त्रता आन्दोलन में भागीदारीः–

जयप्रकाश नारायण जब 1930 में भारत आये तब वे जवाहर लाल नेहरू के संपर्क में आए और 1932 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लिया जिसके कारण उन्हें जेल में डाल दिया गया। 1934 में जब वे जेल से बाहर आये तब उन्होंने अशोक मेहता, अच्युत पटवर्धन, आचार्य नरेन्द्र देव, युसुफ मेहर अली, मीतु मसानी, तथा डॉ. राममनोहर लोहिया आदि के साथ मिलकर "कांग्रेस समाजवादी दल" की नींव रखी जो कांग्रेस संगठन का ही हिस्सा था। जिसका प्रमुख उद्देश्य कांग्रेस का झुकाव समाजवाद की ओर करना था।

1942 में जयप्रकाश नारायण ने स्वतन्त्रता सेनानी के रूप में भारत छोड़ो आन्दोलन में भाग लिया। 1946 में गांधी जी ने कांग्रेस कार्यकारिणी के समक्ष जयप्रकाश नारायण को अध्यक्ष बनाने का प्रस्ताव रखा, परन्तु यह स्वीकार नहीं किया गया।

21.3.2 समाजवादी दल का गठनः–

1948 में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित किया कि अन्य दल का सदस्य कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण नहीं कर सकता है। इस स्थिति को देखते हुए जयप्रकाश नारायण व अन्य समाजवादी ने कांग्रेस से अलग होकर "समाजवादी दल" की स्थापना की। 1952 के प्रथम आम चुनाव में समाजवादी दल ने भाग भी लिया पर सफलता नहीं मिली।

21.3.3 प्रमुख रचनाएँः–

1. समाजवादी ही क्यों? 1934
2. समाजवाद से सर्वोदय 1959
3. समाजवाद, सर्वोदय और लोकतंत्र 1957
4. संघर्ष की तरपफ 1946
5. भारतीय राजव्यवस्था की पुनर्रचना हेतु तर्क
6. जयप्रकाश नारायण की जेल डायरी 1977
7. सम्पूर्ण क्रांति की तरफ 1977

21.4 मार्क्सवाद पर जयप्रकाश नारायण के विचार :–

जयप्रकाश नारायण मार्क्स के विचारों तथा लेनिन के नेतृत्व से बहुत अधिक प्रभावित थे परन्तु मार्क्स के प्रति जयप्रकाश नारायण का आकर्षण ज्यादा दिनों तक नहीं रहा। रूस में जिस प्रकार स्टालिन ने अपने विरोधियों को दण्डित करने तथा गांधी जी एवं कांग्रेस को बुजुआ नेता व दल बताया। जिसे उन्होंने स्वीकार नही किया। वे मार्क्सवाद के हिंसात्मक साधनों को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। वे सामाजिक परिवर्तन के लिए गांधीवादी व अहिंसात्मक साधनों को माध्यम बनाया। वे गांधीजी के इस विचार से प्रभावित थे कि कांग्रेस को सत्ता से दूर रहने के लिए सक्रिय राजनीति से दूर रहना चाहिए। जयप्रकाश नारायण ने इस विचार के अनुसार अपने चिन्तन को प्रतिपादित किया। विनोबाजी की भूदान आन्दोलन से भी गांधीवादी पद्धति के महत्व तथा उसकी सार्थकता के बारे में प्रभावित हुए। अन्त में वे विनोबाजी के सर्वोदय आन्दोलन में जीवनदानी के रूप में जुड़ गए। सर्वोदय को उन्होंने "जनता का समाजवाद" बताया।

21.4.1 बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति की गारंटी :–

जयप्रकाश नारायण का मत था कि कोई भी समाज जो अपने सदस्यों की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने की गारंटी नहीं दे सकता, हिंसा तथा अराजकता का शिकार हो जाता है। बुनियादी आवश्यकता रोटी, कपड़ा, मकान व शिक्षा सभ्य व सुसंस्कृत समाज की पहचान है। अतः समाज के प्रत्येक सदस्य की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए।

जयप्रकाश नारायण के इसी विचार को आगे चलकर न केवल संविधान में स्थान दिया गया अपितु सरकारों ने अपनी विकास योजनाओं में इसको प्रमुख स्थान दिया। चाहे गरीबी उन्मूलन योजना हो या महात्मा गांधी रोजगार गारंटी योजना या शिक्षा का अधिकार या सूचना का अधिकार या फिर स्वास्थ्य सेवाओं के लिए आयुष्मान भारत, इन सब पर उनके विचारों का प्रभाव देखा जा सकता हैं।

21.4.2 सार्वजनिक तथा सहकारी कृषि का समर्थनः–

जयप्रकाश नारायण ने कृषि सुधारों पर भी बल दिया, जो इस प्रकार हैः–

1. जमींदारी प्रथा का पूर्णतया उन्नमूलन
2. कृषि योग्य जमीन को सहकारी कृषि फार्मो के रूप में संगठन
3. वैज्ञानिक तरीके से कृषि को प्रोत्साहन
4. सामूहिक फार्मो के रूप में विकसित करने की आवश्यकता
5. सहकारी प्रथा का अन्त करने पर बल
6. सामूहिक जीवन पद्धति विकसित के पश्चात् कम्यूजन के रूप में गाँवों को संगठित करने की आवश्यकता पर बल

21.4.3 भारतीय परम्पराओं पर आधारित समाजवादः–

जयप्रकाश नारायण के अनुसार समाजवाद व भारतीय परम्पराओं के बीच सदियों से अटूट रिश्ता रहा है और भारतीय संस्कृति एक परम्परा के रूप में समाजवाद रूप रहा है क्योंकि पारस्परिक सहयोग व समन्वय हमारी समाज व संस्कृति की पहचान रही है। अतः हमें समाजवाद के लिए पश्चिम की ओर देखने की जरूरत नहीं है। जैसे हमारे संयुक्त परिवार तथा ग्रामीण जीवन समाजवादी सामूहिक जीवन के ही लक्षण है। समाजवाद के मौलिक आदर्श भारतीय संस्कृति का भाग है।

21.4.4 सामाजिक पुनर्रचना का दर्शनः–

जयप्रकाश नारायण का यह मानना था कि समाजवाद के माध्यम से पूंजीवादी व सामन्तवादी समाज के शोषण को दूर किया जा सकता है। वे समाज में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक असमानता को दूर करने के लिए समाजवाद को सशक्त माध्यम मानते थे। न्याय की अवधारणा को स्थापित करने के लिए समतामूलक समाज की आवश्यकता में जिसमें किसी भी तरह के शोषण का स्थान नहीं है।

भारत जैसे समाज जहां जाति बंधनों व जमींदारी प्रथा के चलते आवश्यकता हर स्तर पर व्याप्त थी। ऐसे में उनका सामाजिक पुनर्रचना का विचार महत्व रखता है। जिसकी बदौलत हमारे खण्डित समाज को एकता के सुत्र में बांध सकते है। जिसकी जरूरत सदियों से थी और आज भी है। इस तरह उनके विचार भी प्रासंगिक है।

21.4.5 लोकतांत्रिक समाजवादः–

जयप्रकाश नारायण समाजवाद के लोकतांत्रिकवादी स्वरूप के पक्षधर थे। इसीलिए वे लोकतांत्रिक ढंगों से समाजवाद की स्थापना करना चाहते थे। यहीं कारण था कि उन्होंने मार्क्सवाद के हिंसक व क्रांतिकारी साधनों का विरोध किया। वे समाजवाद की स्थापना हेतु राज्य की मशीनरी के प्रयोग का समर्थन करते थे। इस तरह वे वर्ग संघर्ष को स्वीकार नही करके वर्ग सहयोग पर बल देते है। उन्होंने कहा कि समाजवादी भारत में राज्य पूर्ण रूप से लोकतांत्रिक राज्य होगा। लोकतंत्र के बिना समाजवाद सम्भव नहीं है। समाजवादी के रूप में जयप्रकाश नारायण ने समाज में व्याप्त असामनताओं को दूर करने पर जोर दिया। उनका मानना था कि समाज में धन में असमान वितरण का मुख्य कारण प्रकृति के माध्यम प्रदत्त पदार्थों तथा पैदावर के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व का होना है। समाज के कुछ लोग इनका प्रयोग अपने व्यक्तिगत फायदा हेतु करते है। जिसके चलते गरीब और अमीर के बीच की खाई और गहरी हो रही है। समाज का वह वर्ग जो श्रम व परिश्रम करता है जो अभावपूर्ण जीवन जीने के लिए बाध्य है। अतः जयप्रकाश नारायण का मानना है कि लोकतांत्रिक समाजवाद की बदौलत समाज में आर्थिक व सामाजिक न्याय को बचाया जा सकता है। वर्तमान परिवेश में जब भारत इस चुनौती से जुंझ रहा है कि आर्थिक असमानता अपने चरम सीमा पर है। आर्थिक संसाधनों पर चंद आर्थिक घरानों का एकाधिकार हमें उसी सामन्तवाद की याद दिलाता है। इसीलिए लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं को सुदृढ़ बनाने के लिए संसाधनों का समान वितरण की आवश्यकता है। इस प्रकार जयप्रकाश नारायण के इसी विचार की भी आज पूरी तरह से प्रासंगिकता है।

21.4.6 निजी सम्पति एवं स्वामित्व के खिलाफः–

जयप्रकाश नारायण का यह मानना था कि सम्पत्ति व उस पर प्रभुत्व स्थापित करने की प्रवृत्ति के कारण समाज में न्याय की अवधारणा कमजोर होती है और न्याय केवल कल्पनाओं तक सीमित रह जाता है। अतः

समाज में न्याय को सुदृढ़ बनाने के लिए निजी सम्पति पर रोक लगा दी जानी चाहिए। व्यक्ति के पास सम्पति केवल इतनी होनी चाहिए जिससे आवश्यकता की पूर्ति की जाएं। इसी आधार पर बड़े उद्योगों, बैंको, यातायात, विद्युत तथा व्यापार के राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया।

निष्कर्ष :– इस प्रकार कहा जा सकता है कि जयप्रकाश नारायण के द्वारा सामाजिक व आर्थिक न्याय की स्थापना से लोकतंत्र व समाजवाद दोनो को सशक्त बनाने के लिए जरूरी है। उनके ये विचार आज भी पूरी तरह से प्रासंगिक है।

21.5 लोकतंत्र के प्रति विचारः–

जयप्रकाश नारायण प्रजातंत्र के प्रबल समर्थक थे, परन्तु वर्तमान प्रजातंत्र के कट्टर आलोचक थे। वे लोकतंत्र को नैतिक आधार पर मजबूत करने पर जोर देते थे। जयप्रकाश नारायण जी के शब्दों में "लोकतंत्र की समस्या मूल रूप से तथा सबसे अधिक नैतिक समस्या है। जब तक कि लोगों में नैतिक तथा आध्यात्मिक गुणों का उदय नहीं होगा तब तक कितनी अच्छी राजव्यवस्था तथा संविधान क्यों न हो, लोकतंत्र सही ढंग से कार्य नहीं कर सकेगा।" जयप्रकाश नारायण ने लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए निम्न शर्ते बताईः–

21.5.1 लोगों में सत्य के प्रति आस्थाः–

गांधी जी की भांति जयप्रकाश नारायण की नैतिक मूल्यों की स्थापना का समर्थन करते है। मूल्यों विहिन लोकतंत्र कभी सफल नहीं हो सकता। नैतिक मूल्य नागरिकों के अधिकारों के साथ–साथ कर्तव्यों पर बल देते है और लोकतांत्रिक व्यवस्था में नागरिकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे एक नागरिक के रूप में जो भी दायित्व दिया गया है उसका निर्वाह बिना किसी छलकपट व पूरी निष्ठा से करें। नागरिकों के उच्च नैतिक आदर्श राष्ट्र को आगे बढ़ा सकता है। यदि लोगों के द्वारा सरकारी सुविधाओं का प्रयोग केवल अपनी स्वार्थ सिद्ध के लिए करने लगते है तो वह लोकतंत्र के लिए शुभ संकेत नहीं हैं।

21.5.2 दूसरों के मतों के प्रति सहिष्णुताः–

जयप्रकाश नारायण के अनुसार सहिष्णुता लोकतंत्र के मूल में है। इसलिए दूसरों के मतों के प्रति सहिष्णुता रखननी चाहिए, भले ही हम उनके मतों से सहमत न हो। लोकतंत्र में यह भी माना जाता हे कि यदि 99 लोगों की राय एक तरफ व 01 व्यक्ति की राय दूसरी तरफ है तो उस एक व्यक्ति की राय भी महत्वपूर्ण है। बहुमत के दम पर किसी भी अल्पमत की आवाज को दबाया नहीं जा सकता। यदि दबाया जाता है तो लोकतंत्र इसकी किसी भी कीमत पर इजाजत नहीं देता और अहिष्णुता की स्थिति उस राज्य या समाज को उस गहरे अंधकार में धकेल देती है जिससे निकलना फिर असंभव हैं भारत जैसे विविधता वाले राष्ट्र में सहिष्णुता की अति आवश्यकता है। यहीं कारण है कि जे.पी., गांधी, नेहरू सहित अनेक विचारों ने न केवल सहिष्णुता को सम्मान दिया अपितु संविधान में भी वे तमाम प्रावधान किये जिससे सहिष्णुता को बल मिल सके और नागरिक एक दूसरों की भावना का सम्मान करना सीखें।

21.5.3 उत्तरदायित्व की भावनाः–

उत्तरदायित्व की भावना दायित्व बोध करवाने के साथ–साथ यह भी सुनिश्चित करती है कि शासन सत्ता से जुड़े लोग राज्य व नागरिकों के प्रति अपने उत्तरदायित्व या जवाबदेयी से मुक्त नहीं हो सकते। इसीलिए जयप्रकाश नारायण ने उत्तरदायित्व को लोकतंत्र की सफलता की शर्त माना है। इसके बिना लोकतंत्र की मर्यादाएं समाप्त हो जाएगी। यदि सत्ता पक्ष अपनी पूर्ववर्ती सरकारों को जिम्मेदार ठहराने की प्रवृत्ति से ग्रस्त है तो वह कभी भी राष्ट्र को आगे नहीं बढ़ा सकता और ऐसे में लोकतंत्र कमजोर ही बनेगा।

21.5.4 साधारण जीवन में विश्वासः–

यदि राज्य के लोगों की जरूरते अल्प है और जीवन साधारण है तो लोकतंत्र सफल होगा , जब लोगों की आवश्यताएं सीमित होगी तो वे गलत तरीकों से दूर रहेगें तथा सादगी से अपना जीवन जीयेगें। जयप्रकाश नारायण सादा जीवन उच्च विचार के साथ यदि समाज के लोग बल देंगें तो यह लोकतंत्र के लिए अच्छी बात है।

21.5.5 हिंसा का परित्यागः–

हिंसा का लोकतंत्र में कोई स्थान नहीं है। यदि हिंसात्मक वातावरण है तो लोकतंत्र की सफलता की आशा नहीं की जा सकती है। सत्ता परिवर्तन हिंसात्मक साधनों की बजाए मत की शक्ति के माध्यम से होना चाहिए। लोकतंत्र में हिंसा के किसी भी रूप को स्वीकार नहीं किया जा सकता। जिस व्यवस्था में विचारों के आदर व सम्मान की बात की जाती है उसमें हिंसा का कोई स्थान नहीं हो सकता।

21.5.6 स्वतंत्रता के प्रति आस्थाः–

जयप्रकाश नारायण का यह मानना है कि लोकतंत्र की सफलता हेतु जरूरी है कि लोग आजादी के प्रति आस्था रखें तथा अन्याय व अत्याचार के खिलाफ आवाज बुलन्द करने का साहस होना चाहिए। यदि लोग अन्याय व अत्याचार को चुपचाप सहेगें तो इससे तानाशाही का मार्ग प्रशस्त होगा।

21.5.7 आपसी सहयोग की भावनाः–

लोकतंत्र एक ऐसी शासन व्यवस्था है जिसका आधार ही लोगों की आपसी मदद है। यदिलोगों में आपसी सहयोग की भावना नहीं है तो लोकतंत्र की सफलता संदिग्ध हैं लोगों में आपसी संबंध परिवार के समान होने चाहिए तथा संकट की हर घड़ी में तत्परता से एक दूसरे का सहयोग करन चाहिए। ये भावना उस समाज व व्यवस्था को शीर्ष तक पहुंचा सकती है।

इस प्रकार जयप्रकाश नारायण के द्वारा लोकतंत्र की सफलता के लिए जो आवश्यक शर्तें बताई जो न केवल जरूरी है अपितु आज के समय मे भी इनकी आवश्यकता हैं, जितने आज से 75 वर्ष पहले थी। इन शर्तों के विरोधी तत्व जैसे नैतिक मूल्यों का पतन, बढ़ती हुई अहिष्णुता की भावना, सतारूढ़ दलों का प्रत्येक समस्या के लिए अपने पूर्ववर्ती सरकारों को दोषी ठहराने की प्रवृत्ति व, राजनीति हिंसा तथा दिखावे की राजनीति हमारे लोकतंत्र के लिए प्रमुख चुनौती बनी हुई है। मूल्य हिनता के कारण राजनीति नकारात्मकता की प्रतीक बन गई है। ऐसे में जयप्रकाश नारायण के विचार हमारे लोकतंत्र को सशक्त बना सकते है।

21.6 वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था पर आलोचनात्मक दृष्टिकोणः–

जयप्रकाश नारायण ने उपरोक्त शर्तो के आधार पर लोकतंत्र को सफल बनाने की आवश्यकताओं को स्वीकार किया परन्तु साथ ही उन्होंने वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था पर कड़ा प्रहार करते हुए निम्न आधारों पर इसकी आलोचना की हैः–

21.6.1 दोषपूर्ण चयन प्रणालीः– जयप्रकाश नारायण का मत है कि हमारी वर्तमान चुनाव प्रणाली दोषपूर्ण है। चुनाव में विजयी उम्मीदवार हेतु यह जरूरी नहीं है कि वह सभी का बहुमत हासिल करें। चुनाव में कई उम्मीदवार खड़े होते हैं, परन्तु सबसे ज्यादा मत प्राप्त करने वाला विजयी होता है,भले ही उसे पड़े मत कुल मतदान का 35 प्रतिशत ही क्यों न हो। इस तरह जनता के बहुमत के बिना ही वे चुनाव जीत जाते है इसलिए उस विजयी प्रतिनिधि को जनता का वास्तवकि प्रतिनिधित्व मानना उचित नहीं है। इतना ही नहीं जो सरकारें बनती है उन्हें कहने के लिए तो बहुमत है परन्तु उनके विरूद्ध पड़े मत उनको प्राप्त मतों की तुलना में लगभग दो गुणा होते है परन्तु फिर भी वह बहुमत के नाम पर सत्ता का सुख भोगता हैं इसी दोषपूर्ण प्रणाली का सहारा लेकर राजनीतिक दल इस प्रकार की नीति अपनाते है जिससे की उनका वोट बैंक तैयार हो जाए उसी केन्द्रित नीति अपनाते है।

21.6.2 राजनीतिक दलों का उद्देश्य केवल सत्ता प्राप्तिः– जयप्रकाश नारायण के अनुसार वर्तमान लोकतंत्र में राजनेता व राजनैतिक दल यद्यपि कहने के लिए वे जन सेवा के लिए राजनीति में आते है और चुनाव लड़ते है केवल और केवल सत्ता प्राप्त करना जिसके लिए वे किसी भी हद तक जा सकते है। चुनावी घोषणा पत्रों के माध्यम से वे बड़े बड़े दावे जरूर करते है परन्तु उन पर खरे नहीं उतरते। चुनावों के समय में वोटो का ध्रुवीकरण कर सत्ता प्राप्त करने की लालसा लोकतंत्र के लिए एक चुनौती है। चुनाव के समय इस प्रकार के मुद्दे राजनीतिक दलों के द्वारा लाए जाते है जिनका जनहितों से कोई सरोकार नहीं होता केवल जनता की भावना को भड़का कर वोट प्राप्त करना चाहते है। इतना होने के बावजूद हर चुनाव में इन राजनीतिक दलों के बहकावे में आती हैं जिस तरह से चुनावों में धन बल का महत्व बढ़ा है जिसका पूरा लाभ औद्योगिक घराने उठा रहे है जो न केवल राजनीतिक दलों को चंदा देने तक सीमित है अपितु अपने हितों की पूर्ति करने

वाली सरकार भी बनाते है इसके लिए सक्रिय होकर पार्टी या व्यक्ति विशेष के पक्ष में वातावरण बनाते है। इस तरह वर्तमान लोकतंत्र कहने के लिए तो जनता के हितों की पूर्ति करने वाला है और सरकारें व जन प्रतिनिधि ऐसा ही दिखाना चाहते है कि वे जनता के लिए समर्पित होकर कार्य करते है परन्तु वे केवल चंद औद्योगिक घरानों के हितों को साधने के लिए ज्यादा गम्भीर होते है। उनका केवल एक ही लक्ष्य होता है, सत्ता को हर कीमत में प्राप्त करना। अधिकांश तथा सत्ता प्राप्त हेतु अपवित्र व अनैतिक साधनों का खुलकर प्रयोग करते है।

21.6.3 जनता की भावना से खेलनाः– जयप्रकाश नारायण के अनुसार वर्तमान लोकतंत्र के अन्तर्गत राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त करने के लिए जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद, साम्प्रदायिकता जैसे तत्वों की मदद लेते है। इन संकीर्ण मुद्दों का सहारा लेकर लोगों में आपसे मतभेद को बढ़ावा देते है ताकि आम जनता इन मुद्दों में उलझकर रह जाए और अपनी हित व विकास के मुद्दों को न उठाए और वही राजनेता व दल सफल है जो कितना प्रभावी ढंग से इस प्रकार के मुद्दों को उठा सकता है। वे इस बात का भूल जाते है। उनके यह कृत राश्ट्रीय एकता अखण्डता के लिए कितने घातक हैं। जनता की भावना से खेलना राजनीतिक दलों के आसान हथियार है और वे चुनाव के समय इसी तरह के मुद्दों को उठाकर सत्ता आसानी से प्राप्त कर लेते है। जनता की भावना से खेलना किसी भी रूप में उचित नहीं हो सकता है।

21.6.4 नैतिक मूल्यों का ह्रासः– लोकतंत्र में नैतिक मूल्यों का होना जरूरी है अर्थात् सत्ता प्राप्ति का साधन पवित्र व नैतिक मूल्यों पर आधारित होना चाहिए परन्तु वर्तमान लोकतंत्र से नैतिक मूल्यों को कोई स्थान नहीं है। यह लोकतंत्र के लिए भ्ाुभ संकेत नहीं है। सत्ता प्राप्ति परम लक्ष्य बन गया है।

21.6.5 राजनीतिक व आर्थिक भाक्तियों का केन्द्रीयकरणः– लोकतंत्र विकेन्द्रीकरण से ओर मजबूत हो सकता है परन्तु वर्तमान लोकतंत्र के तहत राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता के बढ़ते हुए केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति लोकतंत्र व व्यक्ति की स्वतंत्रता दोनो के लिए घातककारी है। बड़े पैमाने पर औद्योगिकीकरण तथा लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा के बाद तो राजनीतिक व आर्थिक केन्द्रीकरण ओर तीव्र गति से बढ़ा है।

राजनीति कुछ लोगों व परिवारों तक सीमित होती जा रही है। वं ावादी राजनीति अपनी चरम सीमा पर है। जो लोकतंत्र की भावना के अनुरूप नहीं हैं। लोकतंत्र तो सभी की भागीदारी की बात करता है। परन्तु इसके विरूद्ध सभी को संसाधनों पर कुछ लोगों का ही नियंत्रण है जिससे आर्थिक केन्द्रीकरण को बल मिल रहा है। इस तरह जयप्रका ा नारायण का यह मानना है कि वर्तमान परिस्थितियां किसी भी रूप में अलग नहीं है जो स्वतंत्रता से पहले भी केवल चेहरे बदले है।

21.6.6 वर्तमान लोकतंत्र में जनता की हिस्सेदारी नहींः– जयप्रका ा नारायण का मत है कि जिस प्रकार वर्तमान लोकतंत्र का आज संचालन किया जा रहा है, उससे पता चलता है कि यह उल्टे पिरामिड की तरह काम कर रहा है, जिसका आधार संकुचित है। "व्यस्क मताधिकार" तथा "हर व्यक्ति को चुनाव में खड़ा होने का अधिकार" से "लोकतंत्र अल्पतंत्र" की स्थापना में सहायक हुई है। इससे लोगो का लोकतंत्र में विश्वास अल्प हुआ। सत्ता में जनता की भागीदारी सुनिश्चित करके ही वर्तमान लोकतंत्र के आधार पर विस्तार किया जाना सम्भव है।

इस तरह जयप्रकाश नारायण ने वर्तमान लोकतंत्र पर कड़ा प्रहार करते हुए उसमें निहित दोषों को स्पष्ट करते हुए व्यापक सुधारों की आवश्यकता पर बल देकर, राजनीतिक दलों की कार्यप्रणाली व सत्ता प्राप्ति की अभिलाषा को लोकतं. के लिए आत्मघाती माना। नैतिकता विहिन लोकतंत्र कभी भी अपने निहित लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकता। जिस तरह चुनाव जीतने के लिए जनता की भावना को भड़का कर संकुचित मुद्दों को ज्यादा महत्व देते है। यह प्रवृत्ति राष्ट्रीय एकता व लोकतंत्र के लिए उचित नहीं है। परन्तु जनता का भड़काने की प्रवृत्ति इसी तरह जारी है।

21.7 सर्वोदयी का दर्शनः–

जयप्रकाश नारायण की पहचान एक ऐसे राजनेता व राजनीतिक चिन्तक के रूप में की जाती है जिन्होंने सर्वोदय के विचारों का प्रबल समर्थक माना जाता है। इस संबंध में उनका मानना था कि समाज के प्रत्येक समूह के उत्थान के बिना विकास की बात नहीं की जा सकती। उन्होंने समाजवाद को सर्वोदय के रूप में बदलने की बात कही और यह कहा कि समाजवाद को सर्वोदय के रूप में बदलने की बात कही और यह कहा कि समाजवाद के प्रमुख लक्ष्य स्वतन्त्रता, समानता व बन्धुत्व को हासिल करने के लिए सर्वोदय के साथ जोड़ना नितान्त जरूरी है। इनके बिना समाजवाद व लोकतंत्र का कोई औचित्य नहीं रह जाता।

जयप्रकाश नारायण गांधीजी जी के सर्वोदय सिद्धान्त से काफी प्रभावित थे। उन्होंने उनके प्रिय शिष्य आचार्य विनोबा भावे द्वारा सर्वोदय के विस्तृत कार्यक्रम में अपना हाथ बढ़ाया। सर्वोदय को आगे बढ़ाने के लिए विनोबा भावे के भूदान ग्राम दल का साथ दिया। सन् 1953 में बोधगया सर्वोदय सम्मेलन में जयप्रकाश नारायण ने सक्रिय राजनीति से सन्यास लेने तथा जीवनदानी के रूप में विनोबाजी के भूदान आन्दोलन से मिलने का फैसला लिया। यहीं से उनकी सर्वोदयी की यात्रा शुरू हुई तथा अगले 22 वर्षों तक इसमें सक्रिय रहे। सर्वोदय के दर्शन को उदय करने में जयप्रकाश नारायण की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उनकी सर्वोदय की निम्नलिखित अवधारणाएँ हैः–

21.7.1 सर्वोदय का दर्शन सभी के उत्थान में विश्वास रखता हैः– सर्वोदयी मतधारा मार्क्सवादी के वर्ग संघर्ष से राजी नहीं है। गांधीजी ने सर्वोदय का मत दिया था। उनका मानना था कि गरीब तथा निर्बलों को भौतिक उत्थान की आवश्यकता है तो पूंजीपतियों हेतु आध्यात्मिक उत्थान जरूरी है। जयप्रकाश नारायण यह मानते है कि समाज में वर्ग संघर्ष से लाया गया बदलाव अस्थाई होता है। जिसका परिणाम सुखद नहीं हो सकता। जब तक सभी का उत्थान नहीं होगा तब तक राज्य व समाज को सशक्त नहीं बनाया जा सकता।

21.7.2 शोषण विहिन समाज की स्थापनाः– जयप्रकाश नारायण शोषण विहिन समाज की आवश्यकता पर बल देते है यदि ऐसा राज्य की मशीनरी के सहयोग से किया जाता है तो अन्त में राज्य हावी हो जाएगा और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन होगा। इसीलिए समाज की स्थापना राज्य के सहयोग से नहीं की जानी चाहिए। समाजवाद की स्थापना आपसी सहयोग से की जा सकती है और उस समाजवाद को जनता का समाजवाद कहा।

21.7.3 ग्रामदान, भूदान, सम्पति दान तथा ग्राम स्वराज्य सर्वोदय की स्थापना की दिशा में कदम हैः– जयप्रकाश नारायण ने एक बार कहा था कि ऊपर से देखने में भूदान आन्दोलन भले ही खेती सुधार आन्दालोन दिखाई देता हो, परन्तु गहराई से देखने पर इसका वास्तविक स्वरूप सामने आता है। यह वास्तव में सर्वनोन्मुखी सामाजिक तथा मानवीय क्रांति का प्रारम्भ है। जयप्रकाश जी ने आगे कहा कि सर्वोदय के माध्यम से समाज के साथ–साथ समाज में भी बदलाव लाया जाता है। यह गांधी जी की क्रांति की अहिंसक तकनीक का व्यापक स्तर पर प्रयोग है।

सर्वोदय समाज की स्थापना की दिशा में "ग्राम स्वराज्य" अन्तिम प्रयत्न है। ग्राम स्वराज्य पंचायत नहीं है बल्कि यह स्व–विकसित, आत्मनिर्भर तथा पूर्ण सत्ता सम्पन्न ग्रामीण इकाई है। इस प्रकार जब तक समाजवाद को सर्वोदय के रूप में परिवर्तित नहीं किया जाता हैं, तब तक समानता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व व शोषण से मुक्ति के उद्देश्यों को हासिल नहीं किया जा सकेगा।

21.7.4 सर्वोदय समाज का सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचा कठिन नहींः– सर्वोदय के अन्तर्गत पुनर्गठित ग्रामीणों को सामाजिक, आर्थिक ढाँचा सरल होगा, ऐसा जयप्रकाश नारायण का मानना था। आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण इसका आधार है। हर ग्रामीण स्व–शासित, आत्म निर्भर तथा पूर्ण सत्ता सम्पन्न होगा। इस तरह इन गांवों में उत्पन्न कृषि उत्पादकों पर आधारित कुटीर उद्योगों की स्थापना की जाएगी।

21.7.5 राजशक्ति की जगह लोकशक्ति लेगीः– जयप्रकाश नारायण ने सर्वोदय के तहत प्रस्तावित नए समाज के अन्तर्गत राजशक्ति की जगह लोकशक्ति की स्थापना का समर्थन किया। लोकशक्ति के माध्यम से लोकतंत्र व समाजवाद को सशक्त बनाया जा सकता है।

निष्कर्षः– इस प्रकार कहा जा सकता है कि जयप्रकाश नारायण के सर्वोदय संबंधी विचार उनके उदारवादी विचार का सार है। मार्क्सवाद से शुरूआत होकर उनकी राजनीतिक यात्रा सर्वोदय तक पहुंचती है। सर्वोदय की धारणा का गांधी जी ने पैदा किया। विनोबा जी ने उसकी रूपरेखा प्रस्तुत की तथा जयप्रकाश नारायण ने उसका एक सम्पूर्ण दर्शन तथा जीवन पद्धति के रूप में व्याख्या प्रस्तुत की।

21.8 भारतीय लोकतंत्र को सशक्त बनाने हेतु सुझावः–

जयप्रकाश नारायण ने भारतीय लोकतंत्र में निहित दोषों का न केवल उल्लेख किया अपितु यह सुझाव दिया कि भारतीय लोकतंत्र को किस प्रकार सशक्त बनाया जा सकता है। जयप्रकाश नारायण के अनुसार शासन वहीं श्रेष्ठ है जो जन भावना के अनुरूप हो और लोकतंत्र में जनभावना का सर्वोच्च स्थान हे। जिसकी अनदेखी किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसीलिए भारतीय लोकतंत्र के सन्दर्भ में व्यापक बुनियादी बदलाव लाने हेतु सुझाव दिये।

21.8.1 सत्ता का विकेन्द्रीकरणः– जयप्रकाश नारायण किसी भी रूप में सत्ता के केन्द्रीकरण को स्वीकार नहीं करते हे। इसीलिए सत्ता के विकेन्द्रीकरण का सुझाव दिया। उनका मानना था कि जब तक शासन, सत्ता में आम लोगों की ज्यादा से ज्यादा भागीदारी नहीं होगी तब तक लोकतंत्र की सुखद अनुभूति आम लोगों को नहीं होगी। जयप्रकाश नारायण ने गांव को सबसे निचली इकाई माना है। इस तरह पंचायत राज की नींव रखने की आवश्यकता पर बल दिया। साथ राजनीतिक दलों को सुझाव दिया कि उन्हें स्थानीय शासन में हस्तक्षेप या भाग नहीं लेना चाहिए। पंचायती राजव्यवस्था को मजबूत बनाने के लिए निम्न सुझाव दियेः–

1. प्रत्येक स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के पास पर्याप्त मात्रा में फंड (कोष) होना चाहिए। बिना वित्तिय सुविधाओं के सत्ता देने का कोई औचित्य नहीं है।
2. विधि स्तरों पर पंचायतों को सत्ता तथा शक्ति जनता से मिलनी चाहिए न कि सरकार से। अन्यथा यह संस्थाएं सरकार के हाथों की कटपूतली बन कर रह जाएगी और जिस उद्देश्य प्राप्ति के लिए इनकी स्थापना की जा रही है वह उद्देश्य प्राप्त नहीं किया जा सकता।
3. पंचायतों में कार्यरत कर्मचारी पंचायतों के नियन्त्रण में होना चाहिए। यदि यह कर्मचारी सरकार के नियन्त्रण में रहेंगे तो स्थानीय स्तर पर शक्ति के दो केन्द्र बन जाएंगे। एक पंचायतों के प्रतिनिधि वही दूसरी ओर सरकारी कर्मचारी जो सदैव राज्य के हितों के प्रति ज्यादा गम्भीर रहेगें, परिणामस्वरूप इन निकायों में टकराव की स्थिति पैदा होगी।
4. पंचायत कार्यक्रम में सहयोग देने व पंचायतों के द्वारा किये जा रहे कार्यो का मूल्यांकन के लिए एक गैर राजनीति स्वाशासी निकाय होनी चाहिए जो सरकारी नियन्त्रण से मुक्त रहे।
5. लोकतंत्र की सबसे निचली सीढ़ी ग्राम सभा होनी चाहिए न कि ग्राम पंचायत।
6. स्थानीय निकाय के चुनाव गैर राजनीति होनी चाहिए अर्थात् राजनीतिक दलों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।
7. उच्च स्तर पर वास्तविक ताकत ग्राम सभी तथा पंचायतों को दी जानी चाहिए तथा जिला परिषद में जिला कलेक्टर राज्य सरकार के प्रतिनिधि के रूप में बैठे, परन्तु उसे वास्तविक शक्ति नहीं होनी चाहिए।

21.8.2 विधान सभा तथा लोकसभा चुनाव क्षेत्रों के स्तर पर बदलावः– जयप्रकाश नारायण ने लोकसभा तथा विधानसभा चुनाव क्षेत्रों के स्तर पर भी सुधार हेतु सुझाव दिये है। उनका मत है कि यदि उच्च स्तर पर केन्द्रीयकरण करना है तो ग्रामीण समुदायों की स्वायतता को बनाये रखना होगा। जयप्रकाश नारायण ने यह सुझाव दिया कि लोकसभा तथा विधानसभा क्षेत्रोंके अन्तर्गत आने वाली पंचायते अपने दो प्रतिनिधि चुने जिसमें से एक लोकसभा तथा दूसरा विधानसभा का प्रतिनिधि हो। घोषित उम्मीदवार को कुल मतों का 30 प्रतिशत मत प्राप्त करना अनिवार्य होगा। इस तरह जयप्रकाश नारायण ने लोकसभा व विधानसभा का चुनाव जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से पंचायतों से करवाने पर बल दिया। जिससे पंचायतें राजव्यवस्था की प्रमुख कड़ी बन सकेगी तथा निर्णय की स्थिति में होगी तथा राजनीतिक दलों का भी हस्तक्षेप अपेक्षाकृत कम हो जाएगा क्योंकि दलीय लोकतंत्र में उम्मीदवारों का चयन दल के आधार पर किया जाता है। जो जयप्रकाश नारायण के अनुसार लोकतंत्र के लिए उचित नहीं है।

21.8.3 आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरणः– जयप्रकाश नारायण केवल राजनीतिक विकेन्द्रीकरण तक सीमित नहीं थे अपितु आर्थिक विकेन्द्रीकरण को भी आवश्यक मानते है। राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण से आर्थिक विकेन्द्रीकरण का मार्ग प्रशस्त होगा। आत्मनिर्भर तथा स्वशासी ग्रामीणें हेतु जिस तरह की अर्थव्यवस्था की जरूरत होगी, उसे भारी उद्योगों की बजाए लघु व कुटीर उद्योगों की आवश्यकता होगी। जिससे हमारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होगी तथा गांवों में रोजगार के अवसर बढ़ेगें।

21.8.4 दलविहिन लोकतंत्रः– जयप्रकाश नारायण के अनुसार वर्तमान लोकतंत्र का एक गम्भीर दोष दल प्रणाली है। इसके कार्य दलीय प्रधानता की स्थिति पैदा हो गई है और लोगों की वास्तविक हिस्सेदारी समाप्त हो गई है। जनता व सरकार के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क समाप्त हो गया है। जनता के प्रतिनिधियों का चुनाव राजनीतिक दलों के आधार पर किया जाता है और मतदाता इन उम्मीदवारों में से किसी एक को विजय बनाते है। इस तरह ये उम्मीदवार जनता के प्रतिनिधि न होकर दल का प्रतिनिधि होता है। जयप्रकाश नारायण के अनुसार "राजनीतिक दल–प्रणाली में लोगों की दशा उन भेड़ों के समान बना दी है जिनका सिर्फ मात्र कार्य निर्धारित समय के पश्चात् गड़रियों का चुनाव करना है जो उनके फायदे की देखभाल करेंगें।"

जयप्रकाश नारायण जी दलविहिन लोकतंत्र की स्थापना करना चाहते थे। उनका मानना है कि दलीय प्रणाली के चलते भ्रष्टाचार व अनैतिकता का जन्म हुआ है। लोग अपने वर्चस्व की स्थापना के लिए एक दूसरे के प्रति हर वैध व अवैध कार्यों में लिप्त है। उनका केवल एक ही लक्ष्य है अपने प्रतिद्वंदी को पूरी तरह समाप्त करना।

जयप्रकाश नारायण ने अपने दल विहिन लोकतंत्र के मत को मूर्त रूप देने के लिए एक योजना प्रस्तुत की। इस योजना में लोग अपने प्रतिनिधियों का चुनाव सबकी सहमती से करेंगें। पंचायत या ग्राम मण्डल में हर परिवार से एक प्रतिनिधि होगा। यही मण्डल की गांव से संबंधित सभी मामलों में निर्णय लेगा। यह ग्राम मण्डल पंचायत चुनाव करेगी। ग्राम पंचायत थाना पंचायत का चुनाव, थाना पंचायत जिला परिषद, जिला परिषद, प्रादेशिक पंचायत (विधानसभा) तथा केन्द्रीय पंचायत (संसद) का चुनाव करेंगें। इन पंचायतों का चुनाव सर्वसहमति से होगा। राजनितिक दलों को इन चुनावों से पूरी तरह से अलग रखा जाएगा तथा वे सर्वोदय समाज की स्थापना में मदद करेंगें। विधानसभा व लोकसभा मं राजनीतिक दलों की तटस्थता होनी चाहिए। उम्मीदवार भले ही राजनीतिक दलों के उम्मीदवार के रूप में विधानसीाा व लोकसभा का चुनाव लड़े परन्तु चुनाव जीतने के पश्चात् राजनीतिक दल से उनका कोई वास्ता नहीं होगा क्योंकि वे सदन में एक जनता के प्रतिनिधि की हैसियत से है न कि दल के प्रतिनिधि के रूप में।

21.9 जयप्रकाश नारायण के सम्पूर्ण क्रांति का स्वरूपः–

जयप्रकाश नारायण ने छात्र शक्ति के महत्व को पहचनाते हुए उन्हें एक साल तक अपनी पढ़ाई छोड़कर सम्पूर्ण क्रांति में समर्पित होने का आह्यवान किया। उनका सम्पूर्ण क्रांति का आन्दोलन भारत छोड़ो आन्दोलन की तर्ज पर था। सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए जयप्रकाश नारायण ने कहा, "सम्पूर्ण क्राति एक ऐसी व्यापक क्रांति है जिसके अन्तर्गत–सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक क्रांन्तियां शामिल है। यह संख्या जरूरतों के अनुसार अल्प अथवा ज्यादा भी हो सकती है।" उन्होंने आगे कहा कि सत्ता बदलाव हमारा उद्देश्य नहीं है परन्तु यह जरूरी व समय की मांग है कि जब हमारे प्रतिनिधी भ्रष्टाचार, असभ्यता तथा भाई–भतीजावाद के शिकार हो तो उन्हें सत्ता से हटा देना ही उचित है।" इसके पश्चात् व्यक्ति तथा समाज में बदलाव हेतु कार्य करना होगा।

राजनीति स्तर पर बदलावः– जयप्रकाश नारायण ने राष्ट्र में राजनीतिक स्तर पर बदलाव लाने हेतु निम्नलिखित सुझाव दिएः–

1) केन्द्र व राज्यों में लोकपाल जैसे स्वशासी संस्था की स्थापना हो जो सार्वजनिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार के मामलों में कार्यवाही कर सके। इस संस्था में अधिक से अधिक 05 सदस्यीय संस्था बनाने का सुझाव दिया।

2) चुनाव खर्चीले न हो तथा प्रशासन जनता के नजदीक हो।

21.10 अभ्यास प्रश्नावलीः–

1. मार्क्सवाद पर जयप्रकाश नारायण के विचार स्पष्ट कीजिए।
2. जयप्रकाश नारायण के लोकतंत्र पर विचारों का उल्लेख कीजिए।
3. भारतीय लोकतंत्र के सन्दर्भ में जयप्रकाश नारायण के सुधारवादी सुझावों की व्याख्या कीजिए।
4. सर्वोदय दर्शन क्या है? इस पर जयप्रकाश नारायण के विचारों पर प्रकाश डालिए।